श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

षष्ठोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० केवलरीलाइन्स

इलाहाबाद—४

प्रकाशक :

प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०

बिहार इंजिनियरिंग कॉलेज

पटना—५ (बिहार)

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य

आचार्य मुद्रणालय

कर्णघण्टा, वाराणसी-१

भाषान्तरकर्त्री :

भारती बोस, एम. एस-सी.

पटना

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली, ५० शिवकुटी, इलाहाबाद-४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्र
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना (बिहार)

७—डॉ० मदन मोहन
रमा आई हौस्पिटल,
१० कान्वैंट रोड, देहरादून

८—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

९—श्रीमती माधवी कर, बी. ए.
द्वारा सिविल सर्जन, मिर्जापुर

१०—श्री एस. सी. मित्र, १४ बी० तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे कॉलोनी, दिल्ली

११—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर, बिजनौर

विज्ञप्ति

परमहंसपरिव्राजकाचार्यदण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द सरस्वती महाराज प्रणीत 'गीतामृतमञ्जूषा' का यह षष्ठ अध्याय प्रकाशित हो रहा है। गीता में षष्ठ अध्याय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये समस्त साधनों का रहस्य निचोड़ कर श्रीभगवान् ने इस अध्याय में रख दिया है। स्वामीजी महाराज ने इसलिये इस अध्याय की विस्तृतरूप से व्याख्या की है। आशा है पाठकवर्ग इस व्याख्या से तथा साधनक्रम का जिस प्रकार स्पष्टरूप से निर्देश किया गया है उससे बहुत ही लाभान्वित होंगे।

पूर्व अध्याय में गीतामण्डली ने जिन जिनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश की है उन उनके प्रति इस अध्याय में भी गीतामण्डली कृतज्ञता प्रकाश कर रही है। जिन महानुभाव पुरुष की निःस्वार्थ सहायता से पूर्ववर्ती अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ था इस अध्याय का मुद्रणादि कार्य भी उनकी सहायता से ही सम्पन्न हुआ है। अतः गीतामण्डली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

गंगादशहरा
ता० १४–६–१९७०

श्री निशीथ कुमार तरफदार बी.ई.
सहायक सचिव, गीतामण्डली,
इलाहाबाद।

श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

षष्ठोऽध्यायः

ध्यानयोगः

भाष्यभूमिका

यथार्थ ज्ञान का अन्तरंग साधन है ध्यानयोग। "स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्" इत्यादि तीन श्लोकों के द्वारा पूर्वाध्याय के (पंचम अध्याय के) अन्त में इस ध्यानयोग के सम्बन्ध में सूत्र के रूप से उपदेश दिया गया है। इन श्लोकों की व्याख्या के लिये षष्ठाध्याय प्रारम्भ किया गया है। परन्तु ध्यानयोग का बहिरंग साधन है कर्म। अतः गृहस्थ यावत् इस ध्यानयोग में आरोहण करने में असमर्थ रहता है तावत् वह कर्मयोग का ही अधिकारी रहता है, अत एव तब तक गृहस्थ के लिए कर्म करना ही कर्तव्य है। इसलिये षष्ठाध्याय के प्रारम्भ में ही कर्मानुष्ठान की प्रशंसा की गई है।

पूर्वपक्ष—अच्छा, ध्यानयोग में आरोहण करने तक ही कर्मयोग का सीमाकरण क्यों किया गया है ? क्योंकि आजीवन (सारा जीवन) तो विहित कर्मों का अनुष्ठान करना ही उचित है।

उत्तरपक्ष – नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि आरुरुक्षु योगी के लिए (अर्थात् जो मननशील व्यक्ति योगारूढ़ होने के इच्छुक हैं उनके लिए) कर्म करना ही कर्तव्य है, ऐसा विशेष रूप से कहा गया है तथा योगारूढ़ योगी का केवल उपशम के (सर्वकर्मनिवृत्ति के) साथ ही सम्बन्ध बतलाया गया है (गीता ६।३)। [योगारूढ़ सभी कर्मों से उपशम को प्राप्त होता है (सर्व कर्मसे

निवृत्त होता है तथा योगारोहण के इच्छुक व्यक्ति कर्मानुष्ठान करेंगे, इस तरह शम (कर्मनिवृत्ति) के तथा कर्मानुष्ठान के अधिकारियों में भेद रहने के कारण आरुरुक्षु योगी का कर्मानुष्ठान योगारूढ़त्व में ही अर्थात् योगारूढ़ होने से ही पर्यवसित हो जाता है (शेष होता है), ऐसा कहना युक्तिसंगत ही है।] और यदि आरुरुक्षु तथा आरूढ़ योगी दोनों के लिये ही, शम तथा कर्म को कर्तव्य के रूप से निर्धारित करना भगवान् के कहने का अभिप्राय होता तब ऐसा कहना कि आरुरुक्षु के लिए कर्मानुष्ठान एवं आरूढ़ योगी के लिए सर्वकर्म-संन्यास रूप शम कर्तव्य है इस प्रकार भिन्न-भिन्न विशेषण देना तथा उनमें परस्परों में भेद दिखाना व्यर्थ ही होगा।

पूर्वपक्ष—गृहस्थाश्रम में जो लोग निवास करते हैं उन लोगों में कोई-कोई योगारूढ़ होने की इच्छा करते हैं तथा कोई-कोई योग में आरूढ़ भी हो जाते हैं, परन्तु ऐसे भी अन्य लोग हैं जो आरूढ़ भी नहीं हैं तथा आरुरुक्षु भी नहीं हैं। ऐसे साधारण श्रेणी के लोगों (अर्थात् आरुरुक्षु ही नहीं है, आरूढ़ होना तो दूर की बात है ऐसे लोगों) की अपेक्षा करके ही आरुरुक्षु तथा आरूढ़ ऐसा विशेषण देना तथा उनका विभाग दिखाना युक्तियुक्त है, ऐसा यदि कहूँ ?

उत्तरपक्ष—नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उस श्लोक में "तस्यैव" इस पद का प्रयोग किया गया है तथा "योगारूढस्य" इस पद में योग शब्द का पुनः ग्रहण किया गया है। ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि जो पहले आरुरुक्षु (योग में आरोहण करने को इच्छुक) थे वे ही जब योग में आरूढ़ हुए हैं तब उन योगारूढ़ के योग-फल की प्राप्ति के लिये शम ही कारण है (अर्थात् शमता ही कर्तव्य है) ऐसा बताया गया है। अत एव किसी भी कर्म के लिये यावज्जीवन कर्तव्यता की प्राप्ति नहीं हो सकती है अर्थात् समस्त जीवनपर्यन्त किसी कर्म का अनुष्ठान करना पड़ेगा ऐसा नियम (विधान) हो नहीं सकता है। इसके अतिरिक्त मुमुक्षु योग से विभ्रष्ट होते हैं ऐसा वर्णन षष्ठाध्याय में किया गया है (गीता ६।३७-३८) इसके द्वारा भी यही सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि यदि कर्म के अधिकारी गृहस्थ के लिये भी षष्ठाध्याय में वर्णित योग विहित हो, तो उस योग से भ्रष्ट होने से भी कर्मों की गति अर्थात् कर्म के अनुसार फल की तो प्राप्ति होगी ही। अतः उनका नाश होगा ऐसी आशंका युक्तियुक्त नहीं होती क्योंकि मोक्ष (अर्थात् ब्रह्मभाव) नित्य (स्वतःसिद्ध) होने के कारण कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। [कर्म काम्य होगा (अर्थात् किसी

इच्छित विषय की प्राप्ति के लिये होगा) और नहीं तो नित्य या नैमित्तिक (कर्म) होगा । किन्तु] काम्य या नित्य कर्म अनुष्ठित होने से वह अपने फल (समय के अनुसार) अवश्य ही देने शुरू करेंगे अर्थात् योग-भ्रष्ट होने से भी कर्म के अनुसार फल अवश्य ही भोग करना पड़ेगा । नित्य कर्म भी वेद-प्रमाण के द्वारा विज्ञात होता है । (वेद का विधान किसी प्रकार निरर्थक नहीं हो सकता है) । अत एव वे भी (अर्थात् नित्य कर्म भी) अवश्य ही फलदायक होते हैं । नहीं तो वेद को निरर्थक मानने का प्रसंग उपस्थित होता है, यह पहले ही कहा गया है । नित्य कर्म या काम्य कर्म के अनुष्ठानकारी के विभ्रंश का कोई हेतु नहीं क्योंकि उस कर्म का फल अवश्यम्भावी है । कर्मों के नाशक किसी हेतु की सम्भावना न होने के कारण कर्मों में रहते हुए (तथा साथ-साथ कर्म का फल भी वर्तमान रहते हुए) गृहस्थ को उभय-भ्रष्ट कहना [अर्थात् ज्ञान तथा कर्म (अर्थात् कर्मफल) इन दोनों से वह विभ्रष्ट अर्थात् नाश को प्राप्त होता है (गीता ६।३८) ऐसा कहना] युक्ति-संगत नहीं हो सकता ।

पूर्वपक्ष—यदि कहूँ कि मुमुक्षु (निष्काम रूप से) ईश्वर में समर्पण कर सभी कर्मों को करते हैं । अतः (कर्म-फल भी ईश्वर में समर्पित होने के कारण) ऐसे अनुष्ठानकारी के कोई कर्मफल का आरम्भ नहीं होता है । इस कारण से ऐसे मुमुक्षु योगभ्रष्ट होने पर ज्ञान तथा कर्मफल इन दोनों से विभ्रष्ट होते हैं, ऐसा कहा गया है ।

उत्तरपक्ष—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि (जैसे जागतिक विषयों में देखा जाता है कि राजा को पूजा करने की बुद्धि से जो धन-धान्यादि अर्पित किये जाते हैं उसके विनिमय में राजा की कृपा से दाता को बहुत कुछ प्राप्त होता है उसी प्रकार) ईश्वर में अर्पित कर्म और भी अधिक फल देने वाला होता है ऐसा मानना ही युक्तिसंगत है । अतः ईश्वर में समर्पण करके कर्म करने से उससे भ्रंश का (अर्थात् कर्मफल से वंचित होने का) कोई कारण नहीं रह सकता ।

पूर्वपक्ष—किन्तु यदि कहूँ कि मुमुक्षु ईश्वर में अर्पण कर जो स्वधर्म-विहित कर्मों का अनुष्ठान योगसहित (समत्व बुद्धि सहित) करते हैं वे केवल मोक्षलाभ के लिये ही करते हैं, दूसरे किसी फल की आकांक्षा कर नहीं करते हैं । अतः उस योग से [अर्थात् समत्व से] भ्रष्ट होने से उनके (उन योगी के) लिए जो नाश की आशंका की गयी है वह तो ठीक ही है ।

उत्तरपक्ष—नहीं, ऐसी युक्ति भी ठीक नहीं है क्योंकि गीता में

अन्यत्र "एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः" (गीता ६।१०), "ब्रह्मचारिव्रते स्थितः" (गीता ६।१४) इत्यादि वचनों के द्वारा कर्म संन्यास (कर्मत्याग) का विधान किया गया है। ये दोनों गृहस्थ धर्म के अनुकूल नहीं है। अत एव सभी को ही यावज्जीवन कर्म करना पड़ेगा ऐसा कोई नियम नहीं है। अतः कर्मानुष्ठान का विधान गृहस्थ को लक्ष्य करके ही किया गया है। एकाकी यतचित्तात्मा होकर ध्यान करने के समय स्त्री की सहायता की किसी प्रकार आशंका हो नहीं सकती है (अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म करने के समय जिस प्रकार स्त्री की सहायता आवश्यक होती है उसी प्रकार एकाकी ध्यान करने के समय स्त्री की सहायता आवश्यक नहीं होती है) अतः गृहस्थ के लिये ध्यान करने के समय पृथक् रूप से एकाकित्व का विधान करना निरर्थक है। [अर्थात् ध्यान रूप कार्य में स्वभावतः ही पत्नी की सहायता का प्रयोजन न रहने के कारण अप्राप्त विषय का प्रतिषेध (निषेध) कर 'एकाकित्व' का विधान करना निरर्थक होता है। अतः गृहस्थ के लिये कर्मत्याग कर एकाकी होकर इस प्रकार ध्यान करने का विधान नहीं किया गया है।] उसके अतिरिक्त "निराशीरपरिग्रहः" (कामनाशून्य तथा परिग्रहशून्य) इत्यादि (गीता ६।१०) वचन भी गृहस्थ के लिये अनुकूल नहीं हैं अतः कर्मनिष्ठ गृहस्थ के लिये उभय विभ्रष्ट प्रश्न की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती हैं। [गृहस्थ यदि ध्यानयोग के साथ ईश्वरार्पण बुद्धि से विहित कर्मों का अनुष्ठान करे तो वे कर्म मोक्ष-भिन्न अन्य किसी फल का हेतु नहीं होते हैं ऐसी कल्पना करना संगत नहीं है क्योंकि ऐसी कल्पना के अनुकूल कोई भी प्रमाण नहीं है। (आनन्दगिरि)]

पूर्वपक्ष—"अनाश्रितः कर्मफलम्" (गीता ६।१) इत्यादि श्लोक से यह सिद्ध होता है कि कर्तव्य कर्म के अनुष्ठानकारी को ही संन्यासी तथा योगी कहा गया है, अग्निरहित तथा क्रियारहित के संन्यासित्व तथा योगित्व का निषेध किया गया है। (अतः गृहस्थ के लिये ही योगविधान किया गया है एवं गृहस्थ ही योगभ्रष्ट होकर नाश को प्राप्त होते हैं, ऐसा यदि कहूँ ?)

उत्तरपक्ष—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि ध्यानयोग का बहिरंग साधन है कर्मयोग (फलाकांक्षा रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से विहित कर्मों का अनुष्ठानरूप कर्मयोग)। [इस प्रकार कर्म से चित्तशुद्धि प्राप्त होने से ही चित्त में स्थिरता सम्पादन कर ध्याननिष्ठ होना सम्भव होता है।] ६।१ श्लोक में इस प्रकार कर्म की फलाकांक्षा के त्याग को ही संन्यासित्व तथा योगित्वरूप से प्रशंसित किया गया है। उक्त श्लोक में कहने का

अभिप्राय यह है कि केवल अग्निरहित (गार्हपत्याहवनीयान्वाहार्यपचन प्रभृति अग्निरहित) तथा निष्क्रिय (क्रियारहित) व्यक्ति ही योगी तथा संन्यासी नहीं हैं किन्तु कोई भी कर्मी (अर्थात् शास्त्रविहित कर्म में निष्ठावान् गृहस्थ) यदि कर्मफल तथा कर्म में आसक्ति (कर्तृत्वाभिमान) का त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्मयोग में स्थित रहे तो वह भी संन्यासी तथा योगी है। इस प्रकार कर्मयोगी की स्तुति की गयी है। एक ही वाक्य के द्वारा कर्मफल में आसक्तित्यागरूप संन्यास की स्तुति तथा चतुर्थाश्रम का (अर्थात् संन्यासाश्रम का) प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है (क्योंकि तब वाक्यभेद का प्रसंग उपस्थित होगा)।

इसके अतिरिक्त अग्निरहित तथा क्रियारहित वास्तविक संन्यासी का संन्यासित्व तथा योगित्व, जो कि श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास तथा योगशास्त्र से विहित है (अतः जो संन्यासित्व तथा योगित्व सभी कालों में प्रसिद्ध है) उसका भगवान् प्रतिषेध नहीं कर रहे हैं क्योंकि इससे भगवान् ने अन्यत्र जिन वचनों को स्वयं कहा है उनके साथ विरोध उपस्थित हो जायगा। जैसे सर्व कर्मों को मन के द्वारा त्याग कर (गीता ५।१३) 'स्वयं कुछ नहीं करके अथवा अन्य के द्वारा कुछ भी नहीं कराके स्थित रहते हैं' (गीता ५।१३), मौन रहकर जो कुछ प्राप्त होता है उसी में ही सन्तुष्ट हैं (गीता १२।१९), 'गृह या आश्रय से रहित हैं किन्तु स्थिरबुद्धि है' (गीता १२।१९), 'जो पुरुष सभी कामनाओं का त्याग कर निस्पृह रूप से विचरण करते हैं' (गीता २।७१), 'समस्त आरम्भों का त्याग कर' (गीता १२।१६,१४।२५), इस प्रकार विभिन्न स्थानों में भगवान् ने जिन वचनों को स्वयं कहा है उन वचनों के साथ यदि चतुर्थाश्रम का (संन्यासाश्रम का) प्रतिषेध किया जाय तो विरोध होगा। अतः यह सिद्ध होता है कि गृहस्थाश्रम में स्थित मुनि अर्थात् मननशील पुरुष योगारूढ़ होने की इच्छा कर अग्निहोत्रादि नित्य नैमित्तिक कर्मों का (फल की आकांक्षा न कर) यदि अनुष्ठान करें तो उन कर्मों के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर ध्यानयोग में आरूढ़ होने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। वे कर्मफल का त्याग करने के कारण 'संन्यासी' हैं एवं वासनाओं के अभाव से उनका चित्त विक्षेपशून्य होने के कारण वे योगी हैं, ऐसा कहकर कर्मयोग की स्तुति (प्रशंसा) की जा रही है। [अर्थात् जब तक योगारूढ़ न हों तब तक कर्म हेय या परित्याज्य नहीं है, यह कहने के उद्देश्य से कर्मयोग की प्रशंसा की गयी है।]

(भाष्यभूमिका समाप्त)

[योग साधन के विना चित्त स्थिर नहीं होता है। योग दो प्रकार के होते हैं—(क) कर्मयोग तथा (ख) ध्यानयोग। कर्मफल की आशा न कर कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से श्रद्धापूर्वक करने का नाम है कर्मयोग। कर्मयोग ज्ञान का बहिरंग साधन है। कर्मयोग के सम्बन्ध में तृतीय अध्याय में विस्तृत रूप से कहा गया है। ध्यानयोग ज्ञान का अन्तरंग साधन है किन्तु कर्मयोग का अभ्यास नहीं करने से चित्तशुद्धि नहीं होती है अर्थात् कामना, वासनाओं का नाश नहीं होता है। चित्तशुद्धि नहीं होने से विवेक-वैराग्य तथा विचार शक्ति प्रबल नहीं होती है। विचारशक्ति प्रबल होने से ही शास्त्र तथा गुरु के उपदेश का श्रवण तथा मनन के द्वारा परमात्मा के स्वरूप का परोक्ष-ज्ञान होता है एवं वह स्वरूप ही, तब ध्यान का अवलम्बन होता है। चित्त ही असंख्य वृत्तियों के द्वारा सर्वत्रावस्थित परमात्मा को आवरण कर जगद्रूप चित्रजाल दिखा रहा है। ध्यान का अभ्यास नहीं करने से चित्त स्थिर नहीं होता है और चित्त स्थिर नहीं होने से परमात्मा प्रकाशित नहीं होते हैं अर्थात् तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता है। जब तक पूर्व संस्कार के कारण चित्त की चंचलता (विक्षेप) रहेगी तब तक निष्काम कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर ध्यान का अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है। किस उपाय से चित्त की स्थिरता प्राप्त हो सकती है उसे पंचम अध्याय के अन्त में (२७,२८ तथा २९ श्लोकों में) सूत्र के रूप से कहा गया है। षष्ठाध्याय में उसे ही विस्तृत रूप से वर्णित किया जा रहा है-]

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

अन्वयः—कर्मफलम् अनाश्रितः कार्यम् कर्म यः करोति सः संन्यासी योगी च न निरग्निः न च अक्रियः।

अनुवाद—जो कर्मफल की अपेक्षा न कर अवश्य कर्तव्यरूप से विहित कर्म को करते हैं वे ही संन्यासी हैं तथा वे ही योगी हैं। केवल अग्निहोत्रादि श्रौत (वेदविहित) कर्म का जो त्याग किये हैं एवं अग्निनिरपेक्ष (जिस कर्म में अग्नि का प्रयोजन नहीं होता है ऐसा) तपोदानादि स्मार्त (स्मृतिशास्त्रविहित) कर्म का जो त्याग किये हैं वे ही संन्यासी तथा योगी हैं ऐसा नहीं मानना चाहिए।

भाष्यदीपिका—कर्मफलम् अनाश्रितः—कर्म के फल के लिये तृष्णा-रहित होकर अर्थात् कर्मफल की अपेक्षा न कर जो कर्मफल के लिये

तृष्णावान् हैं वे ही कर्मफल का आश्रय लेते हैं। ये योगी उनसे विपरीत हैं अतः वे कर्मफल को आश्रय (अवलम्बन) कर कर्म नहीं करते हैं। ऐसा होकर कार्यं कर्म—कर्तव्य कर्मों को [अर्थात् काम्य कर्मों से विपरीत नित्य कर्तव्य अग्निहोत्रादि कर्मों को [जैसे—संध्या, उपासना, अतिथिसेवा, अग्नि-होत्रादि शास्त्रविहित कर्मों को] सर्वभूतों की अन्तरात्मा तथा सुहृद् परम पुरुष की आराधना के रूप से करना ही मेरा कर्तव्य है ऐसी बुद्धि से यः करोति—जो कोई ऐसा कर्म पूरा करते हैं [वे दूसरे सकाम कर्मी की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं इसी अभिप्राय से भगवान् कह रहे हैं] सः संन्यासी च योगी च—वे संन्यासी भी हैं और योगी भी हैं। [संन्यासशब्द का अर्थ है परित्याग। जो सभी कर्मों का तथा कर्मों के फल का परित्याग किये हैं उन्हें संन्यासी कहा जाता है। योग शब्द का अर्थ है चित्त का समाधान अर्थात् चित्त में विक्षेप का अभाव। जिनके चित्त में विक्षेप नहीं है अर्थात् जिनका चित्त कामना-वासनाओं से दोलायमान न होकर स्थिर रहता है उन्हें योगी कहा जाता है। कर्मयोगी को भी कर्मफल की तृष्णा का संन्यास (त्याग) करने के कारण गौणरूप से (सकाम कर्मी की अपेक्षा से) संन्यासी कहा जा सकता है तथा फल की तृष्णा से रहित होने के कारण उनके चित्त का विक्षेप नहीं हो सकता है, इसलिये उन्हें गौणरूप से योगी भी कहा जा सकता है।] न निरग्निः न च अक्रियः—अग्नि से साध्य (अनुष्ठान-योग्य वैदिक यज्ञादि कर्मों के अंगभूत गार्हपत्यादि अग्नि का जो त्याग किये हैं उन्हें निरग्नि कहा जाता है। अग्नि के विना ही होनेवाली (स्मृति शास्त्रा-नुमोदित) तपः दान इत्यादि क्रियाओं का अनुष्ठान जो नहीं करते हैं उनको 'अक्रिय' कहा जाता है [मधुसूदन सरस्वती कहते हैं "अक्रियः" शब्द का अर्थ यदि 'सर्व कर्म-संन्यासी' माना जाय तब तो "निरग्निः" शब्द निरर्थक होता है। इसलिये अग्नि शब्द को सभी कर्मों का उपलक्षण (ज्ञापक) मानकर 'निरग्निः' इस पद के द्वारा संन्यासी को (सर्वकर्मत्यागी को) तथा क्रियाशब्द को चित्तवृत्ति का उपलक्षण मानकर 'अक्रियः' इस पद के द्वारा, जो चित्तवृत्ति को निरुद्ध किये हैं वैसे योगी को समझाया जा रहा है इस प्रकार अर्थ करना चाहिए।] 'निरग्नि' तथा 'अक्रिय' शब्द मुख्य रूप से संन्यासी को लक्ष्य करके ही कहा जाता है क्योंकि गृहस्थाश्रम में विहित कर्मों का सुचारु रूप से अनुष्ठान करने से चित्तशुद्धि जब प्राप्त होती है एवं उसके पश्चात् तत्त्वज्ञान प्राप्ति की तीव्र इच्छा का उदय होता है (अर्थात् तीव्र मुमुक्षुत्व जागृत होता है) तब साधक विविदिषा संन्यास ग्रहण करते हैं।

उसी अवस्था में मुमुक्षु संन्यासी श्रौत तथा स्मार्त सभी अग्नि-साध्य कर्मों का परित्याग कर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा (ज्ञानयोग से) केवल आत्मचिन्तन में प्रवृत्त होते हैं। इसलिये उनको ' निरग्नि" कहा जाता है तथा देह और इन्द्रियों की बाहरी क्रियाओं से वे विरत होते हैं अर्थात् जीविका निर्वाह के अतिरिक्त उनका अन्य कोई भी बाह्य कर्म नहीं रहता है इसलिये उन्हें 'अक्रिय' अथवा योगी भी कहा जाता है। श्री भगवान् कह रहे हैं कि केवल 'निरग्नि' होने से ही उन्हें संन्यासी कहा जायगा तथा 'अक्रिय' होने से ही उन्हें योगी कहा जायगा, ऐसी कोई बात नहीं। जो लोग गृहस्थाश्रम में रहकर यथार्थरूप से निष्काम कर्मयोग पूरा कर रहे हैं वे अग्निहोत्रादि कर्मों के लिये, अग्नि की रक्षा करने पर भी, कर्मफल की तृष्णा का त्याग (संन्यास) करने के कारण उन लोगों को भी संन्यासी कहा जाता है तथा सर्व कर्म करके भी फलकामना का संकल्प न रहने के कारण उन लोगों के चित्त में विक्षेप अथवा चंचलता नहीं रहती है इसलिये उन लोगों को योगी भी कहा जा सकता है [अथवा "न निरग्निः न च अक्रियः" इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है। कर्म तथा कर्म-फल की जब आवश्यकता (अपेक्षा) नहीं रहती है तब स्वतः ही सर्वकर्मत्याग हो जाता है। इस अवस्था को संन्यास कहा जाता है। जब तक इस अवस्था की प्राप्ति नहीं होती है तब तक शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मों को ईश्वर में अर्पण की बुद्धि से नियमित रूप से करना चाहिये। इसी का नाम कर्मयोग है। कर्मयोग के द्वारा जिनकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है वे यदि वेदान्त–ग्रन्थादि से केवल शाब्दबोध द्वारा "मैं ब्रह्म हूँ" "मैं मुक्त हूँ" इत्यादि भावनाओं का आश्रय कर अपने आश्रम-विहित अग्निसाध्य यज्ञादि कर्मों का त्याग कर दें परन्तु यदि जागतिक कामना–वासनाओं (विषय-तृष्णाओं) के द्वारा उनका चित्त पूर्ण रहे तो शास्त्रीय दृष्टि से उनको "निरग्नि" अर्थात् संन्यासी नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर जिनका अन्तःकरण वशीभूत होकर वासनारहित नहीं हुआ है वे यदि हस्तपादादि को संकुचित कर मिथ्या समाधि का भान करें एवं चक्षुओं को बन्द कर निष्क्रिय रूप से बैठे रहें तो उनको भी "अक्रिय" अर्थात् योगी नहीं कहा जा सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि केवल निरग्नि तथा अक्रिय होने से ही संन्यासी तथा योगी होना सम्भव नहीं। विषयतृष्णा का त्याग ही प्रकृत संन्यास है तथा तृष्णारहित होने से चित्तवृत्ति का जो निरोध होता है वही प्रकृत योग है। इसलिये गृहस्थ अथवा निष्काम कर्मयोगी अग्निसाध्य श्रौतकर्मादि का त्याग नहीं करने पर भी (अर्थात्

निरग्नि न होने पर भी) उनमें कर्मफल की वासना नहीं रहने के कारण उन्हें संन्यासी कहा जा सकता है एवं अक्रिय (निष्क्रिय) नहीं होने पर भी अर्थात् तप-दानादि कर्म का, अथवा प्रयोजनीय दैहिक तथा इन्द्रियादि के कर्म का त्याग नहीं करने पर भी उन्हें योगी कहा जा सकता है क्योंकि उस अवस्था में कर्मों को करने पर भी, उनके चित्त में किसी प्रकार के विक्षेप की सम्भावना नहीं रहती है। [प्रथम व्याख्या का तात्पर्य यह है कि केवल निरग्नि तथा अक्रिय होने से ही संन्यासी तथा योगी कहा जायगा ऐसी बात नहीं है। कर्मयोगी भी कर्मफल का त्याग करने के कारण संन्यासी हैं एवं उनके चित्त में कर्मफलाकांक्षाजनित विक्षेप का अभाव रहने के कारण वे योगी भी हैं]। द्वितीय व्याख्या में कहा गया है कि—कामना तथा वासनाओं का चित्त में पोषण कर निरग्नि तथा अक्रिय होने पर हो उनको प्रकृत संन्यासी तथा योगी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे तो मिथ्याचारी हैं। उनकी अपेक्षा जो कर्मयोगी फल की तृष्णा न रखकर कर्तव्यकर्म सम्पादन करते हैं उनको (गौण) संन्यासी तथा योगी कहा जा सकता है, यही दोनों व्याख्याओं में अन्तर (भेद) है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्वाध्याय के (पंचम अध्याय के) अन्त में योग के सम्बन्ध में जो कहा गया है उसकी ही विस्तृत रूप से व्याख्या करने के लिये षष्ठाध्याय का आरम्भ किया गया है। पूर्वाध्याय में 'मन के द्वारा सर्व कर्मों का परित्यागपूर्वक' (संन्यासपूर्वक) ज्ञाननिष्ठा का सिद्धान्त-रूप से विधान होने के कारण (गीता ५।१३) तथा कर्मानुष्ठान दुःख रूप होने के कारण सहसा संन्यास की ही श्रेष्ठता का प्रसंग आ जाता है। अतः अपक्व अवस्था में यदि कोई कर्म का त्याग करे, इस आशंका से अनधिकारी के लिए संन्यास ग्रहण निषेध करने के अभिप्राय से संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता प्रतिपादन कर, कर्मयोग की स्तुति करते हुए भगवान् कह रहे हैं। **अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः**—इत्यादि कर्मफल की अपेक्षा न कर (कर्म कर के फल की कामना न कर) विहित कर्म अवश्य ही कर्तव्य है ऐसा मानकर जो कर्म करते हैं वे ही संन्यासी हैं तथा वे ही योगी हैं। [किन्तु जो संन्यास का अधिकारी न होकर ही] **निरग्निः**—अग्नि-रहित है अर्थात् अग्निसाध्य इष्टादि (यागयज्ञादि) कर्मों का परित्याग किये हैं अथवा **अक्रियः**—जो शास्त्रविहित कर्म अग्नि की अपेक्षा नहीं रखते हैं ऐसे कर्म [जैसे-पूर्त्तादि (पुष्करिणी खननादि) कर्मों] का जिन्होंने परित्याग किया है **न**—वे संन्यासी या योगी नहीं हैं।

(२) शंकरानन्द—पूर्ववर्ती पञ्चम अध्याय के अन्त में 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इत्यादि तीन श्लोकों के द्वारा आत्मविद् यति के श्रवणादिजनित ज्ञान में अप्रतिबद्धता की सिद्धि के लिये अवश्य करणीय ध्यानयोग को सूचित कर अब उसी ध्यानयोग के बहिरंग तथा अन्तरंग साधन का, अधिकारी का, अधिकारी के लक्षण तथा उसके फल का निरूपण करने के लिये षष्ठाध्याय का प्रारम्भ किया गया है। उनमें पहले श्रवणादि से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसका परम कारण (प्रधान कारण) है चित्तशुद्धि। क्योंकि चित्तशुद्धि होने से ही श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन और उससे ज्ञानोत्पत्ति सिद्ध होती है। चित्तशुद्धि का कारण तो कर्मयोग ही है क्योंकि वह कर्मयोग ही श्रवणादि तथा उससे उत्पन्न ज्ञान का, यम-नियमादि के समान बलवत्तर बहिरंग साधन है। कर्मयोग का अनुष्ठान ठीक से होने पर ही चित्तशुद्धि प्राप्त कर श्रवणादि तथा श्रवणादि का कार्य (ज्ञानोत्पत्ति) सिद्ध होते हैं। अत एव मुमुक्षु को वैदिक कर्म नियमपूर्वक श्रद्धा के साथ तथा ईश्वर के प्रति भक्ति के साथ अवश्य कर्तव्य है, इसे सूचित करने के लिये कर्मयोगी तथा उसके कर्मयोग की स्तुति करने के लिये श्रीभगवान् ने कहा—

यः—वेद तथा वेदांगो को पढ़ा हुआ एवं उनके अर्थ को जाननेवाला मुमुक्षु ब्राह्मण स्वयं कर्मफलम्—'स्वर्गकामश्चिन्वीत' (स्वर्ग की जो कामना करते हैं वे चयन करेंगे), 'यः पशुकामः' (जो पशु की कामना करता है), 'पश्यति पुत्रम्' (पुत्र को देखता है) इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा उन उन स्थानों में जो पुत्र, पशु, स्वर्ग प्राप्तिरूप कर्मफल प्रतिपादित हुए हैं उस कर्मफल को अनाश्रितः—आश्रय न कर अर्थात् किसी कर्मफल की अपेक्षा न कर (फलप्राप्ति की आशा न कर) एकमात्र मोक्ष की ही कामना कर, सर्व कर्मों को ईश्वर को समर्पण कर, निष्काम होकर कार्यं कर्म करोति—काम्य कर्म का त्याग कर, शास्त्रनियम के अनुसार नित्य, नैमित्तिक, अग्निहोत्रादि जो कर्तव्य कर्म निर्धारित हैं उन्हें श्रद्धा तथा भक्ति के साथ सम्यक् रूप से (भली-भाँति) अनुष्ठान करता है सः—वह संन्यासी–[संन्यास शब्द का अर्थ है त्याग अतः] कर्मफल की कामना के परित्यागरूप संन्यास से युक्त होने के कारण संन्यासी ही है, योगी च—तथा वह योगी भी है। कर्मयोग में उसका चित्त समाहित (विक्षेपरहित) रहने के कारण उसको योगी भी कहा जाता है। न निरग्निः न च अक्रियः—यहाँ अवधारणा अर्थ में 'एव' शब्द का अध्याहार करना पड़ेगा अर्थात् 'न निरग्निरेव न च अक्रिय एव' इस प्रकार अन्वय करना पड़ेगा। केवल निरग्नि ही (जो अग्नि अर्थात् अग्निहोत्रादि

कर्म का त्याग किये हैं वे ही केवल) संन्यासी नहीं होते हैं और अक्रिय होने से ही योगी होंगे ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु फलकामना के संकल्प का त्याग कर चित्त की निश्चलता सम्पादन कर, मेरे प्रति एकान्त भक्ति के साथ जो कर्म करता है वह गृहस्थ होने पर भी (गौण रूप से) संन्यासी तथा योगी हो सकता है। 'निरग्नि' इस शब्द का अग्नि शब्द के द्वारा लक्षणा कर अग्निपूर्वक जो समस्त कर्म अनुष्ठित होते हैं उन्हें समझाया जा रहा है। चौल तथा उपनयन से आरम्भ कर ब्राह्मण के श्रौत तथा स्मार्त जितने कर्म हैं वे सभी अग्निपूर्वक ही हुआ करते हैं। आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा कर उन सब कर्मों को साधन सहित तथा लक्षण सहित जिसने त्याग दिया है वह, निरग्नि अर्थात् (मुख्य) संन्यासी है। पुनः वह ही श्रवणादि के द्वारा विज्ञान को संप्राप्त कर अर्थात् आत्मतत्त्व को सम्पूर्ण रूप से जान कर ज्ञानयोग में प्रवृत्त होता हुआ देहेन्द्रियादि की चेष्टारूप सभी क्रियाओं का जब त्याग करता है तब वह अक्रिय (अर्थात् मुख्य यानी यथार्थ) योगी होता है।

(३) नारायणी टीका—कर्तृत्वाभिमान का त्याग कर शास्त्र तथा गुरुवाक्य के प्रति अचल श्रद्धा रखकर अपने-अपने आश्रमविहित कर्मों को जो लोग ईश्वरार्पण बुद्धि से नहीं कर सकते हैं उनलोगों की चित्तशुद्धि होना सम्भव नहीं है। इसी कारण पूर्वाध्याय के शेष भाग में निर्दिष्ट ध्यानयोग में आरूढ़ होने के लिये उसका बहिरंग साधन निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान (अर्थात् कर्मों की फलाकांक्षा का परित्याग करना) अवश्य कर्तव्य है, इसे ही प्रतिपादन करने के लिए श्रीभगवान् "कर्मयोगी ही संन्यासी तथा योगी है" ऐसा कहकर कर्मयोगी तथा कर्मयोग की प्रशंसा कर रहे हैं। वस्तुतः इसके द्वारा मोक्षलाभ के लिये शास्त्रसिद्ध प्रकृत (मुख्य) संन्यासित्व तथा योगित्व प्रतिषिद्ध नहीं हुए हैं अर्थात् संसार के सर्व कर्मों का त्याग कर विधिपूर्वक संन्यासग्रहण तथा निर्जन स्थान में सभी चेष्टाओं से रहित होकर केवल समाधि-योग का अभ्यास करने की जो विधि है उसका प्रतिषेध नहीं किया गया है। क्योंकि "सर्वकर्माणि मनसा संन्यास्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ (गीता ५।१३) अर्थात् जितेन्द्रिय देही स्वयं कोई कर्म न कर अथवा किसी के द्वारा न कराकर, विवेक बुद्धि से सभी प्रकार के कर्मों के अभिमान को परित्यागपूर्वक, नवद्वारयुक्त पुरस्वरूप इस देह में सुख से विद्यमान रहते हैं, इस प्रकार कहने से निर्वाण या मोक्ष के लिये सर्वकर्म-त्यागरूप यथार्थ संन्यास की सार्थकता है यह स्पष्ट रूप से ही प्रमाणित होता है। द्वितीयतः "एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः", 'ब्रह्मचारी व्रते स्थितः'

(गीता ६।१०) इत्यादि के द्वारा भी संन्यासी के लिये समाधि-योग का विधान किया गया है। गृहस्थ के लिये एकाकी रहना, निराशी होना तथा पूर्णरूप से अपरिग्रह, व्रंत तथा ब्रह्मचर्य व्रत लेना सम्भव नहीं है। इसलिये वर्तमान श्लोक में जो कहा गया है वह कर्म की स्तुतिमात्र है अर्थात् कर्मयोगी का संन्यासित्व तथा योगित्व यहाँ गौणरूप से कहा गया है। इसके द्वारा मुख्य संन्यास तथा योग का निषेध नहीं किया गया है। तृतीयतः, जिनका चित्त कामना-वासना, राग-द्वेष इत्यादि के द्वारा पूर्ण हैं वे यदि संन्यासाश्रम के अधिकारी न होकर ही अग्निसाध्य अग्निहोत्रादि कर्म का त्याग कर 'निरग्नि' हों तथा चित्तशुद्धि के लिये विहित दान, तप इत्यादि कर्म का त्याग कर, आलस्य तथा प्रमादवश निष्क्रिय (क्रियाहीन) रहें तो ऐसे पाषंड, मिथ्याचारी तथा केवलमात्र वेशधारी संन्यासी तथा योगी की अपेक्षा उक्त प्रकार का कर्मयोगी श्रेष्ठ हैं इसे प्रतिपादन करने के लिये भी यहाँ कहा गया है—'स संन्यासी च योगी च' इत्यादि।

[पूर्व श्लोक में जो कहा गया है उसके सम्बन्ध में शंका हो सकती है कि श्रुति, स्मृति तथा योगशास्त्र में संन्यासित्व तथा योगित्व जब निरग्नि तथा अक्रिय पुरुष के लिये ही प्रसिद्ध है तब यहाँ अग्नियुक्त तथा क्रियायुक्त पुरुष के लिये अप्रसिद्ध संन्यासित्व तथा योगित्व का प्रतिपादन कैसे हो सकता है? उत्तर में कहा जायगा—नहीं इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि किसी एक गुणवृत्ति के द्वारा (किसी एक गुण विशेष को ग्रहण कर) गौणरूप से गृहस्थ का भी संन्यासित्व तथा योगित्व सम्भव होता है, यही अब भगवान् कह रहे हैं। प्रश्न होगा—यह किस प्रकार से सम्भव है? इसके उत्तर में कहा जायगा कर्मफल का त्याग (संन्यास) करने से गृहस्थ के लिये 'संन्यासित्व' सिद्ध हो सकता है और योग के अंगरूप से कर्मानुष्ठान होने के कारण अथवा चित्त के विक्षेप के हेतुरूप कर्मफलस्पृहा का त्याग होने के कारण उनका (गृहस्थ का) योगित्व सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि कर्मानुष्ठान में यदि कर्मफल की कामना या संकल्प रहे तब चित्त व्याकुल रहने के कारण चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग सम्पादित नहीं हो सकता है। किन्तु वैसा संकल्प नहीं रहने से चित्त समाहित रहता है एवं वही योगित्व है। इस प्रकार संन्यासित्व तथा योगित्व दोनों ही गौणरूप से माने गए हैं। यहाँ गृहस्थ का मुख्य संन्यासित्व और योगित्व प्रतिपादन करना भगवान् का अभिप्राय नहीं है। किन्तु स्वधर्मनिष्ठ निष्काम कर्मयोगी गृहस्थ का संन्यासित्व तथा योगित्व प्रतिपादन कर उस प्रकार के गृहस्थ की केवल स्तुति (प्रशंसा)

करना ही भगवान् का यहाँ अभिप्राय है। इस विषय को ही स्पष्टरूप से दिखाने के लिये भगवान् अब कह रहे हैं कि गृहस्थ के लिए संन्यास तथा योग एक ही वस्तु है क्योंकि दोनों में ही फल की कामना का त्याग समान रूप से विद्यमान रहता है]।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

अन्वय—हे पाण्डव! यम् संन्यासम् इति प्राहुः तम् योगम् विद्धि हि असंन्यस्त-संकल्पः कश्चन योगी न भवति।

अनुवाद—ज्ञानीगण जिसे संन्यास कहते हैं उसी को ही तुम योग जानो क्योंकि जो संकल्प (फलकामना) का त्याग नहीं किये हैं वे कभी योगी नहीं हो सकते।

भाष्यदीपिका—हे पाण्डव—हे शुद्धबुद्धे! 'पाण्डव' इस शब्द के द्वारा श्रीभगवान् अर्जुन के ज्ञानलाभ की योग्यता का निरूपण कर रहे हैं :—

यं संन्यासम्—जो सर्वकर्मत्यागरूप तथा सभी कर्मों के फलपरित्याग-रूप परमार्थ संन्यास को, प्राहुः—श्रुति तथा स्मृति शास्त्र जानने वाले पण्डितों ने सभी आश्रमों से प्रकृष्ट (प्रकर्षेण आहुरिति प्राहुः) अर्थात् श्रेष्ठ मानकर गणना की है। "न्यास एवात्यरेचयेत्" इति, (संन्यास सभी आश्रमों से श्रेष्ठ है)। "ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (ब्राह्मण पुत्र कलत्रादि की वासना, धन वित्तादि की वासना, लौकिक मान-प्रतिष्ठा की वासना का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर भिक्षावृत्ति का अवलम्बन कर, परिव्राजक होकर जीवनयात्रा निर्वाह करें), इस प्रकार अनेक वाक्यों के द्वारा श्रुति में जो संन्यास का प्रतिपादन किया है तम्—उस परमार्थ अर्थात् यथार्थ संन्यास को योगम्—(कर्मफल की तृष्णा तथा कर्तृत्वाभिमान का त्याग कर) शास्त्रविहित कर्मानुष्ठानरूप योग अर्थात् निष्काम कर्मयोग ही विद्धि—जानो। प्रवृत्तिरूप कर्मयोग के साथ उससे विपरीत निवृत्तिरूप परमार्थ संन्यास की समानता को स्वीकार करके कैसे उन्हें एक कहा जा सकता है? इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि कर्ता को ओर से विवेचना करने पर परमार्थ-संन्यास के साथ निष्काम कर्मयोग का सादृश्य है। इसलिये कर्मयोग तथा संन्यास को एक ही कहा गया है। [कर्म से बन्धन नहीं होता, कर्म का मूल रूप से जो संकल्प रहता है वही बन्धन का कारण होता है। संकल्प से वासना (कामना) का उदय होता है। कामना से ही कर्म के लिए प्रवृत्ति उपस्थित

होती है तथा प्रवृत्ति होने से ही कर्म सम्पन्न हो सकता है। कर्म के मूल में यदि संकल्प रहे तो कर्म सम्पन्न होने के बाद उस कर्म के फल की तृष्णा अवश्य ही रहेगी एवं कर्मफल यदि आशानुरूप न हो तो दुःख अवश्यम्भावी है। इसलिये अन्तःकरण में कल्पना तथा उससे उत्पन्न वासना (काम) जब तक रहेगा तब तक चित्त में चंचलता (विक्षेप) भी रहेगा हो तथा दुःख और अशान्ति को सम्भावना भी रहेगी।] जो परमार्थ संन्यासी हैं वे सर्व कर्मों के साधनों का त्याग करते हैं। अत एव वे सर्वकर्म तथा उसके फल के सम्बन्ध में संकल्पों का भी (जो कामना उत्पादन कर कर्म में प्रवृत्ति का हेतु या कारण होते हैं उन संकल्पों का भी) सम्पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। गृहस्थ निष्काम कर्मयोगी भी कर्म करते हुए कर्मों के फल के विषय में संकल्प या कामना का त्याग करते हैं। इसलिये संकल्प-त्याग के विषय में संन्यासी तथा कर्मयोगी में सादृश्य (समानता) रहने के कारण संन्यास तथा योग को (कर्मयोग को) एक ही कहा गया है। इस अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये ही कहा जा रहा है—हि—चूँकि असंन्यस्त-संकल्पः—एकमात्र मोक्ष के लिये दृढ़-संकल्प होकर जो कर्मफल विषयक संकल्पों (अर्थात् अभिसंधि) का सम्पूर्णरूप से त्याग न किये हों ऐसे कश्चन—कोई भी कर्मी योगी न भवति—योगी अर्थात् समाहितचित्त हो नहीं सकते। क्योंकि फल के लिये संकल्प ही चित्त के विक्षेप का कारण है। अत एव जो कर्मयोगी कर्म-फल के संकल्प का त्याग किये हैं उनके चित्त के विक्षेप का कोई कारण नहीं रहने के कारण वे समाधानवान् होते हैं अर्थात् उनका चित्त समाहित (स्थिर) होता है। इसलिये कर्मयोगी के लिये कर्मफल के त्याग को संन्यास कहा गया है एवं संकल्प-त्याग होने से ही चित्त की स्थिरता (योग) निष्पन्न होती है, इस कारण संन्यास तथा योग को एक कहा गया है। इस प्रकार परमार्थ संन्यास की तथा कर्मयोग की कर्ता के साथ सम्बन्ध रखनेवाली त्याग-विषयक समानता रहती है एवं इस समानता की अपेक्षा से ही कर्म-योग की स्तुति (प्रशंसा) करने के लिये "यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव", ऐसा कहकर कर्मयोग को संन्यास कहा गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—निष्काम रूप से कर्तव्य कर्म के अनुष्ठान में रत व्यक्ति कैसे संन्यासी तथा योगी होते हैं ? इसके उत्तर में कर्मयोग के ही संन्यासत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—यं सन्यासम् इति प्राहुः तं योगं विद्धि—श्रुति में 'न्यास एवात्यरेचयेत्' इत्यादि वाक्यों के द्वारा जिस संन्यास को श्रेष्ठ कहा है, केवल फल-संन्यास (कर्मफल की वासना का अथवा

संकल्प का त्याग) होने के कारण उस संन्यास को तुम योग ही जानो। हि असंन्यस्तसंकल्पः कश्चन योगी न भवति—क्योंकि कर्म फल का संकल्प जिसका संन्यस्त नहीं हुआ है अर्थात् जो फल-कामना परित्याग न कर सके वह कर्मनिष्ठ या ज्ञाननिष्ठ कोई भी क्यों न हो, कभी योगी नहीं होता है। अत एव फल के संकल्प के त्याग का, दोनों में (निष्काम कर्मी तथा संन्यासी में) सादृश्य (समानता) रहने के कारण निष्काम कर्मी को संन्यासी कहा जाता है। फिर फल के संकल्प का त्याग होने पर उसके चित्त के विक्षेप का कोई कारण नहीं रहता है, इसलिये ही वह योगी भी है अर्थात् उसको योगी भी कहा जाता है।

शंकरानन्द —जो लोग अनात्मज्ञ हैं अर्थात् आत्मा के स्वरूप को नहीं जानकर देहादि अनात्म वस्तु में 'मैं, मेरा' बुद्धि रखते हैं वे ही कर्मयोग के अधिकारी होते हैं। सर्वकर्मत्यागरूप संन्यासित्व तथा योगित्व ब्रह्मवित् पुरुष का धर्म है—यह सर्व शास्त्र में प्रसिद्ध है। अत एव इस प्रकार संन्यासित्व तथा योगित्व प्रवृत्ति धर्म में लीन (रत) एवं दारा (स्त्री) तथा अग्निहोत्रादि साधनयुक्त अनात्मज्ञ गृही लोगों के लिये किस प्रकार सम्भव है ? इस प्रकार यदि शंका हो तब इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि वैसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि पहले जो कहा गया है उस रीति के अनुसार धर्मों का तथा धर्मियों का परस्पर भेद होने पर भी संन्यास तथा कर्मयोग दोनों के साध्य एक ही (मोक्ष) होने के कारण (अर्थात् अन्तिम फल की ओर लक्ष्य करने पर) उनमें कोई भेद नहीं रहता है। अत एव संन्यासी को जो फल प्राप्त होता है वही कर्मयोगी को भी प्राप्त होता है। इसलिये संन्यास तथा कर्मयोग के फल की समता के संबन्ध में जो कहा गया है वह उपपन्न (युक्ति-युक्त या युक्तिसंगत) है, यह सूचित करने के लिये संन्यास के समान कर्म भी मोक्ष का परम साधन है एवं वह मुमुक्षु के द्वारा अवश्यकर्तव्य है, इस प्रकार कर्म की स्तुति (प्रशंसा) करने के लिये संन्यास तथा कर्म का अभेद प्रतिपन्न कर रहे हैं—

यं संन्यासम् इति प्राहुः—पण्डित लोग जिस कर्मित्वादर्शनरूप धर्म को संन्यास कहते हैं [ज्ञानी देहेन्द्रियादि के द्वारा अनुष्ठित कर्म को 'मैं कर रहा हूँ अर्थात् मैं कर्मी हूँ' ऐसा नहीं सोचते। अतः उनको कोई कर्म भी नहीं रहता है अर्थात् देहादि के द्वारा स्वाभाविक कर्म होने पर भी ज्ञानी का सर्व कर्मों का संन्यास या त्याग ही हुआ करता है। यही कर्मित्वादर्शनरूप धर्म या संन्यास है]। तं योगं विद्धि—तुम उसी को (उस संन्यास को ही) योग

अर्थात् कर्मयोग जानो। 'सर्वकर्माणि मनसा' (गीता ५।१३) (सर्व कर्मों को मन के द्वारा त्याग कर) इत्यादि वचनों के द्वारा यह प्रतिपादित हुआ है कि ज्ञानी आत्मा को कूटस्थ, असंग तथा चिद्रूप जानकर अनात्मज्ञ के द्वारा किये जानेवाले (अर्थात् अनात्मज्ञ पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार बुद्धि से जो कर्म करते हैं उस) कर्मों का अभाव अपने में दर्शन करते हैं। यही संन्यास है; इसका फल मोक्ष है। कर्मयोग का अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त करने से) (उस चित्तशुद्धि से) जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी का कार्य (परिणाम) है यह संन्यास। (अर्थात् चित्तशुद्धिजनित ज्ञान के विना संन्यास सम्भव नहीं होता है)। अतः कर्म संन्यास का अंग है। अंग तथा अंगी इन दोनों का एक ही कार्य के साथ सम्बन्ध रहने के कारण तथा दोनों का फल भी एक ही होने के कारण उनमें एकत्व (एकता) उपपन्न (युक्तियुक्त या युक्तिसंगत) है। अत एव संन्यास तथा योग इन दोनों को अभिन्न देखो यही कहने का अभिप्राय है। अथवा—परमार्थसिद्धि के (मोक्ष के) साधनरूप से संन्यास तथा कर्मयोग में विशेषता न रहने के कारण दोनों का एकत्व ही सिद्ध होता है अर्थात् दोनों एक ही हैं। जिस प्रकार श्रवणादि जनित विज्ञान के विना कर्मित्वादर्शन न होने से अविक्रियात्म स्वरूप में अवस्थानरूप मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता है. उसी प्रकार विहित कर्मों के अनुष्ठान का अभाव रहने पर चित्तशुद्धि भी नहीं होती है और चित्तशुद्धि के अभाव से ज्ञान की उत्पत्ति का सम्भव न होने के कारण अपने स्वरूप में अवस्थान रूप मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता है। अत एव मोक्ष के प्रति संन्यास तथा कर्मयोग दोनों ही समान रूप से असाधारण कारण हैं। अतः दोनों ही एक शक्ति वाले तथा एक फल वाले हैं। इनमें भेद न रहने के कारण उनका एकत्व अभेद उपपन्न होता है। अथवा—'सर्वसंकल्प-संन्यासी' इस प्रकार वचन के द्वारा सर्वसंकल्पों का परित्यागरूप संन्यास (अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि से वाह्य पदार्थों की भावना का परित्याग करना ही) यति का एकमात्र धर्म है, यह प्रतिपादित हो रहा है। यद्यपि कर्मयोग में मुख्य वृत्ति से संन्यास का यह लक्षण अर्थात् सर्वसंकल्प त्यागरूप लक्षण रहना सम्भव नहीं है तथापि कर्मफल का संकल्प त्याग रूप लक्षण के द्वारा कर्मयोग लक्षित होने के कारण (फलसंकल्प-परित्याग रूप गुण कर्मयोग तथा संन्यास दोनों में समान रहने के कारण) उस गुणवृत्ति से अर्थात् गौणरूप से दोनों का (संन्यास तथा कर्मयोग का) एकत्व सम्भव होता है। [कर्मयोग में संन्यास के समान सर्वसंकल्प का संन्यास (त्याग) सम्भव नहीं है क्योंकि तब तो कर्मानुष्ठान भी नहीं हो सकता किन्तु उनमें फलप्राप्ति का संकल्प न

रहने के कारण फल संकल्प का त्याग होता है। इसलिये मुख्य संन्यास के साथ कर्मयोग का एकत्व न रहने पर भी फलसंकल्पत्याग रूप गौण संन्यास के साथ कर्मयोग की एकता हो सकती है।] 'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि' (अर्थात् जिसको संन्यास कहते हैं उसी को योग जानो) इस प्रकार कहकर कर्मफल संन्यास रूप जो कर्मयोग है वही मोक्ष का कारण होता है, यह सूचित किया गया। चूँकि एकमात्र कर्मफल संकल्प के संन्यास की ही (त्याग की ही) कर्मयोग में प्रधानता है, इसलिए मुमुक्षु गृही को उस प्रकार फल संकल्प त्यागी अवश्य होना पड़ेगा, यह समझाने के लिये कह रहे हैं—
असंन्यस्तसंकल्पः—जिस मुमुक्षु के द्वारा संकल्प (कर्मफल के विषय में मनन) केवल मोक्ष ही कामना से सम्पूर्ण रूप से परित्यक्त हुआ है, वह 'संन्यस्तसंकल्प' है। उससे विपरीत लक्षणोक्त पुरुष को 'असंन्यस्तसंकल्पः' कहा जाता है अर्थात् कर्म करने के पहले, कर्म करने के पश्चात् तथा कर्म करने के समय जो कर्मफल का ही संकल्प या मनन करता हुआ कर्म करता है उसे 'असंन्यस्त संकल्प' कहा जाता है। ऐसा कश्चन—कोई असंन्यस्तसंकल्प व्यक्ति (वे ब्राह्मण ही हों अथवा अन्य कोई भी हों) योगी न भवति हि—योगी नहीं हो सकते। कर्मफल की अपेक्षा नहीं रहने पर (विक्षेप का कोई कारण नहीं रहने पर) चित्त की जो निश्चलता प्राप्त होती है उसे 'योग' कहा जाता है। जो इस प्रकार निश्चलचित्तायुक्त होता है उसे योगी कहा जाता है। जिसको कर्मफल को आशा रहती है, उस आशा के कारण उसके चित्त में अवश्य ही विक्षेप उत्पन्न होगा। अत एव विक्षेपयुक्त रहने के कारण वह कभी उक्त योगलक्षणयुक्त अर्थात् निश्चलचित्तायुक्त योगी नहीं हो सकता यही कहने का अभिप्राय है। अथवा—जो असंन्यस्तसंकल्प है वह मोक्षरूप फल के लिए योग्य नहीं हो सकता किन्तु जन्मादिदुःखरूप फल के लिये ही योग्य होता है। [यहाँ योग योग्यता योगी जिनकी योग्यता है।] श्रुति भी यही कहती है—'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र' (जो संकल्प करता हुआ भोगों की कामना करता है वह जिन जिन कामनाओं को करता है उन कामनाओं के अनुकूल स्थानों में जन्मग्रहण करता है।), 'उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः' (जो धीर अर्थात् विवेकी लोग कामनारहित होकर इस शुद्ध पुरुष की उपासना करते हैं वे संसार से उत्तीर्ण होते हैं) इन श्रुति वाक्यों की प्रसिद्धि को सूचित करने के लिये श्लोक में 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(३) नारायणी टीका—गीता में कहा गया है—"न हि कश्चित्

क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'' अर्थात् कोई भी (व्यक्ति) एक क्षण के लिये भी कर्म के बिना (कर्म न कर) नहीं रह सकता है (गीता ३।५)। यह अज्ञ अजितेन्द्रिय मनुष्य के सम्बन्ध में ही कहा गया है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति अपने अथवा अन्य के भोग की तृप्ति के लिये कर्म करते हैं संकल्प का (या कामना का) त्याग कर कर्म नहीं कर सकते। इन सकाम कर्मियों की साधना के सम्बन्ध में अब श्रीभगवान् कुछ नहीं कह रहे हैं। वर्तमान श्लोक में निष्काम कर्मी शब्द का अर्थ है जो सभी संकल्प या भोग कामना को त्याग कर योग (ध्यान योग) तथा संन्यास (सर्वकर्मत्याग) के लिये प्रस्तुत हो रहे हैं वे। पहले ही कहा गया है—पंचम अध्याय के शेष भाग में 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इत्यादि श्लोकों में (५।२७–२९) जो कहा गया है वही विस्तृत रूप से षष्ठ अध्याय में वर्णित किया जा रहा है। चित्तवृत्ति का निरोध करना ही योग है। संकल्प ही चित्त के विक्षेप का हेतु है। इसलिये संकल्प का त्याग नहीं करने पर गीतोक्त योग की प्राप्ति करना सम्भव नहीं है। कर्मफल को वासना का त्याग कर निष्काम कर्मी का चित्त विक्षेपरहित होकर शान्त हो जाता है। तब वे ध्यानयोग या प्रकृत योग के अधिकारी होते हैं। ध्यानस्थ होकर परमात्मा का साक्षात्कार होने के पश्चात् सभी जागतिक वस्तुओं का मिथ्यात्व निश्चय होने से कर्ता, कर्म तथा करण की भेदबुद्धि का अभाव होता है। तब एकमात्र कूटस्थ, असंग, चिद्रूप आत्मा के नित्यत्व तथा सत्यत्व की उपलब्धि कर उसी में योगी (अर्थात् ज्ञानी) मग्न रहते हैं। इस अवस्था में कोई भी कार्य नहीं रह सकता है (गीता ३।१७)। अर्थात् स्वतः ही सर्व कर्म त्याग अर्थात् संन्यास हो जाता है। किन्तु (क) निष्काम कर्मयोगी (ख) ध्यानयोगी तथा (ग) परमार्थ संन्यासी—सभी को ही संकल्प का त्याग करना पड़ता है। इसलिये प्रथम श्लोक में कर्मी को योगी तथा संन्यासी कहा गया है एवं द्वितीय श्लोक में योग तथा संन्यास को एक कहा गया है अर्थात् सामान्य रूप से संकल्प का त्याग होने के कारण तीनों का एकत्व प्रतिपादन किया है, किन्तु यह एकत्व मुख्य नहीं है गौणमात्र है। क्योंकि ये लोग फलसंकल्पत्याग के विषय में एक होने पर भी, इनमें वस्तुतः प्रभेद (अनेक भेद) हैं (१) कर्मी फलप्राप्ति के संकल्प का त्याग कर विहित कर्म भगवान् की प्रीति के लिये करते रहते हैं। (२) योगी संकल्प त्याग के साथ लौकिक तथा वैदिक सभी कर्मों का त्याग कर यमनियमादि अष्टांग योग के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करते हैं तथा निर्विकल्प समाधि के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करते हैं। (३) संन्यासी भी योगी के समान संकल्प त्याग के

साथ सर्वकर्मत्याग करते हैं तथा केवल आत्मतत्त्व के विचार के द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर आत्मा में ही स्थित रहते हैं। अतएव संन्यासी तथा योगी दोनों को ही फलसंन्यास तथा कर्मसंन्यास करना पड़ता है और निष्काम कर्मी को केवल फल-संन्यास करके कर्म करना पड़ता है यही विशेषता है। विभिन्न टीकाकारों के मत के अनुसार संन्यास तथा कर्मयोग को निम्नलिखित कारणों से एक कहा गया है—

(१) कर्मयोगी, ध्यानयोगी तथा संन्यासयोगी इन तीनों में फल-प्राप्ति के सम्बन्ध में वासना त्याग का सादृश्य (समानता) है, इसलिये वे सब एक हैं (शंकर, मधुसूदन, वेंकटनाथ, श्रीधर, शंकरानन्द, नीलकंठ)।

(२) सादृश्य समझाने के लिये शब्द को गौण रूप से प्रयोग किया जा सकता है अर्थात् एक शब्द का भाव दूसरे शब्द में आरोपित किया जा सकता है। (पाणिनि के महाभाष्य में कहा गया है "ब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्तमित्याह तं वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तसदृशोऽयमिति" अर्थात् जिसका नाम ब्रह्मदत्त नहीं है उसे ब्रह्मदत्त कहा गया। अतः हम सोचते हैं कि वह व्यक्ति ब्रह्मदत्त के सदृश है। यहाँ भी निष्काम कर्मयोग में फलाकांक्षा का त्याग रहने के कारण कर्मयोग संन्यास के सदृश है इस आशय से कर्मयोग तथा संन्यास को एक कहा गया है।

(३) यह एकत्व (एकता) सिंह मानव के समान है। 'पुरुषसिंहः' इस शब्द को कहने में जैसे कि पुरुष सिंह नहीं हो जाता है परन्तु उसमें बल की समानता रहने के कारण गौणरूप से पुरुष को सिंह कहा गया है। उसी प्रकार फलसंकल्पत्याग समान रहने के कारण संन्यास तथा कर्मयोग एक हैं, ऐसा कहा गया है। (धनपति सुरि)।

(४) अंगांगिरूप से भी संन्यासी तथा योगी का एकत्व सम्भव है। कर्मयोग यथार्थ संन्यास का अंग है (साधन है) और संन्यास अंगी (मुख्य उद्देश्य) है। चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान उत्पन्न कर जब कर्म स्वतः ही उपरत (शान्त) हो जाता है तभी प्रकृत संन्यास की अवस्था उपस्थित होती है। अतएव अंगी के साथ अंग का घनिष्ठ सम्बन्ध रहने के कारण उनमें एकत्व का स्वीकार किया गया है। इसलिये योगवाशिष्ठ में कहा गया है "न कर्माणि त्यजते योगी कर्मभिस्त्यज्यते त्वसौ। कर्मणो मूलभूतस्य संकल्पस्यैव नाशतः" अर्थात् बुद्धिमान योगी (संन्यासी) कर्मत्याग नही करते हैं। कर्म का मूल जो संकल्प है जब वह नष्ट हो जाता है तब कर्म उन्हें त्याग करके चला जाता है। अध्यात्ममीमांसा में भी कहा गया है—जैसे कि रास्ता ग्राम (गाँव) में

प्रवेश कर अपने ही समाप्त हो जाता है उसी प्रकार कर्म चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानप्राप्ति कराकर संन्यास अर्थात् सर्वकर्मपरित्याग में पर्यवसित (समाप्त) होता है। कदली वृक्ष जब तक फल के भार (बोझ) से झुक नहीं जाता है तब तक ऊपर की ओर उसकी वृद्धि होती रहती है उसी प्रकार मुमुक्षु व्यक्ति का कर्म जब तक ज्ञानरूप फल उत्पन्न करके स्वयं उपरत (शान्त) नहीं होता है तब तक वह चलता रहता है। इसलिये अंगांगिरूप से कर्म तथा संन्यास एकत्व सिद्ध होता है (नीलकण्ठ, सूर्य सुरी)।

(५) मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार व्याख्या की है—

फलत्याग में सादृश्य है इसलिये गौणवृत्ति से कर्म-योगी को संन्यासी कहा जा सकता है एवं तृष्णारूप चित्तवृत्ति के निरोध का सादृश्य है इसलिये कर्मी को योगी भी कहा जा सकता है। वस्तुतः 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा जाता है। चित्तवृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' (पातंजल योगसूत्र)।

(१) प्रमाण—यह तीन प्रकार के हैं—यथा—"प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि" अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम (वेदादि शास्त्रों के वचनों को, अर्थात् महापुरुष की वाणी को आगम अथवा आप्तवाक्य कहते हैं)। [वेदान्त तथा मीमांसा के मत के अनुसार प्रमाण छः प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम (शब्द), उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव या अनुपलब्धि। न्याय के मत के अनुसार अभाव को छोड़कर पाँच प्रकार का प्रमाण माना जाता है। अन्य मत के अनुसार अन्य प्रकार है।]

(२) विपर्यय—मिथ्याज्ञान अर्थात् जो जैसा नही है उसके संबंध में वैसी जो प्रतीति होती है उसे विपर्यय कहा जाता है। इस विपर्यय से ही पंचक्लेश की उत्पत्ति होती है यथा—"अविद्यास्मितारागाद्वेषाभिनिवेशाः" अर्थात् अविद्या (अनित्य वस्तु में नित्यबोध, दुःख में सुखबोध, अशुचि वस्तु में शुचिबोध एवं अनात्म वस्तु में आत्मबोध, जैसे—देहादि में आत्मभाव) अस्मिता (द्रष्टा तथा दृश्य में एकात्मताबोध अर्थात् जड़ तथा दृश्य देहादि से चेतन द्रष्टा या आत्मा को पृथक् न कर उस जड़ देहादि को ही आत्मा मानना), राग (विषयासक्ति), द्वेष (प्रतिकूल भावना से या दुःखबोध से द्वेष), अभिनिवेश (मृत्युभय)।

(३) विकल्प—"शब्दज्ञानानुपातीऽवस्तुशून्यो विकल्पः" अर्थात् जिस चित्तवृत्ति के अवलम्बन के रूप से कोई यथार्थ वस्तु नहीं है परन्तु शब्द सुनने से निर्विषया एक प्रकार की चित्तवृत्ति होती है उसे विकल्प कहा जाता

है। जैसे—आकाश-कुसुम, शशविषाण (खरगोश या खरहा का सींग) अथवा "पुरुषस्य चैतन्यम्" अर्थात् पुरुष का चैतन्य। (पुरुष चैतन्यस्वरूप ही है तथापि पुरुष का चैतन्य सुनने से पुरुष तथा चैतन्य में एक प्रकार का अवास्तव भेदज्ञान होता है)।

(४) निद्रा—"अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा" अर्थात् अन्य चार वृत्तियों के अभाव का जो प्रत्यय (कारण) है वह (अर्थात् तमोगुण) जिस वृत्ति का आलम्बन रहता है उसे निद्रा कहा जाता है।

(५) स्मृति—"अनुभूतविषयासम्प्रमोषः प्रत्ययः स्मृतिः" अर्थात् पहले जो अनुभूत हुआ है वह भ्रम ही हो अथवा प्रमा ही (यथार्थ ज्ञान ही) हो उस अनुभव के संस्कार से जो प्रत्यय (वृत्तिज्ञान विशेष) उत्पन्न होता है उसे स्मृति कहा जाता है। प्रमाणादि सर्व वृत्तियों की ही स्मृति हो सकती है। इसलिये सबसे अन्त में इसका उल्लेख किया गया है। लज्जा आदि भी उस पञ्च वृत्तियों में अन्तर्भुक्त हैं। इन चित्तवृत्तियों का जब सम्पूर्ण निरोध होता है तब उसे योग या समाधि कहा जाता है। विपर्यय वृत्ति में राग नामक तृतीय क्लेश का उल्लेख किया गया है उसका अभाव होने से ही (अर्थात् फलकामनारूप वृत्ति का निरोध होने से ही) उसे गौणी वृत्ति से याग अथवा संन्यास कहा जाता है इसीलिये उपर्युक्त युक्ति के अनुसार योग तथा संन्यास एक ही है—ऐसा कहने से कोई विरोध की आशंका नहीं रह सकती है।

[चूँकि फलाकांक्षा रहित जो कर्मयोग है वह ध्यानयोग का बहिरंग साधन है इसलिये पूर्व श्लोक में निष्काम कर्मयोग तथा संन्यास का सामान्य रूप से एकत्व दिखाकर अब 'निष्काम कर्मयोग ध्यानयोग का साधन है' उसे दिखा रहे हैं। द्वितीयतः अर्जुन के मन में संशय हो सकता है—तब क्या यावज्जीवन कर्म ही करना पड़ेगा ? अथवा कर्म की कोई अवधि (सीमा) है ? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं कि जबतक योगारूढ अवस्था अथवा ज्ञान की परिपक्वावस्था की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक कर्म करना ही आवश्यक है। योगारूढ होने से कर्म का सम्पूर्ण रूप से उपरम हो जाता है।]

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वय—योगम् आरुरुक्षोः मुनेः कर्म कारणम् उच्यते। योगारूढस्य तस्य एव शमः कारणम् उच्यते।

अनुवाद—जो मुनि (ध्यान) योग में आरोहणेच्छु हैं अर्थात् योगारूढ़ होने की इच्छा करते हैं, कर्म ही उनका कारणस्वरूप है अर्थात् कर्म ही उनका साधन है। जो योगारूढ़ हो चुके हैं उनके लिये शम ही (सर्व कर्मत्याग ही) कारण या साधन है।

भाष्यदीपिका—योगम् आरुरुक्षोः—जो ध्यानयोग में अवस्थान करने में असमर्थ हैं (अर्थात् ध्यान में जिनके चित्त की स्थिति दीर्घकाल नहीं रहती है) किन्तु ध्यानयोग (समाधि) के द्वारा ज्ञान की परिपक्व अवस्था में स्थितिलाभ करने के लिये जो इच्छुक हैं वैसे मुनेः–सर्वकर्मफल-त्यागी (मननशील निष्काम कर्मयोगी) का (जो विहित कर्म करते रहने पर भी किसी प्रकार फल की आकांक्षा नहीं रखते हैं इस प्रकार मननशील व्यक्ति का) [अथवा वर्तमान में कर्मफल का त्याग कर भविष्य में जो सर्वकर्मत्याग कर मुनि होंगे ऐसे व्यक्ति का। 'गृहस्थः स्त्रियमुद्वहेत्' अर्थात् गृहस्थ स्त्री से विवाह करेंगे, यह जैसे भविष्य में गृहस्थ होंगे इस प्रकार अर्थ में गृहस्थ शब्द का व्यवहार किया गया है उसी प्रकार भविष्य में संन्यासित्व की सम्भावना देखकर निष्काम गृहस्थकर्मी आरुरुक्षु होने से उन्हें मुनि कहा जा सकता है। (शंकरानन्द)] कर्म कारणम् उच्यते—योग में आरोहण करने के लिये अर्थात् चित्तशुद्धि के द्वारा ध्यानयोग तथा ज्ञान की परिपक्व अवस्था की प्राप्ति के लिये, कर्म ही (निष्कामभाव से तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से शास्त्रविहित नित्यकर्म का अनुष्ठान ही) उस गृहस्थ आरुरुक्षु मुनि का साधन (उपाय) है, यही वेदमुख से (वेद से) मेरे द्वारा ही कहा गया है। ('उच्यते' शब्द का यही तात्पर्य है)। श्रुति में भी ऐसा कहा गया है :—'कर्माणि कवयो यान्यपश्यन् तानि त्रेतायां बहुधा संततानि, तान्याचरथ नियतं सत्यकामाः' अर्थात् ऋषियों ने जिन कर्मों को दिव्यदृष्टि से देखा वे त्रेतायुग में बहु प्रकार से विस्तृत हुए। यदि सचमुच कामनाओं को पूर्ण करना चाहो तब उन सब कर्मों को नियमित रूप से करो। वेद भगवान् की वाणी है, अतः फलाकांक्षाशून्य होकर वेदविहित कर्मानुष्ठान ध्यानयोग में आरोहण करने का अर्थात् स्थितिलाभ करने का मुख्य उपाय है, यही कहने का अभिप्राय है]

तस्यैव योगारूढस्य—वे कभी जब योगारूढ होते हैं तब [अर्थात् कर्मयोग का अधिकारी पुरुष जब नित्य, नैमित्तिक कर्मानुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त करते हैं एवं इसके बाद विवेकवैराग्यसम्पन्न होकर शमदमादि साधनों से तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अभ्यास के द्वारा तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर

ज्ञानयोग में आरूढ़ होते हैं तब] उनके लिये शमः कारणम् उच्यते— उपशम अर्थात् सर्व कर्मों से निवृत्ति (अथवा सर्वकर्मत्याग) ज्ञान के परिपाक का (ज्ञाननिष्ठा का) कारण या साधन होता है, यह श्रुति एवं स्मृति शास्त्र में कहा गया है। मनुष्य जितना ही कर्म से उपरत होता है उतना ही वह परिश्रमरहित तथा जितेन्द्रिय होता है एवं उसका चित्त समाहित होता जाता है। कर्मों से क्रमशः इस प्रकार की उपरति होते रहने पर वह पुरुष शीघ्र ही (झटपट) योगारूढ़ होता है। इसी कारण वेदव्यास ने कहा— 'नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च। शीलं स्थितिर्दंड-निधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः' (महाशान्तिः १७५।३७) अर्थात् सर्वभूत में एकत्वज्ञान, समता, सत्यता, शील, स्थिति, अहिंसा, आर्जव (सरलता) एवं क्रियाओं से उपरम ये सब ब्राह्मण के लिये जैसा धन है ऐसा दूसरा कोई धन नहीं है। [ज्ञाननिष्ठा अथवा अखंडाद्वयात्मा में अविच्छिन्न स्थिति होने पर फिर कार्य नहीं रहता है। गीता में अन्यत्र भी कहा गया है— "तस्य कार्यं न विद्यते" (गीता ३।१७) अर्थात् ज्ञाननिष्ठ पुरुष का कोई कार्य नहीं रहता है। मधुसूदन सरस्वती ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है योगारूढस्य—जो योग अर्थात् अन्तःकरणशुद्धिरूप वैराग्य प्राप्त हुआ है। तस्यैव—वह पहले कभी (कर्म के अनुष्ठाता) रहने पर भी उनके लिये उस प्रकार वैराग्यावस्था में शमः—सर्वकर्मत्याग ही कारणम् उच्यते—कारण कहा जाता है अर्थात् कर्मसंन्यासरूप शम ही उसके द्वारा अनुष्ठेय है चूँकि सकल कर्मों का सम्यक्रूप से परित्याग होने से ही ज्ञान की परिपक्वता सम्भव है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[तब क्या यावज्जीवन कर्मयोग ही करना पड़ेगा ? ऐसी आशंका हो सकती है। इसलिये कर्मयोग की अवधि (सीमा) का निर्देश कर रहे हैं—] आरुरुक्षोः मुनेः—ज्ञानयोग की प्राप्ति के लिये इच्छुक पुरुष का कर्म कारणम् उच्यते—कर्म ही ज्ञानयोग में आरोहण करने का कारण (उपाय) रूप में (शास्त्र में) कहा गया है क्योंकि निष्काम कर्म के द्वारा ही चित्तशुद्धि की प्राप्ति होती है। योगारूढस्य तस्य एव शमः कारणम् उच्यते—जो ज्ञानयोग में आरूढ़ हुए हैं ऐसे ध्याननिष्ठ यतियों के लिये शम [अर्थात् चित्त को विक्षिप्त करनेवाले सभी कर्मों से उपरति (निवृत्ति) होने से जो निर्विकल्प समाधि होती है वही शम] ज्ञान के परिपाक का (अर्थात् ज्ञाननिष्ठा का) कारण होता है, ऐसा ज्ञानीलोग कहते हैं।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार मुमुक्षु के लिए कर्म अवश्य कर्तव्य है, यह सिद्ध करने के लिये कर्मयोग के साथ संन्यास एवं कर्मयोगी के साथ

संन्यासी की समता प्रतिपादित कर कर्मयोग की स्तुति (प्रशंसा) करके अब कर्मयोग ज्ञान का साधन है, ऐसा कहते हुए उसको (कर्मयोग को) कर्तव्यता की अवधि (सीमा) सूचित कर योगारूढ पुरुष की विदेहमुक्ति का कारण (उपाय) क्या है, यह कह रहे हैं—

योगम्—सम्यक् दर्शन निष्ठा पर (अर्थात् ज्ञाननिष्ठा पर) **आरुरुक्षोः**—आरोहण करने के लिये इच्छुक, अर्थात् मुक्ति के लिये ज्ञानयोग की प्राप्ति के लिये इच्छा कर रहे हैं ऐसे **मुनेः**—जो भविष्य में मुनि (मननशील संन्यासी) होंगे उनका। 'गृहस्थः स्त्रियमुद्वहेत्' (गृहस्थ स्त्री के साथ विवाह करे). यहाँ जिस प्रकार विवाह के पहले गृहस्थ नहीं होने पर भी विवाह के बाद अर्थात् भविष्य में गृहस्थ होंगे, इस अर्थ में 'गृहस्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार भविष्य में संन्यासी होंगे इस प्रकार के अर्थ में मुनि शब्द का व्यवहार किया गया है। अथवा गौणवृत्ति से भी अर्थात् गौणार्थ में भी निष्काम कर्मयोगी गृहस्थ को मुनि कहा जा सकता है। ऐसे मुनि का अर्थात् गृही का **कर्म कारणम् उच्यते**—ज्ञानयोग प्राप्ति का कारण कर्म ही है। कर्म के विना अन्य किसी उपाय से चित्तशुद्धि सम्भव नहीं हो सकती। कर्म ही पुरुष को चित्तशुद्धि सम्पादन कराकर ज्ञानयोग पर आरूढ़ करता है। अत एव कर्म ही ज्ञानयोग की प्राप्ति का कारण है, ऐसा कहा जाता है। 'मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन् तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामाः' (सर्वज्ञ ऋषियों ने जिन कर्मों को मन्त्र में देखा उन्हीं का त्रेतायुग में अनेक प्रकार से विस्तार किया गया। सत्य की कामना कर तुम लोग उन समस्त कर्मों का नियमपूर्वक अनुष्ठान करो), इस प्रकार श्रुति वाक्य के द्वारा ऐसा प्रतिपादित हुआ है-यही 'उच्यते' शब्द के द्वारा सूचित किया गया। जिनकी चित्तशुद्धि के लिये कर्मयोग विहित है उन्हीं को नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि उत्पन्न होने पर विवेक, वैराग्य, शम-दमादि साधन सम्पत्ति प्राप्त होती है। पुनः उन सब साधन सम्पत्ति से युक्त होकर श्रवणादि के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होने पर उस ज्ञान के द्वारा वे जब योगारूढ़ ज्ञानयोग को प्राप्त करने वाले यति होते हैं तब **तस्य योगारूढस्य**—उसी योगारूढ़ का अर्थात् वह कर्मयोगी ही जब योग पर (ज्ञानयोग पर) आरूढ़ होते हैं अर्थात् सम्यक् प्रकार से ज्ञान को प्राप्त होकर विदेहकैवल्यार्थी यति (संन्यासी) होते हैं तब उनका **शमः एव**—बाह्य विषयों से उपराम ही **कारणम् उच्यते**—कारण अर्थात् विदेह मुक्ति का अन्तरंग साधन होता है ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ' (उस एक आत्मा को ही जानो,

अन्य वाक्यों को त्याग दो) 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' ('ओम्' इस प्रकार से आत्मा का ध्यान करो) 'तमेव धीरो विज्ञाय' (उन्हीं को धीर व्यक्ति जानकर), 'शान्तो दान्तो उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (शान्त, दान्त, उपरत तितिक्षु तथा समाहित होकर आत्मा में आत्मा को देखे 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (आत्मा में ही रति करते हैं तथा आत्मा में ही क्रीड़ा करते हैं) इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा एवं 'नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च। शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी। यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन् ॥' आत्मा की परमात्मा के साथ एकता, सर्वावस्था में समता, सत्यता, शील, स्थिरता दण्डनिधान (अर्थात् किसी को दण्ड नहीं देना, आर्जव अर्थात् सरलता, तथा सब क्रियाओं से उपराम ये सब जो ब्राह्मण का वित्त (धन) होता है उस प्रकार का धन और अन्य कुछ भी नहीं है। जो एक आसन में चुपचाप बैठकर विषय का चिन्तन न कर आत्मा में ही लीन (मग्न) रहते हैं वे धर्मी भी नहीं हैं अधर्मी भी नहीं हैं शुभी भी नहीं है, अशुभी भी नहीं हैं इत्यादि स्मृतियों से ज्ञात होता है। जो आत्मतत्त्व को विशेषरूप से जान गये हैं तथा समाधि में प्रवृत्त रहते हैं ऐसे यति का शम अर्थात् उपशम (सर्व विषयों से उपराम) विदेहमुक्ति का कारण होता है। ब्रह्म में आरोपित नाम रूप आदि का ग्रहण न करना ही (अर्थात् संन्यास ही) शम शब्द का अर्थ है। यह सर्वसंन्यासरूप शम ही विदेह मुक्ति का परम कारण है ऐसा ही श्रुति तथा स्मृति शास्त्रों में कहा गया है। चूँकि शास्त्रों इस प्रकार कहते हैं अत एव चित्तशुद्धि के लिये मुमुक्षु को श्रद्धापूर्वक तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से वैदिक कर्मों का ही अनुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य है। उस कर्मानुष्ठान से चित्तशुद्धि उत्पन्न होने पर वे यति जब एकमात्र मोक्षपरायण होकर सम्यक् प्रकार से वेदान्त श्रवणादि के द्वारा ज्ञानप्राप्त होते हैं तथा समाधिनिष्ठा में स्थित रहते हैं तब उनके लिये सर्वकर्मसंन्यास ही कर्तव्य है—यही कहने का अभिप्राय है। 'आरुरुक्षु के लिये कर्म कारण है एवं वे ही जब योगारूढ़ होते हैं तब उनके लिये शम कारण होता है' यह कहकर जैसे गन्ता का गमन समुद्र तक ही होता है किन्तु उसके बाद उनके गमन की समाप्ति हो जाती है वैसे ही मुमुक्षु को ज्ञानप्राप्ति तक ही कर्म कर्तव्य है किन्तु ज्ञान सिद्ध होने पर उसके बाद तो सर्वकर्मसंन्यास ही कर्तव्य है यह सूचित कर रहे हैं। इसलिये 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' (जीवन भर अग्निहोत्र करे) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'

(कर्म करता हुआ ही शत वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करे) इत्यादि जीवन भर अग्निहोत्रादि कर्मों की कर्त्तव्यता जो सब श्रुति वाक्यों ने प्रतिपादित किया है उन सबका विषय अविद्वान् ही है अर्थात् अविद्वान् को (जो अब तक आत्मतत्त्व को नहीं जान सका उसको) लक्ष्य करके ही उन सब वाक्यों को कहा गया है। विद्वान् अर्थात् ब्रह्मवित् पुरुष के लिये नहीं। यदि ऐसा नहीं हो तब 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' (जिस दिन वैराग्य होगा उसी दिन संन्यास को ग्रहण करे), 'सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः' (विद्वान् शिखासहित मुंडन कराकर बाहर यज्ञोपवीत को त्याग करे), 'ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्चलोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (वे लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा का त्याग करके भिक्षाचर्या करते हैं) 'यदा तु विदितं तत्त्वं परंब्रह्म सनातनम्। तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् ॥' (जब सनातन परब्रह्म के तत्त्व को जान लिया तब एक दण्ड का ही ग्रहण कर उपवीत सहित शिखा को त्याग दे इत्यादि श्रुति तथा स्मृति वाक्यों के सहित विरोध का प्रसंग होगा। यदि शंका हो कि वैदिक कर्मों के अनधिकारी जड़ जन्मांध (जन्म से अंधा) मूक (गूंगा) इत्यादि व्यक्तियों के लिये संन्यास विहित हुआ है विद्वान् पुरुषों के लिये नहीं क्योंकि 'विद्वान् यजते' (विद्वान् यज्ञ करे इत्यादि वाक्यों के द्वारा विद्वान् के लिये यज्ञादि कर्मों का विधान है, तो इसके उत्तर में कहा जायगा—नहीं ऐसी आशंका युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि ऐसा मान लेने से उपर्युक्त श्रुति तथा स्मृति के साथ विरोध होगा। 'बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः' (विद्वान् व्यक्ति बाहर यज्ञ सूत्र को त्याग दे) 'किं प्रजया करिष्यामः येषां नोऽयमात्मायं लोकः' जिन हम लोगों की यह आत्मा ही लोक है, वे हम प्रजा से (सन्तान से) क्या करेंगे 'यदा तु विदितं तत्त्वम्' (जब कि तत्त्व को जानते हैं) इत्यादि श्रुतिस्मृतिवाक्यों के अर्थ का सम्यक् प्रकार से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्मवित् पुरुष ही संन्यास के लिए योग्य विषय है, जड़बुद्धि पुरुष नहीं क्योंकि जो लोग वेदशास्त्रों का अध्ययन नहीं किये हैं उनलोगों का 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' (कर्मों के द्वारा जो सब लोक प्राप्त होते हैं उन सब लोकों को परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेद अर्थात् वैराग्य को प्राप्त हों) इस श्रुति के अर्थ में पद तथा वाक्यरूप केवलप्रमाण से लोकों का (ब्रह्मलोक विष्णु लोक इत्यादि लोकों का) कर्मचित्तत्व (कर्मसाध्यता) अनित्यत्व, अल्पफलत्व तथा असत्त्व की परीक्षा करने की योग्यता सम्भव नहीं है (क्योंकि ये सभी वेदों से ही जाना जाता है) और वेदाध्ययन में, वेद के अर्थ विचार में, वेद के तत्त्वनिश्चय में एवं लौकिक

कर्मों में सर्वत्र योग्य पुरुष का ही अधिकार देखा जाता है। अत एव वेद के अध्ययन एवं उसके अर्थ-विचार में अयोग्य पुरुष के लिये (वेदप्रतिपाद्य) ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान एवं बुधत्व (अर्थात् उसका साक्षात् अनुभव) स्वप्न में भी सम्भव नहीं हो सकता है। अतः जो लोग वेदान्त-श्रवणादि के द्वारा ब्रह्मतत्त्व को जान लिये हैं उन लोगों को ही संन्यास तथा बुधत्व हुआ करता है, यह उपर्युक्त श्रुति तथा स्मृति वाक्यों से ज्ञात होता है। इसलिये श्रीभगवान् ने कहा—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्' इत्यादि। अत एव जो लोग सम्यक् प्रकार से आत्मतत्त्व से अवगत हुए हैं उनलोगों के लिये ही संन्यास है अर्थात् वे लोग ही संन्यास के अधिकारी हैं—जड़बुद्धि व्यक्ति के लिये संन्यास नहीं है एवं परोक्षज्ञानी के लिये भी नहीं है। 'महत् पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत्' (महान् पद को जानकर वृक्ष के मूल में बैठे रहते हैं) 'ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' (जानकर नैष्कर्म्य का आचरण करे) 'तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्' (इसलिये इस लोक में बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानपूर्वक संन्यास करे)'अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्। इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्ष्यभुक्॥' ('मैं ही वासुदेव नामक अक्षर अव्यय ब्रह्म हूँ', इस प्रकारक भाव जिनको स्थिर हुआ है (अर्थात् इस प्रकार के भाव से जो युक्त हैं) वे ही भिक्षान्न भोजन करने के अधिकारी हैं) 'यदा तु विदितं तत्त्वम्' (जब तत्व को जान लिया) इस प्रकार सैकड़ों श्रुति तथा स्मृति वाक्यों से 'ब्रह्मवित् पुरुष का ही संन्यास कर्तव्य है' यह सिद्ध होता है। अत एव 'विद्वान् यजते' (विद्वान् यज्ञ करे) इस प्रकार जो वाक्य श्रुति में है, उस वाक्य में विद्वान् शब्द का अर्थ ब्रह्मवित् नहीं है किन्तु विद्वान् शब्द का अर्थ है वेद, श्रुति का अर्थ, उसका प्रयोग तथा प्रायश्चित्त को जो जानते हैं वे शास्त्रज्ञ पुरुष। इस प्रकार के व्यक्ति के लिये ही विद्वान् यजते' 'विद्वान् यज्ञ करे) इस प्रकार कर्मविधि विहित हुआ है—ब्रह्मविद् के लिये नहीं क्योंकि 'तस्य कार्यं न विद्यते' (उनको कोई कार्य, अर्थात् कर्तव्य नहीं रहता है) इस प्रकार गीता में (३।१७) श्लोक में कहकर श्रीभगवान्‌ने ब्रह्मविद् के कर्म का अभाव प्रतिपादित किया है अत एव 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि श्रुति वाक्यों की गति (लक्ष्य विषय) अविद्वान् ही है यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—मोक्ष ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है। तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष है। अतएव ज्ञान के विना मोक्ष सम्भव नहीं है। वस्त्र की मलिनता को साफ नहीं करने से जिस प्रकार उसमें रंग नहीं लगता है उसी प्रकार चित्तशुद्धि अर्थात् चित्त विषयवासना तथा संकल्प से

रहित न होने से (चंचलता या विक्षेप के कारण) चित्त एकाग्र अर्थात् स्थिर नहीं हो सकता। अत एव उसी अवस्था में ध्यानयोग सम्भव नहीं है। ध्यान-योग का अभ्यास न करने से तत्त्वज्ञान, एवं ज्ञान की परिपक्वावस्था (अर्थात् योगारूढ़ अवस्था) प्राप्त नहीं हो सकता। फलकामना रहित होकर ईश्वरार्पण-बुद्धि से निज निज कर्तव्य कर्म न करने से चित्तशुद्धि नहीं होती है, यह पहले ही कहा गया है। अतएव निष्काम कर्म ही पुरुष की चित्तशुद्धि उत्पन्न कर ज्ञानयोग में आरोहण कराने का प्रधान सहायक है। इसलिये जो लोग ध्यानयोग का अभ्यास कर आरूढ़ होने की इच्छा करते हैं उन लोगों के लिये, (अर्थात् आरुरुक्षु के लिये प्रथम श्लोक में उल्लिखित निष्काम कर्म ही कारण अर्थात् साधन या उपाय है। कर्म तब तक अवश्य करना होगा जब तक ज्ञानयोग में आरोहण नहीं हो। योगारूढ़ होने से सर्व कर्म स्वयं ही परित्यक्त हो जाते हैं क्योंकि जिस उद्देश्य के लिये (अर्थात् चित्तशुद्धि के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये) कर्म की आवश्यकता है उस उद्देश्य (लक्ष्य स्थान) में पहुँच जाने पर उस साधनरूप कर्म की कोई सार्थकता नहीं रहती। उस अवस्था में कर्म से उपशम (उपरम) स्वतः ही धीरे धीरे होता रहता है। जैसे कर्म का उपरम होता है वैसे ही जितेन्द्रिय व्यक्ति का चित्त प्रयत्नहीन होने के कारण ध्येय वस्तु में समाहित होता है। ऐसा होते रहने पर जो पहले कर्म के अधिकारी होकर आरुरुक्षु थे वे शीघ्र ही योगारूढ़ हो जाते हैं। अतएव जो योगारूढ़ हुए हैं उनका साधन है शम (उपशम अर्थात् पूर्णरूप से कर्मत्याग)। इस शम के दो अंग हैं—(१) स्थायी वैराग्य। इसलिये भगवान् कहेंगे 'संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः' इत्यादि (गीता ६।२४) तथा (२) अभ्यास के द्वारा आत्मा में स्थायी स्थिति (आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्—गीता ६।२५)। अज्ञान के कारण परमात्मा में नामरूपादि का आरोप जब तक होता रहता है तब तक ही मिथ्या संसार-जाल का कर्त्ता, कर्म तथा करण का व्यवहार चलता रहता है। जब समाधि के अभ्यास के द्वारा तत्त्वज्ञान में स्थितिलाभ होता है (योगारूढ़ अवस्था प्राप्त होती है) तब आत्मस्वरूप ब्रह्म में आरोपित नामरूपात्मक जगत् का पुनः ग्रहण नहीं होता। सर्वत्र ही एक अखंडाद्वय सच्चिदानन्दघन का अनुभव होता है। उसी समय यथार्थ रूप से सर्व कर्मों का संन्यास होता है (त्याग होता है) एवं उसी को ही "शम" (उपशम) कहा जाता है। यह "शमत्व" ही (अर्थात् सर्व कर्मों से विरति या निवृत्ति ही) ज्ञान को परिपक्व कर विदेह मुक्ति का परम कारण (साधन) होता है।

[पूर्व श्लोक में कहा गया है कि आरुरुक्षु योगी को योगारोहण के लिये तब तक कर्म अवश्य ही करना पड़ेगा, जब तक वे योगारूढ़ नहीं होते हैं। योगारूढ़ होने से सर्व कर्मों की निवृत्ति होती है। कब तथा किन लक्षणों के द्वारा समझा जायगा कि उस प्रकार निष्काम कर्मी को योगारूढ़त्व सिद्ध हुआ है, वह अब कहा जा रहा है—]

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।। ४ ।।

अन्वय—सर्वसंकल्पसंन्यासी यदा इन्द्रियार्थेषु कर्मसु च न अनुषज्जते तदा हि योगारूढः उच्यते ।

अनुवाद—जिस समय योगी सभी प्रकार के संकल्पों से रहित होते हैं एवं उस कारण इन्द्रियों के भोग्य शब्दादि विषय में उनकी किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रहती है तथा उनको किसी कर्म में भी अनुषंग (यह कर्म मेरा कर्तव्य है, ऐसी बुद्धि से कर्म में आसक्ति) नहीं रहता है तब वे योगारूढ़ कहलाते हैं ।

भाष्यदीपिका—**सर्वसंकल्पसंन्यासी**—इहकाल तथा परकाल के विषयों के लिये चित्त में जो वासनाएँ रहती हैं, उन वासनाओं के मूल में है संकल्प । उन संकलपसमूहों को सम्पूर्ण रूप से त्याग करना ही जिन समाहित योगी का स्वभाव है, वे 'सर्वसंकल्पसंन्यासी' हैं । संकल्प ही सभी काम का मूल है । स्मृति शास्त्र में कहा गया है—"संकल्पमूलाः कामा वै यज्ञाः संकल्प-सम्भवाः । काम जानामि ते मूलं संकल्पात् त्वं हि जायसे । न त्वां संकल्प-यिष्यामि तेन मे न भविष्यसि ।।" अर्थात् सभी प्रकार के काम (वासनाएँ) संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं । हे काम ! मैं तुम्हारे मूल कारण को जान गया हूँ, तुम संकल्प से उत्पन्न होते हो । अतः मैं संकल्प नहीं करूँगा क्योंकि संकल्प न करने से हे काम ! तुम मेरे हृदय में उदय नहीं हो सकोगे । श्रुति में भी कहा गया है 'स यथाकामो भवति, तत् क्रतुर्भवति, यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते (बृह० उ०)' अर्थात् सङ्कल्प से काम (विषयवासना) उत्पन्न होता है, काम उत्पन्न होने पर काम पूर्ण करने की अनुकूल निश्चय करनेवाली बुद्धि (क्रतु) होती है, निश्चयात्मिका बुद्धि होने पर कर्म आरम्भ होता है तथा जैसा कर्म अनुष्ठित होता है वैसा ही फलभोग हुआ करता है । पुनः स्मृति में यह भी कहा है—"यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत् कामस्य चेष्टितम्" अर्थात् लोग जो कुछ कर्म करते हैं वे सभी काम के ही

विलासमात्र हैं। योगारूढ़ होने के लिये 'सर्वसङ्कल्पसंन्यासी' होना पड़ेगा। इस विशेषण के द्वारा सभी कामनायें तथा सभी कर्मों का त्याग करना चाहिए, यही श्री भगवान् प्रतिपादन कर रहे हैं, क्योंकि सङ्कल्प का त्याग होने से सर्व काम का त्याग स्वतः ही हो जाता है एवं सर्व काम का त्याग हो जाने पर सभी कर्म भी परित्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार सभी सङ्कल्पों का जब त्याग हो जाता है तब चित्त किंचित् मात्र भी स्पन्दित (विक्षिप्त) नहीं हो सकता है अर्थात् सर्वसङ्कल्पसंन्यासी होने पर ही आत्मा में निश्चल रूप से चित्त की स्थिति सम्भव है—अन्यथा नहीं, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। इस प्रकार सर्वसङ्कल्पसंन्यासी होकर यदा इन्द्रियार्थेषु कर्मसु च न अनुषज्जते—जब इन्द्रिय के अर्थ में (अर्थात् शब्दादि विषयसमूह में) एवं कर्मसमूह में (नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्ध इत्यादि कर्मों में कोई प्रयोजन न रहने के कारण) आसक्त नहीं होते हैं अर्थात् इन कर्मों को करना मेरा कर्तव्य है, ऐसी बुद्धि के द्वारा प्रेरित होकर उन कर्मों में लिप्त नहीं होते हैं। [जब योगी समाधि के अभ्यास के द्वारा (क) सर्वत्र ब्रह्म को ही (आत्मा को ही) दर्शन करते हैं, (ख) आत्मा में कर्तृत्व या भोक्तृत्व नहीं है, यह निश्चय रूप से अनुभव करते हैं एवं (ग) आत्मव्यतिरिक्त (आत्मा से अतिरिक्त) सकल प्राकृतिक शब्दादि विषयों में तथा उनकी प्राप्ति के लिये जिन कर्मों की आवश्यकता होती है उनमें मिथ्यात्व बुद्धि निश्चय होतो है, तब वे 'सर्वसङ्कल्प-संन्यासी' होते हैं क्योंकि मिथ्या वस्तु के लिये किसी को सङ्कल्प का उदय नहीं हो सकता है। पुनः उस मिथ्या वस्तु के लिये किसी प्रकार आवश्यकता भी रहना सम्भव नहीं है, अतः कोई भोग्य विषय अथवा कर्म उनके निकट उपस्थित होने पर "मैं इस विषय को भोग करूँगा" "मैं इसकी प्राप्ति के लिये इस प्रकार कर्म करूँगा" इत्यादि अनुषंग अर्थात् भोग्य विषय में, अथवा कर्म में अभिमानमूलक आसक्ति नहीं रहती है। (अकस्मात् किसी विषय को देखने के साथ-साथ चित्त की जो तदाकारा वृत्ति होती है एवं उसके बाद चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा उस विषय को ग्रहण करने के लिये जिस क्रिया का आरम्भ होता है उसे अनुषंग (आसक्ति) कहा जाता है] जब ऐसा होता है—'तदा हि योगारूढः उच्यते—तब ही वे योगारूढ अर्थात् योग में प्रतिष्ठित हुए हैं, ऐसा कहा जाता है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर–[योगारूढ़ पुरुष जिसका शम ही कारण है (सर्वकर्मत्याग ही जिसका साधन है) उसका लक्षण क्या है ? इस पर कहते हैं—]

इन्द्रियार्थेषु—इन्द्रियों के भोग्य शब्दादि विषयसमूह में **न कर्मसु**—तथा जो कर्मसमूह उन भोगों के साधन (उपाय) हैं उनमें **यदा**—जब **न अनुषज्जते**—आसक्ति नहीं रखता है या नहीं करता है वह आसक्त नहीं होता है क्योंकि वह **सर्वसंकल्पसंन्यासी** हुआ है अर्थात् सर्व भोग्य विषयों में तथा सर्व कर्म विषयों में आसक्ति का मूल जो संकल्प है उस मूलीभूत संकल्प को (पूर्ण रूप से) त्याग देना उसका स्वभाव बन गया है। जब वह पुरुष इस प्रकार होता है (अर्थात् भोगों और कर्मों में आसक्त नहीं होता) **तदा**—तब उसको **योगारूढः उच्यते**—योगारूढ़ (ज्ञाननिष्ठ) कहा जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—केवल बाह्यविषयों से उपरतिरूप शम नामक साधन का अवलम्बन कर जो यति योगारोहण के लिये अभ्यास करते रहते हैं उनके योगारूढ़त्व की सिद्धि कब होगी ? ऐसी आकांक्षा होने पर (प्रश्न होने पर) उसके उत्तर में कह रहे हैं कि जब सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि के द्वारा कर्मों में तथा विषयों में मिथ्यात्व बुद्धि उत्पन्न होने से यति की प्रवृत्ति नहीं होती तब उनके योगारूढ़त्व की सिद्धि होती है अर्थात् आरुरुक्षु योगी योगारूढ़ होते हैं।

सर्वसंकल्पसंन्यासी—द्रव्य, गुण तथा कर्मादि विषयों में समीचीनत्व-बुद्धि से संकल्प का उदय होता है। [अतः द्रव्य, गुण, कर्मादि को विषय करनेवाली समीचीनत्व बुद्धियाँ को ही संकल्प कहा जाता है] सर्व-संकल्प का अर्थात् सर्व विषयों का संकल्प संन्यास करने का (त्यागने का) शील (स्वभाव) जिनका है वे 'सर्वसंकल्पसंन्यासी' हैं। अधिष्ठानभूत ब्रह्म के याथात्म्यदर्शन (यथार्थ स्वरूप के ज्ञान) से ब्रह्म में जो कुछ द्रव्यादि आरोपित होते हैं उनका मिथ्यात्व निश्चय होने पर शुक्ति में आरोपित रजत का मिथ्यात्व जानने से जिस प्रकार रजत प्रतीति आभासमात्र होती है उसी प्रकार सर्व वस्तु ब्रह्म में (आत्मा में) आभासमात्र प्रतीत होने पर तत्त्वज्ञानी को उन सब वस्तुओं में समीचोनत्वबुद्धिरूप संकल्प उत्पन्न नहीं होते हैं। विषयसम्बन्धी सभी काम इस संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि स्मृति शास्त्र में कहा गया है—'संकल्पमूलाः कामा वै यज्ञाः संकल्प-सम्भवाः' (काम समूह का मूल अर्थात् कारण है संकल्प। इसलिये यज्ञसमूह निश्चय ही संकल्प से उत्पन्न होते हैं)। अतएव प्रत्यग्दृष्टि के द्वारा सकल वस्तु के ब्रह्ममात्र होने के कारण संकल्प का कोई आश्रय नहीं रहता है। [जगत् का मिथ्यात्व निश्चय होने पर संकल्प फिर कौन जागतिक विषय का आश्रय कर (अवलम्बन कर) उत्पन्न होगा ?] अतः निराश्रय होने के कारण सर्वसंकल्प त्यक्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में 'सब कुछ ब्रह्म ही है'

इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदर्शनशील ब्रह्मविद् यति यदा—जिस समय इन्द्रियार्थेषु—इन्द्रियसमूह के विषयों में अर्थात् कहीं भिक्षाटनादि के लिये गमन करने से शब्दादि विषय अनुभूत होने पर उन सब विषयों में तथा कर्मसु च—कर्म-समूह में भी अर्थात् कहीं वासना के द्वारा स्नान, शौचादि कर्म कर्तव्य के रूप से प्रतीत होने पर भी उन सब कर्मों में न अनुषज्जते—भोक्ता, भाजन तथा भोज्य में, एवं कर्ता, करण तथा कार्य में मिथ्यात्वबुद्धि रहने के कारण स्वयं अनुषंग अर्थात् आसक्ति नहीं करते हैं। 'मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ, इस प्रकार भोक्ता तथा कर्ता के साथ तादात्म्यप्राप्ति का नाम अनुषंग है। इस प्रकार अनुषंग नहीं करते हैं किन्तु असंग तथा उदासीन रूप से सर्वत्र साक्षीभूत होकर अर्थात् कर्ता, कर्म, करण एवं भोक्ता, भोज्य, भोजन इन सभी का केवल साक्षी या द्रष्टा के रूप से स्थित रहते हैं। अथवा—पूर्व-संस्कारानुरूप जो प्रवृत्ति होती है उसका नाम अनुषंग है। इस प्रकार अनुषक्ति (आसक्ति) नहीं करते हैं। प्रवृत्ति का मूल (कारण) है काम तथा काम का मूल है संकल्प। और संकल्प का उदय होता है विषयों में समीचीनत्व (सत्यत्व) बुद्धि से। अतएव सभी संकल्पों का आश्रय है विषय। आश्रय के (विषयों के) मिथ्यात्वविज्ञान होने से सर्वसंकल्प आश्रयहीन होने के कारण उनका त्याग हो जाता है। तब विद्वान् को शब्दादि विषयों में एवं कर्मसमूह में अनुषंग (प्रवृत्ति) न होना युक्त (स्वाभाविक) ही है क्योंकि कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव होता है, यही न्याय (नियम) है। अथवा सर्वसंकल्पसंन्यासी—अधिष्ठान का यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण अर्थात् अधिष्ठान के सम्बन्ध में अज्ञानरूप दोषहेतु शुक्ति में रजत-भ्रान्ति के समान निर्विशेष अद्वितीय परब्रह्म में जो घट, पट, कुड्य इत्यादि भ्रान्ति से सम्यक् प्रकार से कल्पित होते हैं वही संकल्प (अर्थात् विपरीत-प्रत्यय) हैं। उन सब संकल्पों को (विपरीत प्रत्ययों को) त्याग करने का अर्थात् चिद्वृत्ति के द्वारा (सब कुछ चैतन्यस्वरूप ही है इस प्रकार वृत्ति के द्वारा) ब्रह्म में लय करने का शील (स्वभाव या अभ्यास) जिनका है अर्थात् विजातीय प्रत्यय का विनाश कर के सजातीय प्रत्यय की आवृत्ति जो करते रहते हैं, वे सर्वसंकल्पसंन्यासी हैं। अभिप्राय यह है कि—विपरीतप्रत्यय का निरसन (त्याग) पूर्वक सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप निष्ठा में जो ब्रह्मविद् यति प्रवृत्त रहते हैं वे स्वयं सर्वसंकल्पसंन्यासी हैं। इस प्रकार यति यदा—जिस समय अर्थात् जो बुद्धिवृत्ति सर्वत्र ब्रह्ममात्र को ही ग्रहण करने के लिए अभ्यस्त हुई है वह जब स्थिरता को प्राप्त होती है उस अवस्था में इन्द्रियार्थेषु—इन्द्रिय-

समूह के अर्थ में अर्थात् विषयों में (आभासरूप से प्रतीत विषयों में) एवं कर्मसु—कर्मसमूह में अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा तत्-तत्—विषय-ग्रहणरूप कर्मों में भी न अनुषज्जते—अनुषक्ति नहीं करते हैं (आसक्त नहीं होते हैं)। अकस्मात् कोई विषय दृष्ट होने पर उस विषय के अनुरूप पुनः चित्तवृत्ति की जो परिणति होती है उसीको अनुषक्ति (अनुषंग) कहते हैं। अतः अनुषक्ति नहीं करते हैं इसका अर्थ है कि—चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा तत्तत् विषयों की ग्रहणरूप क्रिया नहीं करते हैं, किन्तु दृष्टविषय समूह को एवं विषयाकारावृत्तिसमूह के द्रष्टा को भी (अर्थात् द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन को) प्रत्यावृत्त कर (लौटा कर) ब्रह्म में लीन करते हैं। इस प्रकार द्रष्टा, दर्शन, दृश्यादि के भेद के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत सम्पूर्ण विश्व को जब ब्रह्ममात्र ही देखते हैं तदा—उस समय योगारूढः उच्यते—सभी वस्तुओं में तथा अपने में जो अप्रतिबद्ध (अखंड) एकमात्र ब्रह्माकार प्रत्यय (ब्रह्माकारा-वृत्ति) होता है उसे योग कहा जाता है। इस प्रकार योग में आरूढ़ अर्थात् प्रतिष्ठित होते हैं। इसलिये उनको योगारूढ़ कहा जाता है। 'ये स्थितप्रज्ञ जीवन्मुक्त हैं'—इस प्रकार पण्डित लोग परस्पर कहा करते हैं, यही 'उच्यते' शब्द का तात्पर्य है। हि—'विजानन् विद्वान् भवते नातिवादि' ब्रह्म को जानकर विद्वान् अतिवादी नहीं होते अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त (ब्रह्म के अतिरिक्त) अन्य किसी वस्तु के सम्बन्ध में बातें नहीं करते हैं। 'आत्मक्रीडः आत्मरतिः क्रियावान्' (आत्मा में ही क्रीड़ा, आत्मा में ही रति करते हैं एवं इस प्रकार क्रियावान् होते हैं) इत्यादि श्रुतिवाक्य योगारूढ़ के सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं, यह सूचित करने के लिये 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(३) **नारायणी टीका**—'योगारूढ़' शब्द का अर्थ है आत्मा में निरन्तर स्थित रहना अर्थात् चित्त जब आत्मा में ही स्थिर रहता है—आत्मा में ही सदा समाहित रहता है तब योगी को योगारूढ़ कहा जाता है। इस अवस्था में (क) चित्त आत्मा में पूर्णरूप से लय होने के कारण सभी सङ्कल्प त्यक्त हो जाते हैं (ख) सर्वसङ्कल्पत्याग होने से इन्द्रियभोग्य शब्दादि विषयों में किसी प्रकार की आसक्ति रहना सम्भव नहीं है क्योंकि सङ्कल्प नहीं रहने से काम (वासना) नहीं रहता है एवं (ग) काम (विषयासक्ति) नहीं रहने से कर्म में अनुषंग ('यह कर्म मेरा कर्तव्य है' इस प्रकार की बुद्धि) नहीं रह सकता। क्योंकि काम को (वासना को) पूर्ण करने की चेष्टा को ही कर्म कहा जाता है। चित्त का स्वरूप है चंचलता। इस चञ्चलता का मूल कारण है सङ्कल्प। अतः केवल कर्मत्याग तथा इन्द्रिय का

निरोध करने से ही चित्त स्थिर नहीं होता है। विषयभोगवासना के मूलभूत जो सङ्कल्प हैं उन सङ्कल्पों से यदि चित्त मुक्त हो जाय तभी चित्त की स्थिरता सम्भव है। चित्त स्थिर होने से समाधि की अवस्था प्राप्त होकर आत्मा में लय हो जाता है क्योंकि चित्त की यथार्थ सत्ता आत्मा ही है। जैसे तरंग जल के विना अन्य कुछ भी नहीं है, चित्त भी उसी प्रकार आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। चित्त माया या अज्ञान से उत्पन्न होता है। परिपूर्ण नित्य आत्मा में अपूर्ण अनित्य विश्व का स्थान नहीं रह सकता है। इसलिये यह विश्व कल्पना का विलासमात्र है। सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा अनन्तस्वरूप ब्रह्म में अर्थात् अखंड अपरिच्छिन्न अद्वय, परिपूर्ण चिदानन्दस्वरूप में जब माया का (कल्पनाशक्ति का) तरंग उपस्थित होता है तब उसे चित्त कहा जाता है। चित्त की स्पन्दनरूप कल्पना जब घनीभूत होती है तब दृश्य प्रपंच भासमान होते हैं। अत एव 'आत्मनि इदं कल्पितम् इद्रजालं चराचरं भाति मनोविलासम्' अर्थात् आत्मा के उपर यह जो चराचररूप विश्व दीख रहा है वह कल्पित इन्द्रजाल स्वरूप मनोविलास मात्र है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है और चित्त जड़ है—इन दोनों का मिश्रण कभी सम्भव नहीं है। तथापि आत्मा पर चित्त की चंचलता के कारण एक मिथ्या जगत् का आरोप देखा जाता है। चित्त के कर्मसमूह आत्मा में आरोपित होने पर ऐसी प्रतीति होती है कि आत्मा ही सब कुछ कर रही है और आत्मा का चैतन्य चित्त में आरोपित होकर चित्त तथा उसका कार्य (देहेन्द्रियादि) चेतनवत् प्रतीत होते हैं। वास्तविक रूप से वे सब मिथ्या कल्पनामात्र हैं क्योंकि आत्मा स्वरूपतः असंग, अविकारी तथा निष्क्रिय है। तथापि जब अज्ञान का आश्रय कर आत्मा अहंकार के द्वारा विमूढ़ होकर चित्त के धर्म को अपने में आरोप कर "मैं सुखी हूँ", "मैं दुःखी हूँ" इत्यादि मिथ्या भावना करती है तब वह 'जीव' बन जाती है। शास्त्र तथा गुरु की कृपा से एवं दीर्घकाल श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के फल से आत्मा से भिन्न सब कुछ अवस्तु या मिथ्या है, यह बाध जब संशयरहित होकर दृढ़ होता है तब योगी के हृदय से सर्व संकल्प स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं एवं चित्त भी तब आत्मा में लय प्राप्त करता है। तब योगी आत्मव्यतिरिक्त (आत्मा के अतिरिक्त) अन्य कुछ भी नहीं देखता, अन्य कुछ भी नहीं सुनता तथा अन्य कुछ भी नहीं जानता है—तब योगी भूमा में अर्थात् अमृतस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म में प्रतिष्ठित रहता है (छा० उ० ७।२४।१) अत एव आत्मातिरिक्त किसी भी विषय का अस्तित्व उनकी दृष्टि में न रहने के कारण उनमें किसी विषयभोग की कामना नहीं रह सकती। इसलिये किसी

विषय के सम्बन्ध में उनकी आसक्ति भी नहीं रहती है। फिर विषय की आसक्ति न रहने के कारण उनका कर्तव्य कर्म भी कुछ नहीं रहता है इसी को योगारूढ़ की अवस्था कही जाती है।

[योगारूढ़ होने से क्या होता है ? जब मनुष्य इस प्रकार योगारूढ़ हो जाता है तब वह अपना इस अनर्थसमूहपूर्ण संसारसमुद्र से स्वयं उद्धार कर लेता है इसलिये आत्मा का आत्मा के द्वारा उद्धार करने के लिये प्रयत्न करना सभी का कर्तव्य है, यही अब कहा जा रहा है—]

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अन्वय—आत्मना आत्मानम् उद्धरेत् आत्मानम् न अवसादयेत्। हि आत्मा एव आत्मनः बन्धुः, आत्मा एव आत्मनः रिपुः ।

अनुवाद—आत्मा के द्वारा आत्मा का (अपना अपने को संसार से) उद्धार करो। आत्मा को (अपने को) नीचे की ओर (विषयसमुद्र में) नहीं जाने दो क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु (मित्र) तथा आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

भाष्यदीपिका—आत्मना–विवेकयुक्त मन के द्वारा आत्मानम्–(संसार-समुद्र में निमग्न स्वीय जीवात्मा को) उद्धरेत्—ऊर्ध्व की ओर (उपर की ओर) ले जाना चाहिये अर्थात् योगारूढ़ की अवस्था प्राप्त होकर संसार के अनर्थों से उद्धार करना चाहिये। आत्मा पूर्ण तथा सच्चिदानन्दस्वरूप है। अविद्या तथा उससे जात (उत्पन्न) संसार प्रपंच के सहित किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखकर निज स्वरूप में (सच्चिदानन्द स्वरूप में) अवस्थान करने से ही आत्मा का उद्धार होता है। वही मोक्ष है। निरन्तर इस—आत्मा या ब्रह्म के साथ योग के द्वारा (युक्त रहने के अभ्यास द्वारा) प्रत्येक मोक्ष-कामी व्यक्ति को हो स्वरूप में स्थिति-लाभ करने के लिये प्रयत्न करना अवश्य-कर्तव्य है, यही श्रीभगवान् कह रहे हैं। आत्मानम्—संसार के मोहजाल में पतित आत्मा को न अवसादयेत्—नीचे की ओर नहीं गिरने देना चाहिए। अनादि अविद्या के वशवर्त्ती होकर विषय-वासना के द्वारा चालित होकर आत्मोद्धार के प्रतिकूल बहिर्मुखी प्रवृत्ति का दास होकर, अपना अधःपतन नहीं करना चाहिए। हि—चूँकि आत्मा हि आत्मनः बन्धुः—आत्मा ही आत्मा का बन्धु है अर्थात् 'अपना ही अपना मित्र है'। विवेकयुक्त आत्मा (मन) ही आत्मा को (जीवात्मा का) परमात्मा के साथ मिलाकर योगारूढ़त्व

सम्पादन कर संसारचक्र से त्राण (रक्षा) कर सकता है। बाहर के अन्य कोई बन्धु या मित्र संसार से मुक्त नहीं कर सकते। वरं सांसारिक बन्धु भी स्नेहादि के बन्धन में बद्ध कर मुक्ति के पथ में प्रतिकूल होता है। इसलिये श्रीभगवान् ने निश्चय कर कहा कि आत्मा ही आत्मा का बन्धु है। ('एव' शब्द निश्चयार्थ में प्रयुक्त हुआ है)। जैसे कि रोगग्रस्त कोई व्यक्ति अन्य के द्वारा पथ्य या औषधि इत्यादि ग्रहण कराकर रोगमुक्त नहीं हो सकता है उसी तरह निजकृत श्रवण-मनन-निदिध्यासन तथा समाधिनिष्ठा के विना पुत्र, कलत्र इत्यादि अथवा बाहर के किसी मित्र के द्वारा कोई भी जीव उद्धार प्राप्त नहीं हो सकता। स्वीय अविद्या के द्वारा जन्ममरणरूप दुःख-प्रवाह में पतित होकर आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन त्रिताप में (तीन प्रकार के तापों में) सन्तप्त आत्मा को आप ही संसार-दुःखों से मुक्त कर मोक्षरूप अतिशय सुख में बद्ध कर सकता है इस कारण आत्मा को "बन्धु" कहा गया है। 'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैव आत्मा विशते ब्रह्मधाम" अर्थात् इन सब उपायों को जानकर जो विद्वान् (स्वरूप की स्थिति के लिये) प्रयत्न करते हैं उनकी आत्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश करती है इत्यादि श्रुतिवाक्य भी यह ही प्रतिपादन करता है। आत्मा को आत्मा के द्वारा उद्धार करने के सम्बन्ध में इस प्रकार अनेक श्रुति वचन प्रसिद्ध हैं। इसी प्रसिद्धि का प्रकाश करने के लिये 'हि' शब्द का प्रयोग किया है। आत्मा एव आत्मनः रिपुः— आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। कोशकार (रेशम का कीड़ा) जैसे अपने जाल में आप ही फँसकर अपनी मृत्यु का कारण बन जाता है और इसलिये वह स्वयं ही अपना शत्रु होता है उसी प्रकार विषयरूपबन्धनागार में (कारागार में) जीव स्वयं ही अपने को प्रविष्ट कर आप ही अपना शत्रु बनता है (अहितकारी बनता है) जो कोई दूसरा अनिष्ट करने वाला बाह्य शत्रु है वह भी अपना ही बनाया हुआ होता है [कल्पना से काम (विषय वासना) उत्पन्न होता है। जो उस काम-पूरण का सहायक होता है वह प्रिय है अर्थात् बन्धु (मित्र) है। और जो उसे पूर्ण करने में प्रतिकूल है वह अप्रिय अर्थात् द्वेष्य या शत्रु है इसलिये शत्रुत्व तथा बन्धुत्व के मूल में कल्पना ही है। अतः वे भी मन का विलासमात्र हैं। जिनका मन कल्पनारहित हुआ है एवं जो समाधि में अखंण्ड अद्वय हैं और जिन्होंने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है उनको बाहर का शत्रु या मित्र नहीं रह सकता है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से जब जीव शान्त, दान्त इत्यादि साधन-सम्पत्ति के द्वारा आत्मा का उद्धार करने के लिये समाधि का अभ्यास नहीं करता है

अर्थात् आत्मा में ही स्थित नहीं रहता है तब ही वह आप ही अपना शत्रु बनता है] । (बहिश्चित्त) आत्मा ही आत्मा का (अपना) शत्रु है (दूसरा कोई नहीं) इस प्रकार भगवान् ने 'एव' शब्द के द्वारा अवधारण (निश्चय) करके जो कहा, वह युक्तिसंगत ही है ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[अतएव विषयासक्ति के त्याग में मोक्ष और विषयासक्ति में बन्धन—इस बात की पर्यालोचना कर (विशेष रूप से विचार कर) रागादि के स्वभाव का परित्याग करने का उपदेश दे रहे हैं—] आत्मना—विवेकयुक्त मन के द्वारा आत्मानम्—संसार में मग्न आत्मा को उद्धरेत्—संसार से उद्धार करना चाहिए । न आत्मानम् अवसादयेत्—आत्मा को अधःपतित नहीं करना (नीचे की ओर नहीं ले जाना) चाहिए । हि आत्मा एव—क्योंकि आत्मा ही अर्थात् विषयासक्त मन से उपरत आत्मा ही आत्मनः—अपना बन्धुः—उपकारक (मित्र) है क्योंकि इस प्रकार उपरति के द्वारा आत्मा अपने आप को संसार से उद्धार करने में समर्थ होता है और आत्मा एव आत्मनः रिपुः—[विषयासक्त मन के साथ युक्त (तादात्म्य-प्राप्त) आत्मा ही स्वयं अपनी शत्रु (अपकार करनेवाला) होता है अर्थात् संसार में अपने को बद्ध कर रखता है ।]

(२) शंकरानन्द मुमुक्षु दुर्लभ मनुष्य देह तथा उसमें भी सदसद्विवेक सम्पादन करने योग्य ब्राह्मण देह को प्राप्त कर अपने उद्देश्य (मोक्ष) की सिद्धि के लिये भक्तिपूर्वक अनुष्ठित श्रौतादि सत् कर्म समूह के द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न कर उन्हीं के प्रसाद के द्वारा सम्पन्न होकर शमादि साधन सम्पत्ति से सद्गुरु के पास से वेदान्त वाक्य श्रवण तथा मनन कर "मैं ब्रह्म ही हूँ" इस प्रकार अपनी आत्मा को ब्रह्मस्वरूप ही जानकर योगारूढ़ होता हुआ चिदेकरसब्रह्म रूप से ही जब स्थित रहता है तब वह अवश्य ही संसारदुःखसागर में मग्न आत्मा का स्वयं उद्धार कर मोक्षरूप साम्राज्य-सुख में संस्थापन करने में समर्थ होता है । इसलिये विवेकसम्पन्न ब्राह्मणादि मुमुक्षुगणों का मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, विवेकित्वादि की सिद्धि की सफलता के लिये सब कुछ त्याग कर प्रयत्नपूर्वक संसारसमुद्र में निमग्न आत्मा का उद्धार करना अवश्यकर्तव्य है इसे अब कह रहे हैं—

आत्मानम्—पुत्रमित्रकलत्रादि विषयरूप महामोह की सैकड़ों आवर्त्तों (घूर्णी तरंग) के द्वारा (भँवरों से) आकूल, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार और ममकार आदि चित्त के विकाररूप महाग्रहों के द्वारा विस्तृत; विभिन्न प्रकार के महारोगरूप कोटि कोटि तिमिंगिल के द्वारा विराजित; भूख प्यास

आदि महातरङ्गों के द्वारा उद्वेलित; आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तापत्रयरूप निबिड़ (घन) वड़वाग्नि की ज्वालारूप मालाओं से शोभित; अपने इष्टजनों के नाशजनित प्रलापरूप महाध्वनि के द्वारा विघूर्णित (शब्दित); नित्य निरन्तर दुर्वासनारूप शैवाल समूह के द्वारा संकीर्ण (परिव्याप्त) तथा विषयरूप विष के द्वारा परिपूर्ण संसार समुद्र में निमग्न तथा जन्ममृत्युजरादि दुःखों से 'हाय, मैं मर गया' इस प्रकार विलापकारी अपनी आत्मा का आत्मना—(क) श्रद्धा और भक्ति के द्वारा समाराधित परमेश्वर के प्रसादप्राप्त, (ख) सदसद्विवेक, वैराग्य, शमदमादि साधनों से सम्पन्न एव (ग) श्रवणादि से उत्पन्न हुए आत्मज्ञान से सम्पन्न अपनी आत्मा के द्वारा ही उद्धरेत्—उद्धार करे। अपना उद्धार करने के लिये उक्त लक्षणयुक्त आप ही (स्वयं ही) सर्वोत्तम साधन है—दूसरा कोई भी उद्धार कर नहीं सकता है। उक्त लक्षण-युक्त साधकतम (श्रेष्ठसाधक) यदि हो सके तो (मोक्षरूप) कार्य तथा मोक्षानुकूल अन्य सभी साधन सिद्ध होते हैं—अन्यथा नहीं। इसलिये बुद्धिमान् मुमुक्षु स्वयं उक्त लक्षण सम्पन्न होकर अपने से ही अपने आपका उद्धार करें। जैसे महाज्वरादि के द्वारा अत्यन्त दुःख में निमग्न आत्मा का अपने-आप ही प्रतिकूल अपथ्य ग्रहणादि का त्याग कर दिव्य औषध तथा पथ्य के सेवन से निरत रहकर प्रयत्न के द्वारा रोग से उद्धार करता है उसी प्रकार आपस्तम्ब द्वारा कहे गये भूतवर्गों को दाहकारी क्रोधादि दुर्गुण समूह को तथा उन सब के कार्यों का भी (हिंसादि का भी) त्याग कर एवं प्रतिकूल सभी कर्मों का त्याग कर अमानित्वादि आत्मगुणसमूह का (गीता के त्रयोदश अध्याय में ७–११ श्लोकों में उक्त गुणसमूह का) सेवन कर सद्गुरु के पास से नियमपूर्वक वेदान्त महावाक्यों का श्रवणादि कर आत्मज्ञान सम्यक् प्रकार से प्राप्त करके योगारूढ़ होकर अपनी आत्मा को संसारसागर से उद्धार करना होगा—यही कहने का अभिप्राय है। अविद्या तथा अविद्या के कार्यों के सहित लेश मात्र सम्बन्ध न रखकर सच्चिदानन्दैकस्वरूप में अपनी आत्मा का स्थापन ही आत्मा का उद्धार है। स्व-स्वरूप से अवस्थान ही आत्मा का मोक्ष है। अत एव मुमुक्षु को निरन्तर ब्रह्मयोगनिष्ठा के द्वारा उसे (मोक्ष का) सम्पादन करना ही एकमात्र कर्तव्य है। न आत्मानम् अवसादयेत्—अनादि अविद्याजनित वासनाओं के वशवर्ती होकर अर्थात् बहिर्मुख होकर आत्मा को अवसन्न न करे अर्थात् आत्मा को अधोगति प्राप्त न करवावे। जिस प्रकार रोगी जिह्वा-दोष के वेग से अर्थात् प्रबलता के कारण (लालच के कारण) उसी के वशवर्ती होकर अपने आरोग्य के प्रतिकूल अपथ्य भोजन कर अपना आप ही

नाश करता है उसी प्रकार मुमुक्षु यति बाह्य वासनाओं के द्वारा प्रेरित होकर आत्मा के उद्धार के प्रतिकूल बाहर की प्रवृत्तियों में रत होकर अपने आप ही अपना नाश न करें किन्तु 'वाचं यच्छ मनो यच्छ यच्छ प्राणेन्द्रियाणि च। आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने'॥ (वाणी को संयत करो, प्राण तथा इन्द्रियों को संयत करो, आत्मा के द्वारा आत्मा को संयत करो—ऐसा करने से फिर संसार-मार्ग के योग्य नहीं होओगे अर्थात् संसार की गति प्राप्त नहीं होगी) इस न्याय के अनुसार अन्तर्मुख होकर अपने को ही आप (स्वयं) उद्धार करें।

प्रश्न है—अच्छा, पंक में (दलदल में) निमग्न पशु का जैसे उसका प्रभु उद्धार करता है उसी प्रकार भ्राता, पुत्र आदि बन्धु गण कन्यादान, श्राद्धादि के द्वारा आत्मा का उद्धार करेंगे। अतएव अपने प्रयास (प्रयत्न) की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में कह रहे हैं-आत्मनः-अपनी अविद्या के द्वारा जन्ममरणादि दुःखप्रवाह में पतित होकर आध्यात्मिकादि तापत्रयरूप अग्नि से सन्तप्त हो रही है जो आत्मा उस आत्मा का आत्मा एव—आत्मा ही अर्थात् अपना आप ही बन्धुः—संसार दुःख से मुक्त कर निरतिशय मोक्ष सुख के द्वारा बन्धन करने के कारण बन्धु (मित्र) होता है अर्थात् अपने को संसाररूप दुःखसागर से तारनेवाला आप ही है, भ्राता या अन्य कोई भी आत्मा का त्राणकर्ता नहीं है क्योंकि उनके द्वारा किया हुआ श्राद्धादि पुण्य-कर्मों का विषय आत्मा नहीं होती है। अतएव उसके द्वारा आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता है। जिस प्रकार कोई महारोगी स्वयं पथ्यादि सेवन न कर दूसरे के द्वारा पथ्य तथा औषध के सेवन से रोगमुक्त नहीं होता है उसी प्रकार अपने द्वारा कृत (किया हुआ) श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधिनिष्ठा के विना पुत्रादि से अर्थात् पुत्रादि के द्वारा कृत किसी कर्म से आत्मा संसार से उत्तीर्ण नहीं हो सकती है (तारी नहीं जाती)। प्रत्युत (वस्तुतः) स्नेह का आस्पद (आश्रय या पात्र) होने के कारण पुत्रादि बन्धन के हेतु ही होते हैं—मुक्ति के हेतु नहीं बनते हैं। एव—इस कारण से यह अवधारित (निश्चित) होता है कि 'आत्मा ही आत्मा का बन्धु है' क्योंकि यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि अपने को रोग, भूख आदि जनित दुःख की प्राप्ति होने से उसकी निवृत्ति अपने से ही होती है (दूसरे किसी के द्वारा नहीं)। हि—'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैवात्मा विशते ब्रह्मधाम' (जो विद्वान् इन सब उपायों के द्वारा प्रयत्न करते हैं उनकी आत्मा ही ब्रह्मधाम में प्रवेश करती है) इत्यादि श्रुतिवाक्य प्रसिद्ध हैं। इसी प्रसिद्धि को सूचित

करने के लिये 'हि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यदि शंका हो कि 'आत्मा के प्रति आत्मा ही बन्धु है' इस प्रकार के कथन से आत्मा से भिन्न अन्य सभी आत्मा के शत्रु हैं, ऐसा सिद्ध होता है किन्तु आत्मा आत्मा की कहीं भी शत्रु हुई है ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसके उत्तर में कहा जायगा कि यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि अपने उद्धार के लिये जो आत्मा प्रयत्न न कर वहिर्मुख होती है वह आत्मा ही स्वयं अपनी शत्रु हुआ करती है। यही स्पष्ट करने के लिये अब श्री भगवान् कह रहे हैं—

आत्मनः—अपना आत्मा एव शत्रुः—शान्त, दान्त इत्यादि साधन सम्पत्ति के द्वारा आत्मा के (अपने) उद्धार के लिये जो यति समाधि नहीं करते हैं, वे यति स्वयं ही अपने शत्रु बनते हैं। जिस प्रकार जिह्वादोष से (लोभ से) अपथ्यकारी अपना आप ही शत्रु होता है उसी प्रकार जो शम-दमादिसाधनसामग्री का अवलम्बन न करके अपना उद्धार करने का साधन जो ब्रह्मयोगनिष्ठा है उसमें स्थित न होकर अनादि अविद्या की वासना के वेग के द्वारा चालित होकर जो बाह्यविषयों-विदेह मुक्ति के एकमात्र हेतु स्वरूप आत्मज्ञान का निर्मूलन (नाश) करते हैं उन बाह्य विषयों का ही अवलम्बन (आश्रय) करते हैं वे स्वयं अपनी आत्मा का ही शत्रु अर्थात् मारक (नाशक) होते हैं। आत्मा का अपकारी अर्थात् आत्मा का नाश कर सके ऐसा कोई बाहर का शत्रु नहीं है। बहिः शत्रु का (आत्माभिन्न अन्य शत्रु का) रिपुत्व (शत्रुत्व) केवल बाहर के कार्य के प्रति ही सीमित रहता है—मुक्ति के प्रति नहीं। एव—अत एव यह अवधारित (निश्चित) होता है कि 'आत्मा ही आत्मा की शत्रु है'। मुक्ति का हेतु है सार्वात्म्यसिद्धि [अर्थात् "ब्रह्मस्वरूप मैं ही सर्वभूतों की आत्मा हूँ" इस प्रकार साक्षात्ज्ञान या अनुभूति में निरन्तर स्थिति]। इस ज्ञान का प्रतिपक्ष है द्वैतबुद्धि के द्वारा बाह्य विषयों का अवलम्बन या ग्रहण। अत एव आत्मस्वरूप से अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं का जो अवलम्बन करते हैं वे (अपथ्यकारी रोगी के समान) आप ही अपना शत्रु होते हैं—यह कहना युक्तिसंगत ही हुआ है।

हि—अपथ्यकारी रोगी में अपने प्रति अपना शत्रुत्व प्रत्यक्ष दीखता है। यह प्रसिद्धि 'हि' शब्द के द्वारा सूचित हो रही है।

(३) नारायणी टीका—'जो जिसका व्यापक है वही उसकी आत्मा है' (आतनोति व्याप्नोति इति आत्मा)। इन्द्रियशक्ति के द्वारा शरीर व्याप्त होता है, इसलिये इन्द्रिय शरीर की आत्मा है। इन्द्रिय मन के द्वारा व्याप्त होता है, इसलिये मन इन्द्रिय की आत्मा है। मन बुद्धि के द्वारा व्याप्त होता

है, इसलिये बुद्धि मन इत्यादि को आत्मा है। बुद्धि अहंकार के द्वारा व्याप्त होता है, इसलिये बुद्धि, मन, इन्द्रिय तथा शरीर को आत्मा है अहंकार। अहंकार फिर साक्षी चैतन्य या प्रत्यगात्मा के द्वारा व्याप्त होता है, इसलिये साक्षी चैतन्य अहंकार प्रभृति की आत्मा है। विभिन्न टीकाकारों ने इस श्लोक का 'आत्मा' शब्द के सम्बन्ध में विभिन्न अर्थ किया है किन्तु फिर भी तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। प्रकृत आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप है—उसका न तो बन्धन होता है, न तो मुक्ति होती है—न तो कर्तृत्व है और न तो भोक्तृत्व है—न उसका शत्रु है, न तो मित्र। वह तो "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" अर्थात् वह जन्ममरणरहित नित्य है, तथा एकरूप, अविकारी, अनादि पुराण है—शरीर के नाश से उसका नाश नहीं होता है (गीता २।२०)। यह आत्मा जब माया का (अथवा अविद्या का) आश्रय कर अन्तःकरण या इन्द्रिय आदि में अभिमान करती है तब जीव-भाव को प्राप्त होकर कर्ता, भोक्ता इत्यादि रूप से प्रतीत होती है। श्रुति भी यह ही प्रतिपादन करती है, यथा—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठोपनिषद् १।३।४) अर्थात् आत्मा इन्द्रिय, मन आदि से युक्त होकर भोक्ता बन जाती है। माया आत्मा की कल्पनाशक्ति है। अतः जगत् में जो कुछ भी दीखता है, (दिखाई देता है) एवं अनुभव किया जाता है (अर्थात् बाहर का दृश्य पदार्थ तथा भीतर का अन्तःकरण, इन्द्रियादि) ये सभी उसी कल्पना-शक्ति की घनीभूत अवस्था है। उनकी वास्तविक अपनी कोई सत्ता नहीं है—अधिष्ठान सत्ता आत्मा ही (अज्ञानवश) उन रूपों से प्रतीत होती है। अहंकार, बुद्धि, मन इत्यादि के द्वारा भी जो कुछ किया जाता है वह आत्मा में आरोपित होकर आत्मा के धर्मरूप से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः आत्मा निर्विकार तथा अकर्ता है। इस कारण श्रुति तथा पुराण में कहा गया है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तिर्मुक्त्यै निर्विषयं मनः' (वि० पु० ६।७।२८, मैत्रा० उ० ४।३।११) अर्थात् मन ही मनुष्य का बन्धन है तथा मोक्ष का कारण है। जब मन विषयासक्त होता है तब आत्मा के बन्धन का कारण होता है, अतः शत्रु के समान कार्य करता है। पुनः जब मन विषयों का त्याग कर शुद्धचैतन्यस्वरूप में लय होता है तब मुक्ति का हेतु होता है अर्थात् मित्र के समान उद्धार करता है। यहाँ मन-शब्द अन्तःकरण का उपलक्षण है अर्थात् मनशब्द के द्वारा अहंकार, बुद्धि, मन तथा चित्त इन चारों को समझाया जा रहा है। वास्तविक रूप से मन अथवा अन्तःकरण जड़ है। आत्मा का चिदाभास या अभिमान उसमें रहने के

कारण वह चेतन के समान कार्य करता है। यह अभिमान ही जीवत्व है। धनपति सूरी ने इस अभिमानी आत्मा को लक्ष्य कर इस श्लोक का इस प्रकार अर्थ किया है—

आत्मना—अखंडाकारा बुद्धि के द्वारा अर्थात् ब्रह्माकारा वृत्ति के द्वारा आत्मानम्—अहंकार को उद्धरेत्—उत् (ऊर्ध्व की ओर) हरेत् (ले जाओ) अर्थात् देह में आत्मबुद्धि न कर देह से आत्मा को पृथक् कर ब्रह्म में 'मैं ब्रह्म हूँ' इसी भावना से युक्त करो। आत्मानम्—अहंकार को न अवसादयेत्—परिच्छिन्न देह में अभिमान कर अवसन्न मत करो अर्थात् आत्मा को पीड़ा (क्लेश) मत दो चूँकि आत्मैव—आत्मा ही (अहंकार ही ब्रह्म में नियुक्त होने से) आत्मनः बन्धुः—जीव तथा ब्रह्म की एकता सम्पादन कर बन्धु (मित्र) बनता है अर्थात् तत्त्वज्ञान के द्वारा संसार के दुःखों से त्राण करता है। पुनः आत्मैव रिपुरात्मनः—जब परिच्छिन्न देह में अभिमान कर अविद्या, काम, कर्म क्लेश के द्वारा पीड़ित होता रहता है तब जन्ममरणादि अनर्थ-समूह का कारण बन कर वह अहंकार ही आत्मा का (जीव का) शत्रु होता है।

[आत्मा ही आत्मा का बन्धु अर्थात् मित्र है तथा आत्मा ही आत्मा का शत्रु है—यह पूर्व श्लोक में कहा गया है। अब प्रश्न होगा किस प्रकार के लक्षणों से विशिष्ट पुरुष स्वयं अपना बन्धु-मित्र बनता है तथा किस प्रकार लक्षणविशिष्ट होने से समझा जायगा कि वह पुरुष स्वयं अपना शत्रु हुआ है ?]

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

अन्वय—येन आत्मना आत्मा एव जितः सः आत्मा तस्य आत्मनः बन्धुः। अनात्मनः तु आत्मा एव शत्रुवत् शत्रुत्वे वर्तेत।

अनुवाद—जिस व्यक्ति ने आत्मा के द्वारा (विवेकयुक्त मन के द्वारा) आत्मा के ऊपर देहेन्द्रियादि के ऊपर) विजय प्राप्त कर लिया उसकी आत्मा ही अपना बन्धु (मित्र) के समान उपकारी होती है, किन्तु जो व्यक्ति अजितेन्द्रिय है उसकी आत्मा (अन्तःकरण) शत्रु के समान आत्मा का अहिताचरण (अपकार) किया करती है।

भाष्यदीपिका—येन आत्मना—जिस पुरुष के (जीव के) विवेक-युक्त मन के द्वारा आत्मा एव—कार्यकारणसंघातरूप आत्मा ही (अर्थात् शरीर इन्द्रियादि कार्य एवं मन इत्यादि कारणसमूह) जितः—वशीकृत हुआ है

अर्थात् जिस व्यक्ति ने सम्पूर्ण रूप से अपने शरीर, वाक्य तथा मन को जीत लिया है सः आत्मा—वह जितेन्द्रिय पुरुष आत्मनः—पहले जो 'मैं मेरा' कहकर संसार में मोहवश भ्रमण कर रहा था उस जीवात्मा का बन्धुः—बन्धु है अर्थात् संसार से तारक अर्थात् त्राणकर्ता होता है [जो पुरुष अज्ञान के कारण पहले देह के, इन्द्रिय के तथा अन्तःकरण के धर्म में 'अहं' बुद्धि कर (अभिमान कर) मैं रोगी हूँ, मैं बधिर हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि एवं मेरा पुत्र, मेरी सम्पत्ति इत्यादि 'मैं तथा मेरा' बुद्धि रखकर वासना तथा प्रवृत्तियों का दास बनकर संसाररूप दुःखसमुद्र में निमग्न (डूबा हुआ) था वह ही जब स्वधर्म का पालन कर चित्तशुद्धि प्राप्त कर वैराग्य तथा अभ्यास के द्वारा प्राप्त हुए समाधि-योग से अपना ब्रह्मस्वरूप (सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त स्वरूप) आत्मा को जानता है एवं उसी में अहं-बुद्धि रखता है तब वह स्वयं ही अपने को त्राण (रक्षा) करता है अर्थात् जितेन्द्रिय होकर अज्ञानान्धकार (अज्ञानरूपी अन्धकार) से आत्मा को मुक्त करता है। इसलिये वह आत्मा का बन्धु है। अभिप्राय यह है कि जिसका देहेन्द्रियादि संघात वशीकृत हुआ है अर्थात् जो पुरुष जितेन्द्रिय है उसका विक्षेप न रहने के कारण वह आत्मस्वरूप में समाहित रहकर (अर्थात् ब्राह्मी स्थिति लाभ कर अपने को मुक्त कर सकता है। इस कारण वह आत्मा का बन्धु (मित्र) है (आनन्दगिरि)]। अनात्मनः—जिसके शरीर, वाक्य तथा मन इत्यादि वशीकृत नहीं हुए हैं उस संसार में निमग्न आत्मा का आत्मा एव—स्पयं आप ही शत्रुवत्—बाहर के शत्रु की समान शत्रुत्वे वर्तेत—उच्छृंखल प्रवृत्तियों से अनिष्टाचरण कर शत्रुत्व करता रहता है। जैसे कि बाहर का शत्रु अपकारी हुआ करता है उसी प्रकार अनात्मा का अर्थात् अजितेन्द्रिय व्यक्ति की आत्मा स्वयं अपना शत्रु होती है अर्थात् अपना ही अपकार करती है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[किसकी आत्मा बन्धु है तथा किसकी आत्मा शत्रु है ? यह कहा जा रहा है—]

येन आत्मना एव आत्मा जितः—जो पुरुष आत्मा के द्वारा [विवेक-युक्त मन के द्वारा] आत्मा को अर्थात् कार्यकारण संघातरूप आत्मा को (देहेन्द्रियादिरूप कार्य तथा मन आदिरूप कारण, इनके समष्टिरूप आत्मा को) वश में किया हुआ है तस्य आत्मा आत्मनः बन्धुः—उसका तथाभूत आत्मा का अर्थात् वशीकृत कार्यकारणसंघातरूप आत्मा का आत्मा बन्धु है। अनात्मनः तु आत्मा एव शत्रुवत् शत्रुत्वे वर्तेत—किन्तु अजितात्मा का

[जिनका मन वशीभूत न रहने के कारण उच्छृङ्खल रहता है उनका] आत्मा ही (स्वयं ही) शत्रु के समान अपने शत्रुभाव में अर्थात् अपकार-साधन में प्रवृत्त होता है (लगा रहता है)।

(२) शंकरानन्द—आप ही अपना बन्धु तथा शत्रु है, इस प्रकार जो कहा गया है उसे अब विशेषरूप से स्पष्ट किया जा रहा है—

तस्य आत्मनः—जो सब गुणसमूह बन्धन का कारण होते हैं उन अनादि अविद्याजनित वासनाओं से तथा रागद्वेषादिरूप बन्धनकारी गुणों से इन्द्रियों के वशीभूत होकर देहेन्द्रियादि की स्वाभाविक प्रवृत्ति को ही अपना इष्ट मानकर जो आत्मा (जीवात्मा) संसारचक्र में भ्रमण करती रहती है उस आत्मा का **येन आत्मना**—जो आत्मा सदसद्विवेक से सम्पन्न होकर, तीव्र वैराग्य से युक्त होकर, मोक्ष की इच्छा कर, श्रवणादि द्वारा आत्मतत्त्व विज्ञात हुआ है एवं अमानित्वादि गुणसम्पन्न हुआ है उस आत्मा के द्वारा **आत्मा एव जितः**—रागद्वेषादि दोष समूह का अभिभव करके (पराजय या नाश करके) आत्मा को अर्थात् कार्यकारणसंघातरूप (देहेन्द्रियादि के संघातरूप) आत्मा को निःशेष जीत लिया जाता है । **सः आत्मा बन्धुः**—वह आत्मा बन्धु है। कार्यकारणसंघातरूप आत्मा का जय तो उस संघात की प्रवृत्ति के प्रतियोगी (विरोधी) गुणों का अवलम्बन कर करना होगा । जैसे—देह, सिर एवं ग्रीवा को सम (सरल) रूप से धारण करने से तथा धैर्य धारण करने से देह की प्रवृत्ति का जय होता है; प्राणायाम तथा शान्ति (निवृत्ति) के द्वारा प्राण की प्रवृत्ति का जय किया जाता है; वैराग्य तथा शान्ति के द्वारा इन्द्रियों की तथा मन की प्रवृत्ति का जय किया जाता है; सत् तथा असत् वस्तु के विवेक से जो विज्ञान उत्पन्न होता है उसके द्वारा तथा तीव्र मोक्ष की इच्छा के द्वारा बुद्धि की प्रवृत्ति का जय होता है; और ब्रह्म में ही आत्मभाव के द्वारा अहंकार की प्रवृत्ति का जय करना चाहिये । इस प्रकार कार्यकरणसंघातरूप आत्मा जिसके द्वारा वशीकृत होता है उस कार्य करण संघात का जेता आत्मा पूर्वोक्त 'मैं, मेरा' इत्यादि के रूप से संसार में भ्रमणशील आत्मा का बन्धु अर्थात् तारक (त्राणकर्त्ता) होता है । अपने को त्राण करने वाला एकमात्र ज्ञान ही है उस ज्ञान के अप्रतिबन्धत्व (अविच्छिन्नत्व, अखंडत्व) की सिद्धि के लिये समाधिनिष्ठा की आवश्यकता है; उस समाधिनिष्ठा के प्रतिकूल (प्रतिबन्धक) होती है वासनाजनित (वासना से उत्पन्न) कार्यकरणसंघात की प्रवृत्ति चूँकि वह आत्मा समाधिनिष्ठा के प्रतिकूल वासनाकृत कार्यकरण संघात की

प्रवृत्ति। चूँकि वह आत्मा समाधिनिष्ठा के प्रतिकूल वासनाकृत कार्यकरण संघात की प्रवृत्ति को निग्रह (दमन) कर समाधि में ही प्रवृत्त होता है, इसलिए वह आत्मा अपना बन्धु है। इसके द्वारा सूचित होता है कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि जब अनुकूल होते हैं तब ही समाधि, ज्ञान तथा मोक्ष सिद्ध होते हैं—अन्यथा नहीं। इसलिए मुमुक्षु यति को प्रतियोगी (विरोधी) गुण समूह के अवलम्बन द्वारा देह, इन्द्रिय आदि को जय करना अर्थात् उनपर विजय प्राप्त करना अवश्य कर्तव्य है। इसलिए जो व्यक्ति देहेन्द्रियादि को जय (वशीभूत) नहीं कर सकता है, वह आप ही अपना शत्रु होता है। यही अब कह रहे हैं—अनात्मनः तु शत्रुत्वे (सति) किन्तु अनात्मा (देह इन्द्रियादि) अपनी-अपनी वासनानुरूप प्रवृत्तियों के द्वारा जब शत्रु के समान व्यवहार करते हैं तब वे समाधिनिष्ठा के प्रतिकूल होने से उन देहेन्द्रियादि की प्रवृत्तियों के अनुसारी आत्मा अपि—आत्मा भी संसारमग्न आत्मा का अर्थात् आप ही अपना शत्रुवत् वर्त्तते—शत्रुतुल्य होता है। जैसे विरोधी पथ्य का अनुसरणकारी रोगी आप ही अपना शत्रु होता है उसी प्रकार यह आत्मा भी अपने उद्धरण के (मुक्ति के) प्रतिकूल देहादि की प्रवृत्तियों को अनुसरण करने से आप ही अपना शत्रु होता है। 'नाविरतो दुश्चरितात्' (जो दुश्चरित से विरत नहीं हुआ है वह ज्ञान-लाभ नहीं कर सकता है), 'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः' (प्राज्ञ वाणी को मन में लय करे) 'वाचं यच्छ' (वाणी को संयत करे) इत्यादि श्रुति स्मृतियों के द्वारा कहे गये मोक्ष-मार्ग का अनादर कर वासना के अनुसार अपनी मुक्ति के प्रतिकूल बाह्य विषयों के प्रति प्रवृत्ति में ही अज्ञ-व्यक्ति रत (युक्त) रहता है, इसलिए यहाँ जो कहा गया है कि आत्मा के प्रति आत्मा शत्रु होता है यह युक्ति-संगत ही है। चूँकि ऐसा होता है इसलिए श्रवणादि जनित ज्ञान से सम्पन्न होकर मुमुक्षु यति को विदेहकैवल्यसिद्धि के लिये कर्ता, करण, भोक्ता, भोग्य आदि सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों में मिथ्यात्वबुद्धि के द्वारा तथा तीव्र वैराग्य के द्वारा जो मिथ्या वस्तु को ही विषय करता है तथा जो संसार-बन्धन का हेतु होता है उस बाह्य प्रवृत्ति का निग्रह कर (रोक कर) ब्रह्मयोगनिष्ठा में स्थित रहकर प्रयत्नपूर्वक आत्मा का उद्धार करना अवश्य कर्तव्य है, यह सिद्ध हुआ। शंका—'उद्धरेदात्मनात्मानम्' (आत्मा के द्वारा आत्मा का उद्धार करना होगा) ऐसा कहने से तो एक ही आत्मा में कर्तृत्व तथा कर्मत्व का प्रसंग होगा अर्थात् एक ही आत्मा उद्धार का कर्ता तथा उद्धाररूप क्रिया का कर्म होगा किन्तु ऐसा होना लोक तथा शास्त्र से विरुद्ध है क्योंकि जैसे कोई अपने कंधे पर स्वतः आरोहण नहीं कर सकता

(चढ़ नहीं सकता), उसी प्रकार कोई भी अपने आप का उद्धार नहीं कर सकता है, ऐसा यदि कहूँ ? **समाधान**—तुमने जो कहा वह ठीक है क्योंकि अपने प्रति अपने में कर्त्तृभाव तथा कर्मभाव नहीं हो सकता, तथापि गुणों के भेद रहने के कारण वे दोनों ही (कर्त्तृभाव तथा कर्मभाव) एक ही आत्मा में रह सकते हैं। कैसे वह सम्भव होता है, उसे अब कहा जा रहा है—अज्ञान के द्वारा संसार में पतित आप को शम दम संन्यासादि साधन-सम्पत्ति के द्वारा तथा श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से समुत्पन्न विज्ञान के द्वारा आत्मा का कूटस्थत्व, असंगत्व तथा चिद्रूपत्व अनुभव कर अपने स्वरूप को देहेन्द्रियादि के सम्बन्ध से रहित जानकर आप ही आपको कर्त्तृत्व, भोक्तृत्वादि सम्बन्धों से मुक्त करने के योग्य होता है। जिस प्रकार अज्ञानवश निर्जन (एकान्त) वन में अथवा ह्रद (तालाब) में अथवा अन्यत्र पंक में (दलदल में) पतित होने से विवेकी चतुर पुरुष वृक्ष, वृक्ष की शाखा, लता अथवा अन्य किसी वस्तु का अवलम्बन कर उपाय के द्वारा पंक से (दलदल से) अपने को सम्यक् प्रकार से मुक्त कर लेता है उसी प्रकार विवेकी चतुर मुमुक्षु भी स्वयं अपना उद्धार करने में समर्थ होता है। अतः इस न्याय (युक्ति) के अनुसार तथा भगवान् के वचन के अनुसार इस विषय में कोई विरोध नहीं रह सकता।

(३) **नारायणी टीका**—(क) आत्मा बन्धु तथा शत्रु कब होता है? जीव जब अपने स्वरूप में (नित्यशुद्धचैतन्यस्वरूप में) अविच्छिन्न रूप से अवस्थान कर सकते हैं तब संसार से मुक्त होते हैं। ऐसी स्थिति ज्ञान-निष्ठा के बिना नहीं हो सकती। ज्ञान-निष्ठा निर्विकल्प समाधि के विना (निर्विषय मन के विना) सम्भव नहीं है। चित्त में विक्षेप रहने से समाधि नहीं होती है। जब तक मन, वाणी तथा शरीर आदि की बहिर्मुखी प्रवृत्ति रहती है तब तक विक्षेप (मन की चंचलता) नष्ट नहीं हो सकता। जब स्वधर्म-पालन, निष्काम कर्म, संयम तथा अभ्यास के द्वारा कोई साधक देह तथा इन्द्रियादि को वशीभूत कर, तब चित्त की स्थिरता सम्पादन कर सके तब उस जितेन्द्रिय पुरुष को (जीव को) अपना बन्धु या मित्र कहा जाता है क्योंकि जैसे बाहर के मित्र अपने मित्र का उपकार कर दुःख से मुक्त करते हैं उसी प्रकार जितेन्द्रिय (जितात्मा) पुरुष भी संसार के दुःखों से अपने आप को मुक्त कर सकता है, जिसका देहेन्द्रियादिरूप कार्यकारणसंघात वशीभूत नहीं हुआ है उसके चित्त में विक्षेप रहने के कारण उसके लिये समाधि-प्रज्ञा को (समाधि साधन के द्वारा जो प्रकृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है उसे) प्राप्त करना कभी सम्भव

नहीं होता है। बाहर के शत्रु जैसे सर्वदा अनिष्ट साधन में तत्पर रहकर विभिन्न प्रकार के दुःखों के हेतु होते हैं उसी प्रकार जिनका मन, वाणी, इन्द्रिय आदि असंयत हैं वे भी उस मन, इन्द्रिय आदि की स्व-स्व-वासनारूप प्रवृत्तियों के दास होकर मोक्ष तथा मोक्ष-मार्ग के साधन को (समाधि योग को) अनादर कर मन, देह तथा इन्द्रियादि की तृप्ति के लिये प्रवृत्ति मार्ग में ही निरन्तर (सदा) रत (युक्त) रहते हैं तथा अपनी मुक्ति के प्रतिकूल आचरण करते रहते हैं। इसके फलस्वरूप संसार-सागर में निमग्न अपनी आत्मा का उद्धार करना तो दूर की बात है, क्रमशः भोग, वासना तथा संसार के मोह में आसक्त होकर अधिकतर अधोगति को प्राप्त होते हैं। अत एव जब तक निवृत्ति-मार्ग के पथिक होकर मुमुक्षु नहीं होते हैं तब तक वासना तथा प्रवृत्तियों के द्वारा चालित होकर आप ही अपना महाशत्रु बन कर अपकार करते रहते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक जीव में आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं, यथा—(क) प्रत्यगात्मा—सर्वोपाधिशून्य यथार्थ आत्मा अर्थात् केवल शुद्ध-चैतन्यस्वरूप निर्गुण आत्मा (साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च—श्वेता० उ०), (ख) जितात्मा—जो आत्मा देहेन्द्रिय तथा मन के साथ संयुक्त रह कर भी सकल कार्यकारणसंघात को वश कर समाधि योग के द्वारा निज स्वरूप में स्थित रहती है उसे जीवन्मुक्त आत्मा भी कही जाती है, (ग) संसारी आत्मा अथवा अनात्मा—जो आत्मा अज्ञान तथा मोह से अभिभूत होकर मन, इन्द्रिय तथा शरीर, जो जब इच्छा करे उसे अपनी इच्छा मान लेती है [अर्थात् अनात्मा में (देहादि में) आत्मबुद्धि करती है एवं उस कारण से मन तथा इन्द्रियों की प्रवृत्तियों के द्वारा चालित होकर उच्छृङ्खल रूप से कार्य करती है]। जब तक सदसद्विवेक के द्वारा जागतिक सर्वविषयों में वैराग्य उत्पन्न न हो तथा निवृत्ति-मार्ग का आश्रय न लिया जाय तब तक यह अनात्मा ही जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करती रहती है। इसलिये जितात्मा अपना बन्धु है, अनात्मा अपना शत्रु है। प्रत्यगात्मा निर्विकार है—न बन्धु है, न तो शत्रु है। यह प्रत्यगात्मा ज्ञानस्वरूप है अर्थात् सर्वदृश्य वस्तुओं का द्रष्टा (साक्षी) है, सर्व प्रकाशक (चेताः) है फिर सबको प्रकाशित करके भी सभी दृश्य वस्तुओं से विलक्षण है अर्थात् अपने स्वरूप में सदा ही अवस्थित रहती है (केवलः), बन्धन या मोक्ष उनका स्पर्श नहीं कर सकता है, इसलिये वह निर्गुण है।

आत्मा के द्वारा आत्मा का जय कैसे होता है? संसारी जीव अनात्म-वस्तु में (देह, प्राण, इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, अहंकार में) आत्मबुद्धि

(अहंबुद्धि) कर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पंचकोश से बद्ध रहता है। इन पंचकोश से प्रकृत आत्मा को जब तक पृथक् (अलग) न किया जाय (पंचकोश विवेक न हो) तब तक जीव का मोक्ष या परमात्मा में स्थिति-लाभ करना सम्भव नहीं होता है। इन अनात्म वस्तुओं के साथ यह संयोग अज्ञान के कारण अनादि काल से बना हुआ है, अतः इसके लिये देहादि की (देह, मन, प्राण, इन्द्रियादि की) प्रवृत्तियों को अभ्यास के द्वारा (अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधिरूप उपायों के द्वारा अथवा श्रवण मनन, निदिध्यासन के द्वारा) जय करना पड़ता है क्योंकि उसी से ही जितात्मा होकर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करना सम्भव होता है।

[पूर्व श्लोक में जितात्मा पुरुष को आत्मा का बन्धु (मित्र) कहा गया है। जितात्मा होने से कैसी विशेष अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे अब तीन श्लोकों में कहा जा रहा है।]

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

अन्वय—जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु तथा मानापमानयोः समाहितः (भवति)।

अनुवाद—जो योगी देह तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लिये हैं तथा जिनका अन्तःकरण प्रशांत रूप से स्थित रहता है, उनके शीत उष्ण, सुख-दुःख तथा मान अपमान में भी परमात्मा समाहित होता है (समाधि का विषय होता है) अर्थात् परमात्मा आत्मभाव से प्रकाशित रहता है।

भाष्यदीपिका—**जितात्मनः**—जिन्होंने कार्यकरणादि के संघात रूप आत्मा पर अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन इत्यादि पर विजय प्राप्त कर ली है, उनके **प्रशान्तस्य**—विक्षेप का कोई कारण न रहने के कारण राग-द्वेष से रहित होकर अन्तःकरण प्रशान्त (अर्थात् प्रकृष्ट रूप से शान्त अथवा प्रसन्न) होता है इसलिये ऐसे संन्यासी के हृदय में **परमात्मा**—परमेश्वर या परब्रह्म निरतिशय आनन्दस्वरूप होने के कारण तथा उनके महत्त्व की कोई सीमा नहीं रहने के कारण वे 'परम्' हैं, फिर सभी प्राणियों के हृदय में स्वप्रकाश प्रत्यक्चैतन्यरूप से (द्रष्टा या ज्ञाता के रूप से) सदा विराजते हैं, इसलिये वे 'आत्मा' भी हैं। 'परम्' भी है और आत्मा भी इसलिये शुद्ध

चैतन्यस्वरूप ब्रह्म को परमात्मा कहा जाता है। वे परमात्मा शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु—'शीतोष्णशब्द' चित्त के बाह्य, आधिभौतिक तथा आधिदैविक विक्षेपकारक विघ्न समूह का उपलक्षण करके कहा गया है अर्थात् शीतोष्ण, व्याघ्र (बाघ), सर्प (साँप), दावाग्नि, अनावृष्टि से उत्पन्न विघ्नसमूह को लक्ष्य करके कहा गया है एवं 'सुख दुःख शब्द' के द्वारा आध्यात्मिक भोग को सूचित किया गया है। ये सब भोग भी चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधि के लिये विघ्नकर हैं किन्तु इनकी प्राप्ति होने से भी तथा **मानापमानयोः**—एवं मान अर्थात् स्तुति, पूजा इत्यादि, अपमान अर्थात् निन्दा, तिरस्कारादि ये सभी चित्त के लिये विक्षेपकर हैं किन्तु इन सब की उपस्थिति में इन सब द्वारा शुद्धचैतन्यस्वरूप परमात्मा विचलित न होकर **समाहितः भवति**—सम् (सम्पूर्ण रूप से) आहित (निज स्वरूप में स्थित) रहते हैं अर्थात् साक्षात् आत्मभाव से प्रकाशित होते हैं [वह परमात्मा मैं ही हूँ इस प्रकार एकत्व का साक्षात्कार होता है]। [मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—**परमात्मा**—स्वप्रकाशज्ञानस्वभाव आत्मा **समाहितः**—समाधि का विषय होते हैं, तब वे योगी योगारूढ़ होते हैं। आत्मा यदि अपने स्वरूप को (शुद्ध चैतन्य स्वरूप को) समाधि का विषय कर उसी में समाहित रहे तब उस अवस्था को योगारूढ़ावस्था कहा जाता है; यही कहने का अभिप्राय है। अथवा श्लोक का अन्वय इस प्रकार से भी किया जा सकता है, **परम्**—केवल **जितात्मनः प्रशान्तस्य इत्यादि**—जितात्मा प्रशांत व्यक्ति का ही आत्मा **समाहितः (भवति)**—आत्मा समाहित होता है, अन्य किसी का नहीं। इसलिये मुमुक्षु को जितात्मा तथा प्रशान्त होना चाहिये, यही तात्पर्यार्थ है।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—[जितात्मा पुरुष की आत्मा अपने लिये बन्धु है उसे अब स्पष्ट करते हैं।] **परम्**—केवल **जितात्मनः**—जो व्यक्ति आत्मा पर (मन पर) विजय प्राप्त कर लेता है उस **प्रशान्तस्य**—रागादिरहित (प्रशान्तचित्त) योगी का ही शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि के रहते हुए भी **परम् आत्मा**—केवल आत्मा **समाहितः भवति**—आत्मनिष्ठ (निजस्वरूप में निष्ठ अर्थात् स्थित) होता है। [जितेन्द्रिय तथा प्रशान्तचित्त के अतिरिक्त दूसरा कोई भी आत्मनिष्ठ या योगारूढ़ नहीं हो सकता।] अथवा 'समाहितः भवति' वाक्य का अर्थ है जितात्मा व प्रशान्त पुरुष के हृदय में परमात्मा समाहित अर्थात् स्थित होता है।

(२) शंकरानन्दी व्याख्या परवर्ती श्लोक की टिप्पणी में दी गयी है।

(३) **नारायणी टीका**—जितात्मा (जितेन्द्रिय) निर्विकार पुरुष का चित्त विक्षेपशून्य तथा रागद्वेषादि से शून्य होने के कारण प्रशान्त रहता है। अतः वैसे पुरुष का चित्त शीतोष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमान इत्यादि रहते हुए भी द्वन्द्व रहित अर्थात् सम रहता है। इस समत्व को ही योग कहा जाता है (गीता २।४८)। क्योंकि समत्व प्राप्त होने से चित्त वृत्तिशून्य होकर निश्चल होता है, चित्त की इस प्रकार निर्विकल्पावस्था में ही सर्वव्यापी परमात्मा (ब्रह्म) योगी के हृदय में अपनी आत्मा के रूप से प्रकट होते हैं अर्थात् उस समय नाम-रूपात्मक जगत् का लय हो जाता है एवं योगी अपने को तथा जगत् को परमात्मा (परब्रह्म) के रूप से ही अनुभव करते हैं। शीतोष्ण, सुख-दुःख अथवा मान-अपमान में भी वे आत्मा का ही दर्शन करते हैं। अतः द्वैतबुद्धि का अभाव रहने के कारण जितात्मा तथा प्रशान्तचित्त व्यक्ति को शीतोष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान कुछ भी आत्मस्वरूप (तत्त्वज्ञान) से विचलित नहीं कर सकते। यही आत्मा के द्वारा आत्मा का उद्धार है। परमात्मा सभी के हृदय में ही समानरूप से विराजमान हैं किन्तु जो जितात्मा तथा प्रशान्त न हुए एवं जो ध्यानयोग के द्वारा समत्व प्राप्त कर शीतोष्ण, सुख-दुःखादि रूप द्वन्द्व से रहित न हुए, उन चंचल-चित्त पुरुषों के हृदय में परमात्मा प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशित नही होते हैं क्योंकि चित्त की चंचलता ही मेघावृत (मेघ अर्थात् बादल से ढके हुए) सूर्य के समान परमात्मा को आवृत कर रखती है।

[जितात्मा प्रशान्त योगी की और क्या विलक्षणताएँ देखी जाती हैं, वह कहा जा रहा है—]

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

अन्वय—ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थः विजितेन्द्रियः समलोष्ट-अश्मकाञ्चनः योगी युक्तः इति उच्यते।

अनुवाद—जिनकी आत्मा (चित्त) ज्ञान (शास्त्र तथा गुरुवाक्य से परोक्ष ज्ञान) तथा विज्ञान के द्वारा (अपरोक्ष अनुभूति के द्वारा) परितृप्त हैं, जो विषयों के सन्निधान में भी कूटस्थ (अविचलित, विकारशून्य हैं), जिनकी इन्द्रियाँ वशीभूत हो गई हैं, लोष्ट (मिट्टी का टुकड़ा), पत्थर तथा कांचन (सोना) में जिनकी समदृष्टि है, ऐसे योगी को 'युक्त' कहा जाता है।

भाष्यदीपिका—ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा—उपदेशों से अथवा शास्त्रवाक्यों से पदार्थों के सम्बन्ध में (जीव, जगत् तथा परमात्मा के सम्बन्ध में) जो परोक्षज्ञान प्राप्त होता है उसे ज्ञान कहा जाता है एवं उपदिष्ट तत्त्व के सम्बन्ध में अथवा शास्त्रों से ज्ञात विषय के सम्बन्ध में अपना जो अपरोक्षानुभव (प्रत्यक्ष अनुभव) होता है उसे विज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान तथा विज्ञान के द्वारा जिनकी आत्मा (अन्तः करण) तृप्त हुई है अर्थात् "यथेष्ट हुआ है—बस अब कुछ भी जानना बाकी नहीं है" इस प्रकार बुद्धि की स्थिति रहने के कारण फिर किसी वस्तु की अपेक्षा अर्थात् किसी वस्तु को प्राप्त करने की वासना जिनकी नहीं है वैसे पुरुष। श्रुति में कहा गया है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् दृश्य वस्तु जो कुछ देखा जाता है, वे सभी ही ब्रह्म हैं, 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (ब्रह्म ही सब कुछ है) फिर "वासुदेवः सर्वमिति" "वासुदेव ही सब है" इत्यादि वाक्य गीतादि स्मृतिशास्त्र में पाया जाता है। अर्थात् श्रुति तथा स्मृति शास्त्र जगत् का नाम रूप निराकरण कर (मिथ्यात्व प्रतिपादन कर) उन सबकी अधिष्ठान सत्ता ब्रह्म ही एकमात्र सत्य वस्तु है तथा वह ब्रह्म ही माया के द्वारा सर्व रूप से प्रतीत हो रहा है, यह प्रतिपादित करते हैं। इन शास्त्रोक्त वाक्यों के तात्पर्य युक्ति के द्वारा संशय रहित होकर दृढ़ रूप से हृदय में धारण करना ही ज्ञान है। जब ब्रह्माकारावृत्ति के द्वारा "मैं तथा जगत्—ये सब कुछ ब्रह्म ही है" इस प्रकार श्रुति-स्मृति के द्वारा प्रतिपादित निर्विशेष एवं सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप आत्मा को अपरोक्ष रूप से साक्षात् अनुभव किया जाता है तब उस अनुभव को विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान (अपरोक्ष ज्ञान) कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान के द्वारा सर्व वस्तुओं में निरन्तर (अविच्छिन्न) ब्रह्ममात्रत्व दर्शन के फलरूप से जब मन में पुनः दूसरे किसी विकल्प का उदय नहीं होता (अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु की अपेक्षा या वासना नहीं रहती) तब आत्मा (मन) आत्मा में ही पूर्ण रूप से तृप्त रहती है। जिनको ऐसी अवस्था प्राप्त होती है उन्हें ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा, कहा जाता है। **कूटस्थः**—ज्ञान तथा विज्ञान के द्वारा आत्मा तृप्त होने से वाह्य भोग्य पदार्थ उपस्थित होने पर भी योगी निर्विकार (अप्रकम्पित या अविचलित) रहकर आत्मा में ही स्थिर रहते हैं। ('कूट' में अर्थात् स्थिर, अचल, सनातन आत्मा में 'स्थः' अर्थात् स्थित होने से उनको 'कूटस्थ' कहा जाता है) **विजितेन्द्रियः**—राग या द्वेषपूर्वक विषय ग्रहण से जिनकी अन्तः-करण तथा इन्द्रियाँ विरत हो गई हैं। विषय के लिये इन्द्रियों में न तो राग रहता है और न तो द्वेष। जब विषय अनुकूल होता है तब उसके प्रति रागबुद्धि

(आसक्ति) एवं जब विषय प्रतिकूल होता है तब उसके प्रति द्वेष (विरक्ति) बुद्धि रखना इन्द्रियों का स्वभाव है, किन्तु जो व्यक्ति ज्ञान तथा विज्ञान के द्वारा तृप्त होकर सर्वत्र एक ही आत्मा को देखते हैं तथा कूटस्थ रहते हैं अर्थात् आत्मा से कभी विच्युत (विचलित) नहीं होते ऐसे योगी के लिये विषयों का ग्राहक (इन्द्रिय), ग्राह्य (विषय) तथा विषयग्रहणरूप क्रिया सभी ही आत्मरूप से प्रतिभासित होते हैं इसलिये द्वैत-बुद्धि तथा विषयासक्ति न रहने के कारण इन्द्रिय आदि विषयों से स्वतः ही उपरत होकर विशेष रूप से जित (वशीभूत) रहते हैं। ऐसा अवस्थाप्राप्त योगी ही विजितेन्द्रिय है। **समलोष्टाश्मकाञ्चनः**— विजितेन्द्रिय होने के कारण किसी वस्तु विषय में भोग्यत्व-बुद्धि (हेय-उपादेय बुद्धि—अर्थात् 'यह वस्तु मुझे नहीं चाहिये, यह वस्तु मुझे चाहिए' इस प्रकार की बुद्धि) नहीं रहती इस कारण से एवं सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रहने के कारण मिट्टी का टुकड़ा (लोष्ट), पत्थर (अश्म) तथा सुवर्ण या सोना (कांचन) उनकी दृष्टि में समान हो जाते हैं। जिनको ऐसा होता है उस ब्रह्ममात्रदर्शी को 'समलोष्टाश्म-काञ्चनः' कहा जाता है। **योगी**—उक्त लक्षणों से विशिष्ट परमहंस परिव्राजक संन्यासी को, (जिनमें सर्वत्र उपेक्षा-बुद्धि रहने के कारण विषयों के प्रति अतिशय वैराग्य उत्पन्न हुआ है उनको) **युक्तः इति च उच्यते**—समाहित अर्थात् यथार्थ योगयुक्त कहा जाता है [अथवा वे संन्यासी परम वैराग्ययुक्त योगारूढ़ हैं, ऐसा पंडित लोग कहते हैं (मधुसूदन)।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर – [योगारुढ़ का लक्षण तथा श्रेष्ठत्व का उपसंहार कर रहे हैं—]

ज्ञानम्,—उपदेशों से प्राप्त ज्ञान **विज्ञानम्**—अपरोक्षानुभव (साक्षात्कार) रूप ज्ञान, इन दोनों के द्वारा **तृप्तात्मा**–आकांक्षा (कामना) रहित हुआ है जिसका चित्त अत एव **कूटस्थः**–जो निर्विकार है [विषयों की आकांक्षा नहीं रहने से चित्त के विकार की कोई सम्भावना नहीं रह सकती है] अत एव **विजितेन्द्रियः**– जिसने इन्द्रियों को भलीभाँति जीत लिया है। एवं इसलिए **समलोष्टाश्म-काञ्चनः**—लोष्ट (मिट्टी का ढेला), अश्म (पत्थर), कांचन (सुवर्ण) इत्यादियों में सम अर्थात् हेय-उपादेय बुद्धि से जो रहित (शून्य) है, ऐसे योगी को **युक्तः इति उच्यते**—युक्त अर्थात् योगारूढ़ कहा जाता है।

(२) शंकरानन्द—(श्लोक ७-८) समाधि के प्रतिकूल देह, इन्द्रियादि की प्रवृत्तियों को निरुद्ध कर जो यति समाधिनिष्ठा का अभ्यास करते हैं उनको 'मैं ही यह सब हूँ' इस प्रकार सर्वत्र अप्रतिबद्ध आत्मा परोक्षानुभूति-

रूप फल प्राप्त होता है, इसे सूचित करने के लिये अब जिन लक्षणों को कहा जा रहा है उन लक्षणों से सम्पन्न होकर जो व्यक्ति समाधिनिष्ठारूप विज्ञान के बल से विपरीत प्रत्यय (द्वैतबुद्धि) के द्वारा विचलित नहीं होते हैं वे योगारूढ़ हैं, ऐसा समझना पड़ेगा। इसे अब दो श्लोकों में स्पष्ट कर रहे हैं—

जितात्मनः—विवेक-वैराग्य—तीव्र मोक्षेच्छा से सम्पन्न जो यति ईश्वर तथा गुरु के प्रसाद (कृपा) को प्राप्त कर श्रवण तथा मनन के द्वारा आत्मा के स्वरूप को सम्पूर्ण रूप से (ठीक-ठीक) ज्ञात होकर कार्यकरणसंघात को (देहेन्द्रियान्तःकरणादि को) वशीभूत कर आत्मा का उद्धार करने के लिये समाधि का अभ्यास करते हैं वे जितात्मा हैं। जित (निर्जित) अर्थात् समाधि के द्वारा सम्पूर्ण वासनाजाल संक्षय प्राप्त होने के (विनष्ट होने के) पश्चात् जिससे चित्तवृत्ति विपरीत अनात्म वस्तु का ग्रहण न कर सके ऐसी जिनकी आत्मा (अन्तःकरण) जित अर्थात् वशीकृत हुई है। (विपरीत ग्रहण से विमुख हो गया है), वे जितात्मा हैं। इस प्रकार जितात्मा का अत एव प्रशान्तस्य—निर्विकल्प (कल्पनारहित) यति का परमात्मा—निरतिशय आनन्दरूपत्व तथा निरवधिक (असीम) महत्त्व रहने के कारण जो परम (श्रेष्ठ) हैं तथा जो परम् हैं वे ही सभी की आत्मा होने के कारण जिनको परमात्मा (परब्रह्म) कहा जाता है वे परमात्मा समाहितः—सम्यक् प्रकार से आहित (हृदय में स्थापित या प्रतिष्ठित) होते हैं अर्थात् विपरीत प्रत्यय से सम्पूर्ण रूप से मुक्त होकर बाहर तथा भीतर सर्वत्र चक्षुओं का (नेत्र वृत्ति का) रूप के समान [अर्थात् जिस प्रकार रूप नेत्रों को सदा ही विषयरूप से भासता है उसी प्रकार] परमात्मा स्वयं बुद्धिवृत्ति का विषय होते हैं। देहेन्द्रियादि में आत्माभिमान कर 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ' इत्यादि विपरीत प्रत्ययों के द्वारा जो आत्मा संसारीभूत हुई है अर्थात् संसार में पतित हुई है उस आत्मा के साथ समाधिनिष्ठा से उत्पन्न विज्ञान के बल से अज्ञानजनित तत्-तत् विपरीत प्रत्यय के सम्बन्धाभाव का सम्पादन करना ही आत्मा का उद्धार करना है, यही 'परमात्मा समाहितः' इस पद के द्वारा सूचित हो रहा है। ५वे श्लोक में जो कहा गया है कि 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' (आत्मा को आत्मा के द्वारा उद्धार करना पड़ेगा) उसके अनुसार आत्मा के उद्धार का उपाय निरूपण करके अब "ऐसे लक्षणों से युक्त जीवन्मुक्त पुरुष योगारूढ़ होते हैं" इस प्रकार योगी में योगारूढ़त्व सूचित करने के लिये कह रहे हैं—विजितेन्द्रियः—सदसद्विवेक से तथा उस विवेक से उत्पन्न तीव्र मोक्षेच्छा से युक्त होकर विजित अर्थात् विशेष रूप से जित ली है (विषय-

ग्रहण से विमुख कर ली है) बाहर तथा भीतर की इन्द्रियों को जिन्होंने वे विजितेन्द्रिय हैं। (यह इन्द्रियों का जय योगनिष्ठा की सिद्धि का असाधारण कारण है।) इस प्रकार विजितेन्द्रिय होकर योगी योगनिष्ठा में प्रवृत्त ब्रह्मविद् यति स्वयं **ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा**—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है), 'तज्जलानिति' (वह जन्मदाता, लयकर्ता तथा चेष्टाकर्ता है), 'अयमात्मा 'ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है), 'तत्त्वमसि' (वह तुम हो), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (ब्रह्म ही यह सब है) इत्यादि श्रुतियाँ एवं 'वासुदेवः सर्वम्' (वासुदेव ही सब कुछ हैं) इत्यादि स्मृतियों ने सम्पूर्ण जगत् में नामरूप के प्रत्यय का निरासपूर्वक (दूर हटाकर) नियम से ब्रह्ममात्रत्व का प्रतिपादन किया है। शास्त्र के द्वारा जैसे सूर्यग्रहण का निश्चय किया जाता है उस प्रकार पूर्वोक्त श्रुति-स्मृति के वाक्यों के बल से सभी वस्तुओं में ब्रह्ममात्रत्व का अप्रतिहत (अखंडित रूप से) अवधारण को [अर्थात् सकल वस्तुएँ ब्रह्मस्वरूप ही हैं इस प्रकार की निश्चयता को] ज्ञान कहा जाता है। और नेत्रों के द्वारा राहुग्रस्त सूर्य के बिम्ब के साक्षात् दर्शन के समान श्रुति तथा स्मृतियों के द्वारा सम्यक् रूप से निर्धारित ब्रह्ममात्रत्व को चिन्मात्र बुद्धि वृत्ति के द्वारा (चिदाकारा या ब्रह्माकारा वृत्ति के द्वारा) 'मैं तथा ये सब जगत् ब्रह्म ही है' इस प्रकार निर्विशेष रूप से सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा के साक्षात् अपरोक्षीकरण को (अपरोक्ष-साक्षात्कार को) विज्ञान कहा जाता है। उक्त लक्षणयुक्त ब्रह्ममात्रत्वावगाही (सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्व अनुभव करने वाले) प्रतिबन्धकरहित ज्ञान तथा विज्ञान के द्वारा तृप्त (पूर्ण) [अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त दूसरे विषय के सम्बन्ध में विकल्प करने का भी अवकाश नहीं है ऐसी आत्मा (मन) जिनका है वे ही ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा हैं। अतः वे **समलोष्टाश्मकाञ्चनः**—सम अर्थात् चिदाकारा वृत्ति के द्वारा सम रूप से (ब्रह्ममात्र रूप से) देखे हैं लोष्ट (मिट्टी का ढेला), अश्म (पत्थर) तथा कांचन (सोना) जिन्होंने वे 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' (अर्थात् सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शी) हैं। इसके द्वारा बाहर के पदार्थों की विवेकशून्यता (ब्रह्म से कोई-पदार्थ भिन्न है इस प्रकार बुद्धिका अभाव) एवं हेयउपादेयत्वबुद्धिशून्यता (इसे त्याग करना पड़ेगा तथा इसे ग्रहण करना होगा, इस प्रकार की बुद्धि का अभाव) ब्रह्ममात्रत्वदर्शी की रहती है, यह भी सूचित किया गया। **शंका**—योगारूढ़ ब्रह्मविद् का सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन सम्भव नहीं हो सकता है क्योंकि आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक उपद्रवों के प्राप्त होने से उन उपद्रवों के दर्शन तथा उनके अनुसंधान (चिन्तन) से ब्रह्मदर्शन का व्याघात (विघ्न) होगा—ऐसा यदि कहूँ ?

समाधान—नहीं, ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि विजितेन्द्रिय होने पर एवं बाह्य विषय का वासना-समूह सम्पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाने से उन उपद्रवों के प्राप्त होने से भी ब्रह्मविद् सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि से ही अवस्थान करते हैं—उस ब्राह्मी स्थिति से वे विचलित नही होते हैं, इसे समझाने के लिये कह रहे हैं—**शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः**—मान अर्थात् स्तुति, पूजा, उपचारादि; अपमान अर्थात् निन्दा, तिरस्कारादि—इन दोनों के प्राप्त होने से तथा उसी प्रकार शीत तथा उष्ण एवं सुख तथा दुःख प्राप्त होने से भी—यहाँ शीतोष्ण शब्द आधिभौतिक तथा आधिदैविक उपद्रवों का उपलक्षण है। तथा सुख-दुःख शब्द आध्यात्मिक उपद्रवों का उपलक्षण है। कहने का तात्पर्य यह है कि शीत, उष्ण, व्याघ्र-सर्पादि, अग्नि आदि, वृष्टि-वज्रपातादि, ज्वरादि अथवा मिष्टान्न आदि के प्राप्त होने से भी ब्रह्मविद् समदर्शी ही रहते हैं। वे ब्रह्मस्वरूप आत्मा में आरोपित नाम, रूप, क्रिया तथा उन क्रियाओं के फल के अनुसन्धान-परायण (चिन्तन करने वाले) नहीं होते हैं क्योंकि नामरूपादि का ब्रह्म में ही लय कर देने के कारण पुनः-पुनः वे ब्रह्मविद् की वृत्तियों का विषय नहीं हो सकते (अर्थात् ब्रह्माकारा वृत्ति से अतिरिक्त ब्रह्मविद् की दूसरी कोई वृत्ति रहना सम्भव नहीं है)। इसी कारण वे सर्वत्र एकमात्र ब्रह्मदृष्टि से ही स्थित रहते हैं—उस अवस्था से कभी वे विचलित नहीं होते हैं। श्रुति ने भी कहा है—'महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत्। कुचैलोऽसहाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामो व्याघ्रे हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पे यक्षे राक्षसे गन्धर्वे मृत्यो रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चनेति वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत उपल इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत आकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत सत्येन तिष्ठासेत्' अर्थात् महान् पद को (ब्रह्म को) जानकर वृक्ष के मूल में ब्रह्मविद् बसे; कुवस्त्रधारी, असहाय, एकाकी, समाधिस्थ, आत्मकाम, आप्तकाम, निष्काम तथा जीर्णकाम ब्रह्मविद् व्याघ्र में, हस्ती में, सिंह में, दंशक में, मशक (मच्छर) में, नकुल में, सर्प में, यक्ष में, राक्षस में तथा गन्धर्व में मृत्यु के रूप को जानकर किसी से भी भय को प्राप्त नहीं होते हैं; वे वृक्ष के समान स्थित रहते हैं, उन्हें छेदन करने से भी (काटने से भी) वे क्रोध न करें अथवा कम्पित नहीं हों, पत्थर के समान स्थित रहें, छेदन करने से भी क्रोध न करें और न कम्पित हों (न काँपें), आकाश के समान रहें, छेदन करने से भी न क्रोध करें और न कंपित हों इस प्रकार सत्यस्वरूप में स्थित रहें। अत एव विपरीत प्रत्ययों के हेतुओं के प्राप्त होने से भी ब्रह्मविद् जब **कूटस्थः**—कूट के समान

(पर्वत श्रृङ्ग की तरह) स्थित रहते हैं अर्थात् विपरीत प्रत्यय के द्वारा कम्पित नहीं होते हैं तब युक्तः इति उच्यते–पंडितों द्वारा वे युक्त अर्थात् योगारूढ़ कहे जाते हैं।

७–९ श्लोकों में योगारूढ़ के लक्षणों का निर्देश किया गया है। किन्तु योगी 'युक्त' न होने से योगारूढ़ नहीं हो सकते, इसलिये योगी 'युक्त' कब होते हैं वह अब स्पष्ट कर रहे हैं—

(३) नारायणी टीका—(१) योगारूढ़ होने के लिए ज्ञानविज्ञान-तृप्तात्मा होना चाहिए। अर्थात् जीव, जगत् तथा आत्मा के सम्बन्ध में शास्त्र ने जो कहा है तथा आत्मसाक्षात्कार के उपाय का शास्त्रों द्वारा जैसा निर्देश किया गया है उसे संशयरहित होकर जानना ही ज्ञान (परोक्ष ज्ञान) है। और उस ज्ञान को प्राप्त कर एवं तदनुसार साधन कर आत्मस्वरूप का अपरोक्ष साक्षात् अनुभव ही विज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान से जिनकी आत्मा (अन्तःकरण) परितृप्त हुई है (आत्मा के अतिरिक्त अन्य विषय-वासना से रहित हुई है) वे ही योगारुढ़ हैं।

प्रश्न—योगी 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा हुए हैं' इसे कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर—आत्मस्थिति में निरतिशय आनन्द प्राप्त होने से बाह्य सभी विषयों के सुख (आनन्द) तुच्छ हो जाते हैं। इसलिए मिथ्या शब्दस्पर्शादि विषयों की प्रतीति होने पर भी उसमें राग-द्वेष या हेय-उपादेयत्व बुद्धि उनकी नहीं रहती। इसलिए विषयों के द्वारा विचलित न होकर उनका चित्त आत्मा में ही स्थिर रहता है अर्थात् कूटस्थ (आत्मनिष्ठ) रहता है। इस प्रकार अपने स्वरूप में अविचलित रूप से सदा स्थित रहने से अर्थात् कूटस्थ होने से समझना होगा कि योगी 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा' हुए हैं।

प्रश्न—योगी ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा तथा कूटस्थ हैं कि नहीं, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण कैसे मिल सकता है ?

उत्तर—कूटस्थ योगी अवश्य ही विजितेन्द्रिय होंगे। चित्त विषयों के द्वारा किसी प्रकार से कम्पित न होकर जब आत्मा में ही निश्चल रहता है तब चित्त काम तथा संकल्प से रहित होता है एवं इन्द्रियों की विषय-ग्रहण में प्रवृत्ति भी सम्भव नहीं होती। व्युत्थानावस्था में जितेन्द्रिय पुरुष के मन में भी कभी कभी पूर्व संस्कारवश विषयसंस्कार का उदय हो सकता है किन्तु जो समाधि के अभ्यास के द्वारा कूटस्थ (आत्मनिष्ठ) रहते हैं उनके समाधि-

संस्कार के द्वारा अन्य सभी जागतिक संस्कार नष्ट हो जाते हैं ['तज्जसंस्कारोऽन्य संस्कार-प्रतिवन्धी' (पा० यो० सूत्र)]। इस अवस्था में अन्तःकरण तथा इन्द्रियाँ विशेष रूप से जित (वशीभूत) होती हैं अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के ग्रहण से सम्पूर्ण रूप से विरत हो जाती हैं। अतः कूटस्थ रहने से समझना होगा योगी विजितेन्द्रिय हुए हैं। इसी को श्रुति में परमा गति कहा गया है—यथा—यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ (कठ० उ०) अर्थात् जब पंच ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्) तथा मन विषयग्रहण से विरत होकर निश्चल हो जाते हैं एवं बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती है तव वह अवस्था परमा गति है ऐसा तत्त्वदर्शी पंडितों ने निर्णय किया है।

प्रश्न—योगी विजितेन्द्रिय हुए हैं, उसे जानने का क्या उपाय है? कोई वाह्य लक्षण है क्या?

उत्तर—ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा होकर कूटस्थ होने से स्वभावतः ही जब योगी विजितेन्द्रिय होते हैं तव उनकी दृष्टि में सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म ही (आत्मा ही) प्रतिभासित होता रहता है, द्वैतबुद्धि का लेश भी नही रहता है। इसलिये वहुमूल्य कांचन में या तुच्छ पाषाण में या मृत्तिका खंड में उनकी समत्वबुद्धि रहती है क्योंकि उन सबका मिथ्या नामरूप त्याग कर उन सभी की एकमात्र अधिष्ठान सत्ता जो आत्मा (शुद्ध चैतन्य) विद्यमान है उसी का ही वे दर्शन करते रहते हैं। जब तक लोष्ट, अश्म तथा कांचन में (अथवा अन्य किसी वस्तु में) राग-द्वेष अथवा हेयोपादेयत्वबुद्धि रहती है तब तक समझना पड़ेगा। समत्व दर्शन न होने के कारण योगी की इन्द्रियाँ पूर्णरूप से विजित नहीं हुई हैं क्योंकि द्वैत वोध रहने से विक्षेप रहेगा ही। अतः विलोम क्रम से विचार करने से यह सिद्ध होता है कि सर्वत्र समबुद्धि न होने से कोई विजितेन्द्रिय नहीं हो सकता है। विजितेन्द्रिय नहीं होने से कोई कूटस्थ अर्थात् आत्मा में निरन्तर स्थित नहीं हो सकता। फिर कूटस्थ नही होने से कोई ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा नहीं हो सकता एवं ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा नहीं होने से योगारूढ़ नहीं हो सकता। अतः योगारूढ़ इन सव विशेषणों में एक दूसरे के अनुपूरक हैं। समस्त विशेषणों का समन्वय जिन योगी में पाया जाता है उन्हीं को युक्त यानी योगारूढ़ कहा जाता है—दूसरे को नहीं।

[पूर्व श्लोक में योगारूढ़ के (युक्त के) लक्षणों को बताकर अब योगारूढ़ की विशेष अवस्था (अथवा "युक्तर" योगी की अवस्था) कही जा रही है।]

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।। ९ ।।

अन्वय—सुहृद्-मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु साधुषु अपि च पापेषु समबुद्धिः (योगी) विशिष्यते ।

अनुवाद—सुहृद्, मित्र, अरि (शत्रु), उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु इत्यादियों में एवं साधु तथा पापकारी व्यक्तियों के प्रति जिनकी समबुद्धि या समदृष्टि रहती है वे योगी ही योगियों में विशेषता को (श्रेष्ठत्व) प्राप्त होते हैं ।

भाष्यदीपिका – सुहृद्-मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु-साधुषु-अपि-पापेषु—सुहृद् (जो प्रत्युपकार की अपेक्षा न कर एवं पूर्वकालीन स्नेह या संबन्ध के विना ही उपकार करते हैं), मित्र (जो स्नेहवश उपकार करते हैं), अरि (शत्रु अर्थात् जो सदा ही अपकार करने के लिये प्रस्तुत रहते हैं), उदासीन (दोनों पक्ष विवाद या झगड़ा करते रहने पर भी जो उभय पक्ष की उपेक्षा करते हैं, अर्थात् पक्षपातरहित हैं), मध्यस्थ (विवादकारी दोनों पक्षों के हिताकांक्षी), द्वेष्य (जो आत्मा के अर्थात् अपने प्रतिकूल या अप्रिय हैं), वन्धु (बान्धव अर्थात् जो सम्बन्ध रहने के कारण उपकारक हैं), साधु–(जो शास्त्रानुकूल आचरण करते हैं अथवा शास्त्रविहित कर्मों को सदा ही करने में तत्पर हैं) इन सबके प्रति अपि च पापेषु एवं दुराचारी अर्थात् शास्त्रों के द्वारा जिन कर्मों का निषेध किया गया है उनमें, जिन लोगों की रुचि रहती है ऐसे पापियों के प्रति भी [अपि च—अन्य सभी जीव के प्रति भी मधुसूदन]

समबुद्धिः—समबुद्धि रखते हैं । उपर्युक्त सुहृद् मित्रादियों में से कौन कैसा है ? एवं क्या कर रहा है ? उसकी आलोचना जो नहीं करते हैं अर्थात् उनके दोष-गुणों के विचार में जिनकी बुद्धि व्यापृत नहीं रहती है उन्हें 'समबुद्धि' कहा जाता है । [नाम-रूप-जाति-गुण तथा क्रिया के द्वारा द्वैत विषयों का तारतम्य या दोष-गुण का विचार किया जाता है किन्तु ज्ञानी की दृष्टि में नामरूपादि सभी मिथ्या हैं क्योंकि ये आदि तथा अन्त में नहीं रहते हैं एवं सदा ही परिवर्तनशील हैं । बुद्धिमान् व्यक्ति जैसे घट, शराव इत्यादि के नामरूपादि का त्याग कर इन सब के उपादान मृत्तिका (मिट्टी) को ही सत्य वस्तुरूप से मानते हैं उसी तरह जो लौकिकदृष्टि में उत्तम-अधम (साधु-पापी), स्व-पर (सुहृद्, मित्र, अरि, द्वेष्य इत्यादि) सभी वस्तुओं में नाम-रूप-जाति-गुण-क्रिया का त्याग

कर उन सब में नित्य सत्य अभिन्ननिमित्त-उपादानरूप सच्चिदानन्द आत्मा को ही निरन्तर दर्शन करते हुए आत्मा में ही स्थित रहते हैं उन्हें ही 'समबुद्धि' कहा जाता है] विशिष्यते—ऐसे राग द्वेषरहित योगी विशिष्ट होते हैं अर्थात् ये समबुद्धि युक्त यति सर्व योगारूढ़ों में से श्रेष्ठ (उत्तम) हैं। "युक्त" योगारूढ़ योगी की दृष्टि में विषयों के नानात्व की प्रतीति होती रहती है, किन्तु उसे मिथ्या जानकर उसमें वे आसक्त नहीं होते हैं। विशिष्ट या युक्ततर योगी नानात्व में एकत्व का ही (एक आत्म-सत्ता का ही) दर्शन करते हैं। इसलिए ऐसे योगी सब योगारूढ़ों में उत्तम (सर्वापेक्षा उत्कृष्ट) हैं।

["विशिष्यते" इसके स्थान पर "विमुच्यते" अर्थात् विमुक्त हो जाते हैं, एसा पाठान्तर भी है।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—[सुहृद्, मित्र, शत्रु इत्यादि में समबुद्धि युक्त व्यक्ति 'युक्त' योगी से भी श्रेष्ठ है यह कह रहे हैं] जो सुहृद् स्वभावतः हितैषी (हित चाहने वाला) है, **मित्रम्**:—स्नेहवश उपकार करने वाले हैं, **अरिः**—घातक शत्रु हैं, **उदासीनः**—विवादमान (विवादकारी) उभय पक्षों की ही जो उपेक्षा करते हैं, **मध्यस्थः**—विवादमान उभय पक्षों के ही हितैषी हैं, **द्वेष्यः**—द्वेष का विषय या पात्र हैं, **बन्धुः** सम्बन्धी (अपने स्वजन) हैं, **साधवः**—सदाचारसम्पन्न हैं, **पापाः**—दूराचारी हैं। इन सब में **समबुद्धिः**—सम अर्थात् रागद्वेषादि रहित बुद्धि जिनकी है वैसे योगी ही **विशिष्यते**—विशिष्ट होते हैं, (श्रेष्ठ हैं)।]

(२) **शंकरानन्द**—ज्ञान तथा विज्ञान के द्वारा पूर्ण होना, अनात्म वाह्य पदार्थों का विचार न करना, हेयोपादेयत्व बुद्धि से रहित होना एवं विपरीत प्रत्ययों के द्वारा अकम्पित (अविचलित) रहना इन सब योगारूढ़ के लक्षणों को पहले प्रतिपादन कर अब सर्वत्र समदर्शन ही ब्रह्मविद् योगारूढ़ जीवन्मुक्त का लक्षण है इसे पुनः दृढ़ रूप से कह रहें हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु—प्रत्युपकार की अपेक्षा के विना (आशा न कर) जो उपकार करता है वह सुहृद् है; 'ददाति प्रतिगृह्णाति' (देता है, लेता है, भोजन करता है तथा भोजन कराता है, गुप्त कथा (बातें) कहता है एवं सुनता है) इत्यादि लक्षणों से लक्षित व्यक्ति को मित्र कहा जाता है; परोक्ष तथा अपरोक्ष में (सम्मुख तथा पश्चात्) जो अपकार करता है वह अरि (शत्रु) है ; अप्रियवादी होने के कारण द्वेष करने के जो योग्य है वह द्वेष्य है; वादी तथा प्रतिवादी दोनों के साथ जो समभाव रखता है वह

मध्यस्थ है; सर्वत्र उपेक्षा करना ही जिसका स्वभाव है वह उदासीन है ; बन्धु शब्द का अर्थ हैं बान्धव। इन सभी में तथा **साधुषु च अपापेषु अपि** प्राण वियोग की सम्भावना रहने पर भी स्वधर्म का त्याग न कर जो व्यक्ति शास्त्रानुवर्ती रहते हैं (शास्त्रों के अनुकूल आचरण करते हैं-) उसको साधु कहा जाता है; निषिद्ध कर्मकारी अर्थात् दुराचार में रत व्यक्ति को पाप अर्थात् पापी कहा जाता है। पूर्वोक्त गुण विशिष्ट सुहृद से लेकर पापिष्ठ (पापी) तक सभी व्यक्तियों में भेदबुद्धि का त्याग कर (भेदबुद्धि न रखकर) **समबुद्धिर्विशिष्यते** योगारूढ़ ब्रह्मवित् यति की तत्-तत् नामरूप, जाति, गुण तथा क्रियाओं के ग्रहण के बिना ही (विचार किये बिना ही) समबुद्धि (सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि) विशेषरूप से रहती है अर्थात् अकस्मात् मिट्टी में वटबुद्धि के समान दृश्य वस्तुओं में पदार्थ बुद्धि रहने पर भी दूसरे ही क्षण में उस पदार्थबुद्धि का (वह एक पदार्थ है—'उसकी पृथक सत्ता है' इस प्रकार की बुद्धि का) वाध करके घट में मृत्तिका बुद्धि के समान (अर्थात् घट मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस प्रकार की बुद्धि के समान)-सर्वत्र ब्रह्म बुद्धि ही रहती है। इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि (समबुद्धि ही) विशिष्ट होती है अर्थात् इस प्रकार ब्रह्मबुद्धि ही अबाधित होकर स्थिर रहती हैं, यही विशिष्यते शब्द का तात्पर्य है। 'समबुद्धिर्विमुच्यते' इस प्रकार पाठ में प्रथमान्त 'समबुद्धि' पद योगारूढ़ का विशेषण है। समा अर्थात् समाकारताप्राप्त अर्थात् सदा सर्वत्र ब्रह्ममात्र ग्रहण करने वाली बुद्धि जिनकी है वे समबुद्धि हैं। वे मुक्त होते हैं अर्थात् सुहृदादि में सर्वत्र सदा जो ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं ,वे मुक्त होते हैं, यहां कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका — घट, शराव, घड़ा ये सभी व्यावहारिक दृष्टि में अलग अलग वस्तुयें हैं, किन्तु जब इन सब के उपादान की ओर दृष्टि डाली जाती है तब सभी में एक मृत्तिका (मिट्टी) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता है। इस प्रकार सोने का हार, वलय तथा कंगन इत्यादि के वाहर तथा भीतर सुवर्ण (सोना) के विना और कुछ भी नही हैं। सुवर्ण की ओर दृष्टि डालने पर वे सभी एक हो जाते हैं। चलचित्र में (सिनेमा में) पहाड़, नदी, अग्नि, मनुष्य, पशु आदि जो कुछ भी दीखता है, उसकी वास्तविक कोई सत्ता नहीं है—स्थिर श्वेत (सफेद) वस्त्र यानी पर्दा जिसके ऊपर चलचित्र का विक्षेप (focus) होता है वह वस्त्र ही (white screen ही) सत्य वस्तु है। उस सफेद वस्त्र को ही, भ्रान्ति कर अन्य सभी दृश्य वस्तु का हम दर्शन करते हैं। इसलिए उपादान कारण अथवा अधिष्ठान सत्ता

ही सत्य है, अध्यस्त वस्तुएँ मिथ्या हैं। जागतिक सभी वस्तुओं में हम दो चीजें प्रत्यक्ष करते हैं—(१) नाम रूप तथा क्रिया (२) अस्ति (सत्) भाँति (चित्त अथवा ज्ञान) प्रिय (आनन्द)। नाम रूप क्रिया का अस्तित्व कभी रहता है कभी नहीं। इसलिए वे सभी मिथ्या हैं किन्तु अस्ति-भाति-प्रियत्व का अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूपत्व का कभी लोप नहीं होता। समाधि अभ्यास के फलरूप से जब समस्त नामरूप तथा क्रियाओं में नित्य सत्य एक चिदानन्द आत्मा का ही योगी सदा अनुभव करते हैं तो सब भेदबुद्धि तिरोहित (नष्ट) होकर समबुद्धि का उदय होता है। तब सुहृद्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य (शत्रु) बन्धु, साधु, पापी सब एक हो जाते हैं। इसी को एकत्व दर्शन या समदर्शन भी कहा जाता है। इस अवस्था में योगी सभी शोक तथा मोह से विमुक्त होते हैं। ["तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईशा० उ० ७)] यही युक्ततर योगी की (योगारूढ़ की) विशेष अवस्था है। [जब योगी विजितेन्द्रिय तथा कूटस्थ होकर ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा होते हैं अर्थात् सर्वप्रपंचरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा में स्थित होते हैं तब उनको 'युक्त' (योगारूढ़) कहा जाता है। यह हुआ 'नेति नेति' साधना का फल। फिर 'इति इति' कर (अर्थात् 'सभी कुछ वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप वासुदेव नामक आत्मा ही है ऐसे अनुभव के द्वारा) जब सर्व भूतों में एक ही आत्मा का दर्शन होता रहता है, तब उस योगी को युक्त में विशिष्ट (श्रेष्ठ) अर्थात् जीवन्मुक्त कहा जाता है। यही अष्टम तथा नवम श्लोकों के तात्पर्य में अन्तर (पार्थक्य) है।]

[योगारूढ़ के लक्षण तथा अवस्था के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती कई श्लोकों में कहा गया है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए योगी को किस प्रकार साधन करना होगा उसे विस्तृत रूप से परवर्ती ८ श्लोकों (१०-१७ श्लोकों में) में कहा जा रहा है —]

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

अन्वय—योगी रहसि स्थितः एकाकी यतचित्तात्मा निराशीः अपरिग्रहः (सन्) आत्मानं सततं युञ्जीत ॥

अनुवाद—योगारूढ़ की अवस्था की प्राप्ति के लिये ध्यानाभ्यासकारी योगी जनहीन (एकान्त) स्थान में रहकर आकांक्षा (कामना) से रहित तथा

परिग्रह से वर्जित होकर अन्तःकरण एवं देहेन्द्रियों को संयत रखकर सदा चित्त को आत्मा में युक्त रखने का (अर्थात् समाहित रखने का) अभ्यास करें।

भाष्यदीपिका—योगी—ध्यान का अभ्यासकारी योगी अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में चित्त को समाहित करने के लिये अभ्यासशील योगी। [श्रीधर स्वामी एवं मधुसूदन सरस्वती ने 'योगी' शब्द का अर्थ योगारूढ़ किया। किन्तु योगारूढ़ योगी को साधन की क्या आवश्यकता रह सकती है, उसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है।] सततम्—सदा। पातंजल योग सूत्र में (१।१४) कहा है—"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः" अर्थात् दीर्घकाल तक निरन्तर (सदा) श्रद्धापूर्वक योगाभ्यास करने से योग दृढ़भूमि (परिपक्व) होता है, अन्यथा नहीं। इसलिये भगवान् ने कहा "सततम्"। रहसि स्थितः-एकान्त गिरि-गुहादि में एवं योग के प्रतिबन्धक दुर्जनादि से वर्जित देशों में रहकर अर्थात् योग के विघ्नकारी (योग में बाधा डालने वाले) दुष्ट लोग तथा व्याघ्र-सर्पादि जिस स्थान में हैं उस स्थान का वर्जन (परित्याग) कर निर्विघ्न (निरापद) जन-शून्य स्थान में रहकर एकाकी–(सभी परिजनों तथा स्वजनों का त्याग कर) अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा न कर, ("रहसि स्थितः" तथा "एकाकी" इन विशेषणों से संन्यास-ग्रहण करके योगसाधन या ध्यानाभ्यास करना चाहिए, यही सूचित कर रहे हैं।) एकान्तवास नहीं करने से निर-विच्छिन्न समाधि सम्भव नहीं होती है। इसलिये नारायणपूर्वतापनी उपनिषद् में कहा गया है—'एकोभिक्षुर्यत्त्वयोक्तः स्याद्वौ चैव मिथुनं स्मृतम्। त्रयो ग्रामः समाख्यात उद्ध्वं तु नगरायते। नगरं हि न कर्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा। एतत् त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः। राजवार्ता हि तेषां स्याद् भिक्षावार्ता परस्परम्' अर्थात् योगी जब एकान्त में रहते हैं तब प्रकृत भिक्षु (यति) शब्द-वाच्य होते हैं। दो एक साथ रहने से उसे "मिथुन", तीन एक साथ रहने से उसे 'ग्राम' तथा तीन से अधिक एक साथ रहने से उसे 'नगर' कहा जाता है। यति को 'मिथुन', 'ग्राम' या 'नगर' में रहना उचित नहीं है क्योंकि इन तीनों अवस्थाओं में रहने पर यति अपने धर्म से च्युत हो जाते हैं। इन अवस्थाओं में रहने पर राजनीति की चर्चा होगी और नहीं तो परस्परों में भिक्षावार्ता होगी। इसलिये यति को सदा एकान्त में रहना आवश्यक है। (ना० पू० उप० ३।५५-५८)। यतचित्तात्मा—चित्त शब्द का अर्थ है अन्तः-करण (मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त)। आत्मा का अर्थ यहाँ देह है। अत एव 'यतचित्तात्मा' शब्द का अर्थ है अन्तःकरण तथा देह जिनके संयत हुए हैं वे। विघ्न उत्पादन कर सके (बाधा डाल सके) ऐसे जागतिक किसी

विषय में जिनके अन्तःकरण तथा देह की कोई प्रवृत्ति नहीं होती है अर्थात् प्रारब्ध के कारण जिनके देह को जो कुछ भी प्राप्त होता है उसी से सन्तुष्ट रहता है (गीता ४।२२) तथा जिनका अन्तःकरण आत्म-चिन्ता में ही मग्न रहता है वैसे योगी को 'यतचित्तात्मा' कहा जाता है। "एकाकी", "रहसि स्थितः" इस योग का होना वाह्य विघ्नों का निवारण करने के लिये आवश्यक होता है। क्योंकि निर्जन स्थान में एकान्त नहीं रहने से लोगों का संग तथा वार्तालाप के द्वारा ध्यान-निष्ठा में व्याघात होने की विशेष सम्भावना रहती है। योग का अन्तरंग साधन है धारणा, ध्यान तथा समाधि। उन सब के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध करना पड़ता है अर्थात् अन्तःकरण को आत्मा में स्थिर रखने के लिये प्रयत्न (अभ्यास) करना पड़ता है। किन्तु अन्तःकरण के साथ देह भी यदि संयत न रहे अर्थात् आसन सिद्ध न हो तो अन्तःकरण की (चित्त की) स्थिरता का संपादन करना असम्भव है। अतः योगारूढ़ होने के लिये 'यतचित्तात्मा' होना अत्यन्त आवश्यक है। निराशीः—वीततृष्ण। तीव्र मोक्षेच्छा (मोक्ष की इच्छा) तथा वैराग्य उत्पन्न होने के कारण विषय भोग की तृष्णा जिनकी नष्ट हो चुकी है वैसे योगी को 'निराशी' कहा जाता है। इसलिए शास्त्र में कहा गया है 'एकान्तवासो लघुभोजनादि मौनं निराशा करणावरोधः। मुनेरसोः संयमनं षडेते चित्तप्रसादं जनयन्ति शीघ्रम्' ॥ अर्थात् (क) एकान्तवास, (ख) अल्प भोजन, (ग) मौन रहने का अभ्यास, (घ) वीततृष्णा, (ङ) करण का अर्थात् इन्द्रियों की निश्चलता, (च) प्राण का संयम अर्थात् प्राणायाम—ये छः शीघ्र ही यति के चित्त की प्रसन्नता उत्पन्न करते हैं। अपरिग्रहः—शास्त्रनिषिद्ध (शास्त्र के द्वारा निषेध किया गया) वस्तु का अर्थात् योग के लिए विक्षेपकर हो सकती हैं ऐसी वस्तुओं का) संग्रह जो नहीं करते हैं अथवा उसमें ममत्व जिनका नहीं है, उन्हें 'अपरिग्रह' (अर्थात् अपरिग्राही) कहा जाता है। [संन्यासी होने के बाद भी जिस संन्यासी का कौपीन वस्त्रादि में ममत्व रहता है वह चोर इत्यादि के डर से उन सब की रक्षा के लिए चेष्टा अवश्य करेगा तथा इस प्रकार चेष्टा रहने से उसके चित्त का विक्षेप उपस्थित होकर समाधि सिद्धि के लिए विघ्नकर भी होगा। इसलिये यति को (संन्यासी को) समाधिनिष्ठा के लिए सर्व प्रकार से परिग्रहशून्य होना चाहिए] ऐसा होकर योगी आत्मानम्—अन्तःकरण को (मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त को) युञ्जीत—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, भूमिकाओं का त्याग कर एकाग्र तथा निरोधभूमि का अवलम्बन कर के आत्मा में समाहित करे।

सर्वप्रपंच (दृश्य पदार्थ) अज्ञान के कार्य हैं। अज्ञान से कल्पना का उदय होता है तथा कल्पना से ही ये दृश्य प्रपंच प्रतीयमान होते है इस दृश्य प्रपंच से पृथक (विलक्षण) तथा सभी प्राणियों के अन्तर में (हृदय में) स्थित जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप द्रष्टा पुरुष हैं वे ही प्रत्यगात्मा हैं, वे ही परब्रह्म हैं वे ही नित्य शुद्धबुद्ध मुक्तसच्चिदानन्द परमात्मा हैं। योगारूढ़ होने के लिए (क) एकान्त तथा (ख) निर्जन स्थान में रहकर, (ग) जागतिक सर्व वस्तुओं की वासना (आशा) का त्याग कर, (घ) सर्व प्रकार से परिग्रह तथा ममत्वशून्य होकर, (ङ) देह तथा अन्तःकरण को संयत कर, (च) निरन्तर (सदा) "मैं ब्रह्म हूँ" "ब्रह्म ही मैं हूँ" ऐसी बुद्धि रखकर परब्रह्म परमात्मा में योगी को समाहित रहना होगा। इन उपायों के द्वारा ही परमपुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त किया जा सकता है—मोक्षप्राप्ति का दूसरा कोई साधन (उपाय) नहीं है (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय), यही 'युञ्जीत' शब्द का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर–[इस प्रकार योगारूढ़ का लक्षण बताकर अब इस श्लोक से लेकर 'स योगी परमो मतः' (गीता ६।३२) तक अंग सहित योगानुष्ठान कैसे किया जायगा वह कहा जा रहा है]

योगी—योगारूढ़ योगी को **सततम्**—निरन्तर (सदा) **रहसि स्थितः**—एकान्त में रहकर **एकाकी**—संगरहित होकर **यतचित्तात्मा**—चित्त तथा आत्मा को (देह को) संयत (वशीभूत) कर तथा **निराशीः**—आकांक्षाशून्य अथवा निराहार होकर तथा **अपरिग्रहः**—परिग्रहरहित होकर (आवश्यकता से अतिरिक्त वस्तु का संग्रह न कर) **आत्मानम्**—मन को **युञ्जीत**—समाहित (ध्यान में स्थिर) करें।

(२) **शंकरानन्द**—चूँकि योगारूढ़ ही अप्रतिबद्ध (अविच्छिन्न) ज्ञान, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन तथा मोक्ष प्राप्त करते हैं—दूसरे नहीं, इसलिये श्रवण-मनन के द्वारा आत्मतत्त्व विज्ञात हुए हैं ऐसे मुमुक्षु यति को 'इतने से ही मैं कृतार्थ हूँ' ऐसा अभिमान का त्याग कर जिससे ज्ञान अप्रतिबद्ध रहे (अविच्छिन्न, अखंड रहे) उसके लिये समाधि अवश्य कर्तव्य है, इस प्रकार कहकर समाधि करने वाले के लिये समाधि के अंगों को सूचित करते हुए समाधि का विधान करते हैं—

योगी—'संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्वाः' (संन्यास योग के द्वारा शुद्धान्तःकरण सम्पन्न यतियों), इस श्रुति वाक्य के अनुसार योगी शब्द का अर्थ है संन्यासी अथवा ब्रह्म में चित्त को युक्त करने का (स्थापन करने का)

जिनका स्वभाव है उनको योगी अर्थात् योगाभ्यासशील यति कहा जाता है। एकाकी— 'एकाकी' इस विशेषण के द्वारा निदिध्यासन करने में प्रवृत्त योगी को अपने से अतिरिक्त दूसरे किसी को पास में रखना उचित नहीं है, यही कहने का अभिप्राय है क्योंकि 'एकस्तपो द्विरध्यायी' (तप करने के समय एक, तथा अध्ययन करने के समय अध्ययनशील व्यक्तियों के दो होने चाहिए ऐसा), ऐसा (शास्त्र का नियम) है। अन्य कोई व्यक्ति रहने से वाग् व्यापार (वार्तालाप) होता रहेगा एवं उससे ध्याननिष्ठा के भंग होने की सम्भावना रहती है। इसलिये एकाकी यानी अकेले ही रहना उचित है। फिर निराशीः— जो व्यक्ति मोक्ष के लिये तीव्र इच्छा तथा वैराग्य के कारण सभी आशाओं से अर्थात् विषय-भोग की इच्छाओं से निर्गत (मुक्त) हुए हैं, वे निराशी हैं। 'एकान्तवासो लघुभोजनादि मौनं निराशा करणावरोधः। मुनेरसोः संयमनं षडेते चित्तप्रसादं जनयन्ति शीघ्रम्।' (एकान्तवास, लघु (अल्प) भोजनादि, मौन, निराशा (आशा रहित होना), इन्द्रिय-निरोध, प्राणों का संयम—ये छः योगी के चित्त के प्रसाद (प्रसन्नता) को शीघ्र ही उत्पन्न करते हैं इस न्याय (शास्त्र के नियम) के अनुसार निदिध्यासन करने के इच्छुक योगी को देह के जीवनादि में भी आशारहित होना पड़ेगा, 'निराशी' शब्द के द्वारा यही सूचित हो रहा है फिर अपरिग्रहः—कौपीन कन्था से अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का परिग्रह (संग्रह) जिनका नहीं है, वे 'अपरिग्रह' हैं। इस प्रकार अपरिग्रह होना पड़ेगा क्योंकि उस कौपीन-कन्था के सिवाय अन्य किसी वस्तु का परिग्रह करने से यतियों को भी चोर आदि से भय (डर) रहेगा तथा उसकी रक्षा के लिये चेष्टा करनी होगी एवं इस चेष्टा से विक्षेप की उत्पत्ति होने पर समाधि की सिद्धि नहीं होगी। अतः परिग्रहरहित होना आवश्यक है। इस प्रकार योग के बहिरंग साधन के सिद्ध होने पर भी यदि अन्तरंग-साधन सिद्ध न हों तो योग सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः अन्तरंग साधन भी होना चाहिये, इस अभिप्राय से कह रहें हैं यतचित्तात्मा—यत (वशीभूत) अर्थात् वासना के द्वारा जो-जो व्यापार (शरीरादि की क्रियाएँ) प्राप्त हुए हैं उन-उन व्यापारों से (उन-उन क्रियाओं से) निगृहीत हुए हैं चित्त तथा आत्मा (देहेन्द्रियादि का संघात) जिनके वे यतचित्तात्मा हैं अर्थात् आत्मा (देह) तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा चित्त को उन-उन व्यापारों से निरुद्ध करने में (रोकने में) जो समर्थ हैं वे ही यतचित्तात्मा हैं। इन ध्यान के साधनों के द्वारा सम्पन्न होकर निदिध्यासन करने के इच्छुक मुमुक्षु स्वयं रहसि स्थितः (सन्)—एकान्त में

अर्थात् गिरिगह्वर (पर्वत कन्दरा) तथा गुहादि में स्थित होकर सततम्—नित्य निरन्तर नियमपूर्वक आत्मानम्—मन को युञ्जीत—युक्त करें। जो सभी दृश्यों के निषेध की अवधि (सीमा) है अर्थात् जहाँ सभी दृश्य लय हो जाते हैं उस प्रत्यग् भिन्न परब्रह्म में (अज्ञान तथा अज्ञान के कार्य देहादि में नहीं किन्तु) नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द, अखंड, अद्वय इस प्रकार श्रुति में कथित लक्षणों से विशिष्ट अपनी आत्मा में युक्त करें अर्थात् 'ब्रह्म ही मैं हूँ तथा मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपने आत्मरूप से ब्रह्म का अनुसन्धान (चिन्तन) करें।

(३) नारायणी टीका—वर्तमान श्लोक में जिन साधन सम्पत्तियों के विषय में कहा गया है वे संन्यासी योगी के लिये ही सम्भव होते हैं।

प्रश्न—"एकाकी", "रहसि स्थितः" इत्यादि साधन संन्यासी के लिये ही सम्भव हैं गृहस्थ के लिए नहीं, ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर—गृहस्थ के लिये वे अत्यन्त कठिन हैं क्योंकि (१) गृह में रहकर एकान्त में रहना (निर्जन स्थान में रहना), सम्पूर्ण अपरिग्रह (कुछ भी संग्रह न कर) रहना, ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित रहना (१४ श्लोक देखो), सदा योगाभ्यास करना इत्यादि असम्भव है। (२) इस प्रकार के साधनों में व्यापृत रहने से गृहस्थ अपने स्त्री-परिजनों के प्रति कर्तव्य कर्म तथा गार्हस्थ्य धर्म का अवश्य कर्तव्य नित्य नैमित्तिक कर्म, यथा—ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ (अतिथिसेवा) तथा भूतयज्ञ इन पंच महायज्ञ को नियमित रूप से नहीं कर सकेंगे। इस कारण वे स्वधर्म से विच्युत होंगे। अतः चित्त-शुद्धि की प्राप्ति होना तो दूर की बात है, उनको आश्रमोचित कर्म नहीं करने के कारण वे प्रत्यवाय (पापग्रस्त) होकर अधोगति को प्राप्त होंगे। (३) यदि नित्य नैमित्तिक कर्म में उनकी रुचि न रहे अथवा तीव्र मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होने के कारण सांसारिक किसी विषय के प्रति आसक्ति उनके हृदय में न रहे तो वे आत्मनिष्ठ होने के लिये शास्त्रविहित संन्यास आश्रम का ही ग्रहण करेंगे। बहुत विघ्नमय एवं "मैं और मेरा' भाव के द्वारा केन्द्रीभूत तथा सीमित गृहस्थाश्रम में वे क्यों रहेंगे ? पिंजरे में बद्ध पक्षी जब उससे छुटकारा पाकर अपिरिच्छिन्न असीम आकाश में उड़कर मुक्ति के आनन्द को प्राप्त होता है तब क्या वह फिर अपने पुराने पिंजरे में प्रवेश करना चाहेगा ? अतः योगारूढ़ावस्था की प्राति के लिये जिन सब

गुणों का वर्णन किया गया है उनके अधिकारी सर्वकर्मसंन्यासी योगी ही हैं। मुक्ति-मार्ग का क्रम इस प्रकार है :—

(१) **प्रथमावस्था**—गृहस्थ निष्काम रूप से (फलाकांक्षारहित होकर) ईश्वर में अर्पण की बुद्धि से तबतक कर्त्तव्य कर्म करेंगे जबतक उनको चित्तशुद्धि (विषय वैराग्य) उत्पन्न न हो।

(२) **द्वितीयावस्था**—उसके बाद तीव्र मोक्षेच्छा (मुमुक्षुत्व) उत्पन्न होने पर साधन-चतुष्टय सम्पन्न होकर परमात्मा का स्वरूप शास्त्र तथा गुरु के निकट से जानकर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के अभ्यास के लिये 'विविदिषा' संन्यास ग्रहण करेंगे। [विविदिषा शब्द का अर्थ है आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा।] विविदिषा संन्यास के लिये जिस साधनचतुष्टय से सम्पन्न होना आवश्यक है, वह इस प्रकार है :—

(क) **नित्यानित्यविवेकः**—अर्थात आत्मा को अनात्म वस्तुओं से पृथक् करना,

(ख) **इहामुत्र फलभोगवैराग्यम्**—अर्थात् इहकाल तथा परकाल में किसी प्रकार के फल भोग करने की तृष्णा से रहित होना।

(ग) **षट्सम्पत्तिः** अर्थात् (१) शम (अन्तःकरण का निग्रह), (२) दम (बाहर की इन्द्रियों का निग्रह), (३) उपरति (विषयभोग से उपरम), (४) तितिक्षा (प्रतिकार न कर शीतोष्णमान-अपमान इत्यादि को सहन करना), (५) श्रद्धा (शास्त्र-वाक्य में विश्वास या आस्तिक्य बुद्धि) (६) समाधान (चित्तवृत्ति निरोध)।

(घ) **मुमुक्षुत्व** (इस जन्म में ही मोक्ष प्राप्त करूंगा, इस प्रकार की तीव्र इच्छा) इस प्रकार साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर विविदिषा संन्यासावस्था में योगी को एकान्त (निर्जन) स्थान में विषय-वासना रहित होकर तथा देहेन्द्रिय एवं अन्तःकरण को संयत कर, परिग्रह से शून्य होकर, सदा चित्त को ब्रह्मरूप आत्मा में युक्त रखने का अभ्यास करना चाहिये, यह ही वर्तमान श्लोक में कहने का अभिप्राय है।

(३) **तृतीयावस्था**—इस प्रकार निरन्तर (सदा) अभ्यास के द्वारा निर्विकल्प समाधि से आत्मसाक्षात्कार करने से जीव, जगत् तथा ईश्वर इन तीनों के मिथ्यात्व तथा आत्मा का सत्यत्व निश्चित रूप से ज्ञात होता है।

अतः उसके पश्चात् पुनः किसी प्रकार के विक्षेप का कारण न रहने से योगी परमात्मा में ही निरन्तर निमग्न (लीन) रहने में समर्थ होते हैं। इसको ही ब्राह्मी स्थिति या योगारूढ़ की अवस्था कही जाती है। यही प्रकृत संन्यास है क्योंकि इस अवस्था में केवल सर्व-कर्म-त्याग ही नहीं होता परन्तु जीव, जगत् तथा ईश्वर इन तीनों की सत्ता विलुप्त होकर एक ब्रह्म-सत्ता में ही पर्यवसित (समाप्त) होती है। इसको ही जीवन्मुक्ति की अवस्था कही जाती है।

[अब योगाभ्यासकारी के योग के साधनरूप आसन, आहार तथा विहारादि का नियम बतलाना चाहिये एवं योगारूढ़ का लक्षण तथा योग का फलादि भी कहना चाहिए, इसलिये यह प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है। उसमें पहले आसन का ही वर्णन करते हैं, क्योंकि ब्रह्मसूत्र में कहा गया है 'आसीनः सम्भवात्' अर्थात् आसन में उपविष्ट होकर ही ध्यान का अभ्यास करना सम्भव होता है।]

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

अन्वय—शुचौ देशे स्थिरम्, न अति उच्छ्रितम् न अति नीचम्, चैलाजिन-कुश-उत्तरम् आत्मनः आसनम् प्रतिष्ठाप्य तत्र आसने उपविश्य यतचित्त-इन्द्रिय-क्रियः (सन्) मनः एकाग्रं कृत्वा आत्मविशुद्धये योगं युञ्जीत ॥

अनुवाद—पवित्र-देश (स्थान) में नीचें कुश, उसके उपर मृग का चर्म एवं उसके उपर वस्त्र रखकर अति उच्च (ऊँचा) या अति निम्न (नीचा) न हो, इस प्रकार अपने आसन का स्थिर रूप से संस्थापन कर उक्त आसन में उपवेशन कर चित्त की क्रियाओं तथा इन्द्रिय की क्रियाओं (विषयग्रहणादिरूप क्रियाओं) का रोध कर (रोक कर) मन की एकाग्रता सम्पादनपूर्वक अन्तः-करण की विशुद्धि के लिये समाधि का अभ्यास करना चाहिए।

भाष्यदीपिका—शुचौ देशे—शुद्ध स्थान में अर्थात् जिस देश के लोग स्वभावतः शुद्ध संस्कारसम्पन्न हैं उस स्थान में अथवा गोमयादि लेपनरूप संस्कार के द्वारा विशुद्ध (पवित्र तथा एकान्त) स्थान में [क्योंकि यदि उन स्थान में बसे हुए लोग दुराचारी हों तथा पापकार्य में रत रहें तो वे लोग अवश्य

ही योगी के योग-साधन में बाधा डालने की चेष्टा करेंगे। और यदि वह स्थान असंस्कृत मलिन दुर्गन्धयुक्त हो तो भी चित्त की प्रसन्नता के अभाव के कारण एकाग्रता असम्भव होगी।] **स्थिरम्**—अचल अर्थात् ऐसा आसन होना चाहिये जो कि इधर-उधर चलायमान न हो सके (हिल न सके) न अति **उच्छ्रितम्** न अधिक ऊँचा हो क्योंकि आसन यदि अत्यन्त उच्च स्थान पर स्थापन किया जाय तो योगाभ्यास करने के समय नीचे गिर जाने का भय रहता है। **नातिनीचम्**—और न अत्यन्त नीचा भी हो क्योंकि आसन यदि भूमि के साथ (संलग्न) रहे तो मिट्टी या पत्थर इत्यादि के साथ देह का प्रत्यक्ष संस्पर्श अधिक दिन तक रहने पर वायुविकार तथा अग्नि-मन्दादि (पचाने की शक्ति का अभाव इत्यादि) रोगों से आक्रान्त होने की सम्भावना रहती है इसलिये यथोक्त आसन के विना मृत्तिका, पत्थर इत्यादि के ऊपर बैठकर साधन करना निषिद्ध है। **चैल-अजिन-कुशोत्तरम्**—पहले भूमि (जमीन) के ऊपर कुशा, उसके उपर मृगचर्म एवं उसके उपर कोमल वस्त्र-खण्ड रखकर योग के लिये आसन तैयार करना चाहिए। "चैलाजिनकुशोत्तरम्" इस पद में पाठ-क्रम से वस्त्रादि का क्रम उलटा समझना चाहिये अर्थात् यहाँ ऊपर से भूमि तक जिस क्रम से आसन का स्थापन करना होगा उसे सूचित किया गया है। **आत्मनः**—अपना आसन। दूसरे के आसन से अपना आसन पृथक् (अलग) करके रखना होगा, 'आत्मनः' शब्द का यही तात्पर्य है। क्योंकि दूसरे के आसन का उपयोग करने से दूसरे की इच्छाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए अपने नियम की रक्षा करना कठिन होता है। अतः योगसाधन के लिये दूसरे के आसन का व्यवहार विघ्नकर है। धर्मशास्त्र में भी अपना-अपना आसन पृथक् रखने के लिये उपदेश दिया गया है, जैसे—

आत्मशय्यासनं वस्त्रं जायापत्यं कमंडलुः।
शुचीन्यात्मन एतानि परेषामशुचीनि तु॥

(बोधायन धर्मसूत्र १।५।६७) अर्थात् अपनी शय्या, आसन, वस्त्र, स्त्री, सन्तान, कमंडलु अपने हो तो पवित्र हैं किन्तु ये यदि दूसरे के हों तो इसे अपवित्र माना जायगा। **आसनम्**—'आस्तेऽस्मिन्निति आसनम्' [अथवा आस्यतेऽस्मिन्निति आसनम् (आनन्दगिरि)] अर्थात् जिसके ऊपर बैठा जाय उसे आसन कहा जाता है। आसन को कैसे स्थापन करना होगा वह पहले ही कहा गया है। स्मृति शास्त्र में केवल वस्त्र का टुकड़ा या काष्ठ-

खण्ड को आसन के रूप से व्यवहार करना निषिद्ध माना गया है—जैसे, "वस्त्रं दारिद्रदुःखाय दारुरोगाय चोपलः" अर्थात् वस्त्र के टुकड़े को आसन बनाने से दारिद्र्य तथा दुःख उपस्थित होते हैं एवं काष्ठ या उपल (पाषाण-शिला) को आसन बनाने से शरीर में रोग उत्पन्न होता है। यद्यपि केवल वस्त्र-खण्ड को आसन के रूप से उपयोग करने से वह दारिद्र्य तथा दुःख का हेतु होता है परन्तु चैल (वस्त्र का टुकड़ा), अजिन (मृगचर्म) एवं कुश इन तीनों वस्तुओं के संयोग से जो आसन बनता है वह योग के लिये शुद्ध आसन है, यहाँ पर यही कहने का तात्पर्य है। प्रतिष्ठाप्य—स्थापन कर तत्र आसने उपविश्य—तत्र अर्थात् उस आसन में (यथोक्त आसन में) बैठ कर। योग-साधन बैठकर ही सम्भव है ("आसीनः सम्भवात्" ब्र० सू० ४।१।७)—सोकर या चलते-चलते सम्भव नहीं है। इसलिए कहा गया 'उपविश्य' अर्थात् बैठकर यतचित्त इन्द्रियक्रियः—चित्त की (मन की) तथा इन्द्रियों की (चक्षु, कर्ण इत्यादि की) क्रियाओं को (चेष्टा शक्ति को) अर्थात् शब्द स्पर्शादि विषय-ग्रहण एवं विषयों का स्मरण इत्यादि रूप क्रियाओं को) जिसने संयत अर्थात् वशीकृत कर लिया है वैसे यतचित्तेन्द्रियक्रिय योगी मनः एकाग्रं कृत्वा—समस्त विषयों से उपसंहृत (निवृत्त) होकर चित्त की एकाग्रता सम्पादन कर [आसन-स्थापन एवं मन तथा इन्द्रियादि का संयम किस उद्देश्य से करना आवश्यक है उसके उत्तर में कहते हैं—] आत्मविशुद्धये—आत्मा की (अन्तःकरण की) विशुद्धि अर्थात् विशेष रूप से शुद्धि करने के लिए। परमात्मा सर्वत्र विराजमान हैं तथापि उनका साक्षात्कार साधारण लोगों को नहीं होता है। चित्त की (अन्तःकरण की) मलिनता ही उसका कारण है। अज्ञान से उत्पन्न हुई कामना वासनाओं द्वारा चित्त का जो विक्षेप उपस्थित होता है यही चित्त की मलीनता है क्योंकि उस विक्षेप से ही नित्य सिद्ध परमात्मा आवृत (अप्रकाशित) रहते हैं। अतः 'आत्मविशुद्धि' शब्द का अर्थ है—जिससे आत्मा (अन्तःकरण) सर्वप्रकार से विक्षेपहीन होकर तथा अतिसूक्ष्म होकर ब्रह्म-साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त हो, इसके लिए श्रुति भी कहती है—दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः (क० उ० १।३।१२) (सूक्ष्मदर्शी योगी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही आत्मा का दर्शन करते हैं) योगम्—चित्तवृत्ति की पूर्ण स्थिरतारूप निरोध का अर्थात् समाधि का युञ्जीत—अनुष्ठान अर्थात् अभ्यास करना चाहिए। योग शब्द का प्रकृत अर्थ है जीवात्मा का परमात्मा के साथ मिलन या एकात्मभाव। अतः जिससे कि परमात्मा में निरन्तर चित्त-वृत्ति स्थिर रहे उसके लिए पुनः-पुनः प्रयत्न ही योगाभ्यास है।

(जब धारावाहिक रूप से चित्त में ब्रह्माकारा वृत्ति का प्रवाह चलता रहता है तब उसे निदिध्यासन कहा जाता है। इसलिए शास्त्र में कहा गया है— "ब्रह्माकारा मनोवृत्तिःप्रवाहोऽहंकृतिं विना। सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यास-प्रकर्षतः ॥" अर्थात् ध्यानाभ्यास का प्रकर्ष (उत्कर्षता की प्राप्ति) होने से अहंकार से रहित ब्रह्माकारा मनोवृत्ति का प्रवाह अर्थात् "मैं जीव हूँ" इस प्रकार के भाव से रहित होकर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की वृत्ति का प्रवाह चलता रहता है। उसे संप्रज्ञातसमाधि कहा जाता है। इस अवस्था को लक्ष्य करके ही भगवान् ने "योगं युञ्जीत सततम्" (गीता ६।१०) "युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये" (गीता ६।१२) "युक्त आसीत मत्परः" (गीता ६।१४) इस प्रकार कहकर पुनः पुनः ध्यानाभ्यास का उपदेश दिया है (मधुसूदन)]

टिप्पणी—(१)श्रीधर—[इन दोनों श्लोकों में आसन के नियम बताये गये हैं]

शुचौ देशे—शुद्ध स्थान में आत्मनः आसनम्—अपना आसन (दूसरे का नहीं) प्रतिष्ठाप्य—स्थापन कर (उसके उपर बैठोगे)। वह आसन कैसा होगा ? स्थिरम्—स्थिर नात्युच्छ्रितम्—अत्यधिक ऊँचा न हो क्योंकि अत्यन्त ऊँचे आसन पर बैठने से गिर जाने की आशंका रहती है अतः वह भी चित्त-स्थैर्य के लिए विघ्नकर होगा। नातिनीचम्—अत्यन्त नीचा न हो, (क्योंकि तब कीट, सर्प आदि से भय रहता है) चैलाजिनकुशोत्तरम्—चैल (वस्त्र का टुकड़ा), अजिन (बाघ, मृगादि का चर्म) तथा कुश है उत्तर—अर्थात् एक के बाद दूसरा स्थापित है जिसमें उसप्रकार आसन में भूमि (जमीन) के ऊपर कुश, कुश के उपर चर्म (चमड़ा) तथा चर्म के ऊपर वस्त्र-खंड बिछा कर आसन करना होगा—यही कहने का अभिप्राय है। तत्र—उस आसन में उपविश्य—उपवेशन कर एकाग्रं मनः कृत्वा—मन को एकाग्र (विक्षेपरहित कर) योगं युञ्जीत—योग का अभ्यास करे। [कैसा अभ्यास करना पड़ेगा वह कहा जा रहा है—] यतचित्तेन्द्रियक्रियः—चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को संयत कर [योगाभ्यास की आवश्यकता क्या है उसे कह रहे हैं] आत्मविशुद्धये—आत्मा की विशेष शुद्धि के लिए [अर्थात् आत्मा की (मन की) विशुद्धि (उपशान्ति के) लिए चित्तवृत्ति से रहित होकर उपशान्त होने से ही नित्यशुद्धमुक्त परमात्मा हृदय में प्रकाशित होते हैं। इसलिए चित्त की उपशान्ति ही उसकी परमशुद्धि है।]

(२) शंकरानन्द—[श्लोक ११]

पहले कई श्लोकों में योग के बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों को संक्षेप से कहकर अब देश (स्थान), आसन, शरीर धारणादि योग के बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों को विशेषरूप से समझाने के लिए पहले आसन का लक्षण बता रहे हैं—

शुचौ देशे—मार्जन, प्रोक्षणादि क्रियाओं के द्वारा अथवा स्वभावतः शुद्ध निर्जन नदी के किनारे अथवा गुहादि प्रदेश में **आत्मनः**—अपने ही **आसनम्**—ध्यान के योग्य आसन **नात्युच्छ्रितम्**—अत्यन्त ऊँचा न हो (क्योंकि अत्यन्त ऊँचा होने से कहीं परवशता के कारण चलन या पतनादिरूप विघ्न (बाधा) की सम्भावना रहेगी) और **नातिनीचम्**—अत्यन्त नीचा भी न हो (क्योंकि आसन अत्यन्त नीचा होने से शीत (ठंडा) या उष्णता (गर्मी) के कारण अथवा प्रस्तरादि के साथ घर्षण होने से क्लेश होने की सम्भावना रहेगी। अत एव आसन इन दोनो से विलक्षण ही होना चाहिए। **चैलाजिन-कुशोत्तरम्**—उस आसन में भी चैल (वस्त्र), अजिन (व्याघ्र-चर्म या कृष्ण-मृग-चर्म), कुशा (दर्भ) उत्तर अर्थात् एक के ऊपर दूसरे के विपरीत क्रम से रखना होगा। नीचे कुश, उसके उपर अजिन तथा उसके ऊपर वस्त्रखंड स्थापित कर आसन बनाने से उस आसन को 'चैलाजिनकुशोत्तरम्, कहा जाता है। यद्यपि आसन के लिये वस्त्र निषिद्ध है क्योंकि स्मृति में कहा गया है 'वस्त्र-दारिद्र्य-दुःखाय दारुरोगाय चोपलः' इत्यादि (वस्त्र से बना हुआ आसन दुःख तथा दारिद्र्य का हेतु (कारण) होता है तथा काठ तथा पत्थर का आसन रोग का कारण होता है) किन्तु यह निषेध गृहस्थ के लिए है, यति के लिये नहीं, ऐसा समझना होगा। **स्थिरं प्रतिष्ठाप्य**—अपना आसन जिससे स्थिर अर्थात् अचल (निश्चल) रहे उस प्रकार से स्थापन कर अर्थात् सजा कर।

[श्लोक १२]

[आसन कैसे बनाना होगा यह कहकर उसमें क्या करना होगा ? यह कह रहें हैं।]

तत्र – उक्त लक्षण विशिष्ट आसन में **उपविश्य** – निदिध्यासन (ध्यान) करने का इच्छुक यति उपवेशन कर (बैठकर) स्वयं **यतचित्तेन्द्रियक्रियः** [योगी का योगसिद्धि के लिये यही उत्तम अन्तरंग साधन है, इससे पहले कहे जाने पर भी (गीता ६।१०) फिर उसी का उपदेश करते हैं।] यत (संयत—सम्यक् प्रकार से निरुद्ध) हुआ है चित्त एवं उभय इन्द्रियों की अर्थात् कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय की क्रियाएँ (स्वाभाविकी चेष्टाएँ अर्थात् विषयप्रवृत्तियाँ) जिनके

द्वारा वे यतचित्तेन्द्रियक्रियः हैं। इस प्रकार होकर **मनः**—मन की वृत्ति को एकाग्रं कृत्वा—(परमात्मरूप) लक्ष्यवस्तु के अभिमुख करके अर्थात् सम्यक् रूप से प्रत्यक् प्रवण (अन्तर्मुखी) करके। इस प्रकार लक्षणयुक्त यति आत्मविशुद्धये—आत्मा की विशुद्धि अर्थात् अविद्या तथा अविद्या के कार्य देह तथा इन्द्रियादि में (अथवा अन्यत्र) 'मैं, मेरा' इस प्रकार के मिथ्या प्रत्ययों की तथा उनके कारण वासनाओं की सम्पूर्ण रूप से निवृत्ति ही आत्मा की (अन्तःकरण की) विशुद्धि है। उसकी सिद्धि के लिये योगम्—ब्रह्म में आत्मभाव (मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा भाव) के द्वारा पुरुष जब युक्त होते हैं अर्थात् ब्रह्म के साथ एक हो जाते हैं (जीवात्मा तथा परमात्मा का एकत्व अनुभव करते हैं) तब उस अवस्था को योग कहा जाता है। अतः योग का अर्थ है समाधि। इस प्रकार समाधि योग का युञ्जीत—अनुष्ठान (अभ्यास) करें। अविच्छिन्न रूप से प्रत्यक्-प्रत्यय (ब्रह्माकारावृत्ति) के द्वारा विशुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा का निरन्तर (सदा) चिन्तन करें यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—दोनों श्लोकों का अर्थ स्पष्ट है। १२वें श्लोकमें 'यतचित्तेन्द्रियक्रियः' होकर योग-साधन करने को कहा गया है। चित्त तथा इन्द्रियों की क्रिया इस प्रकार से संयत की जाती है—(क) ज्ञानमार्ग में—चित्त तथा इन्द्रियाँ माया या कल्पना से उत्पन्न हुए हैं। वे तथा उनकी क्रियाएँ सभी दृश्य हैं अतः मिथ्या हैं। "मैं शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म हूँ, उनकी चिरन्तन द्रष्टा हूँ", इस प्रकार के भाव के द्वारा मायिक चित्त से, इन्द्रियों से एवं उनकी क्रियाओं से अपने को पृथक् कर उनके प्रति उदासीन रहने से ही वे संयत होते हैं। (ख) **भक्ति मार्ग में**—चित्त विषयों की भावना करता है तथा इन्द्रियाँ विषयप्राप्ति के लिये चेष्टा करती हैं। इस कारण से चित्त व्याकुल तथा विक्षिप्त रहता है। विषयों का दोष दर्शन कर विचारशील चित्त यदि आत्मा (भगवान्) के प्रसंग में लिप्त रहे तथा इन्द्रियों की क्रियाएँ यदि निरन्तर भगवान् में ही (पूजा के रूप से) अर्पित होती रहती हैं तब चित्त तथा इन्द्रियाँ भगवान् में ही आसक्त रहने के कारण उनकी क्रियाएँ भी संयत रहती हैं। (ग) **योगमार्ग में**—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि शास्त्रविहित नियम के अनुसार अभ्यास करने से चित्त तथा इन्द्रिय की क्रिया परमात्मा के अभिमुखी होकर संयत होती हैं। उक्त तीन मार्गों में से किसी एक का अवलम्बन कर चित्त स्थिर होने से (निर्विकल्प समाधि से) ब्रह्म तथा आत्मा की एकता का साक्षात्कार करने पर आत्मा की (जीवात्मा की) विशेष शुद्धि सम्पादित होती है।

[वाह्य आसन के नियमों को वताकर आसन में बैठकर शरीर को किस प्रकार धारण करना होगा उसे १३ श्लोक् में कहा जा रहा है। (१) समकायशिरोग्रीवत्व, (२) शरीर का स्थिरत्व, (३) नासिकाग्र में दृष्टि रखना, (४) दिशा को न देखना इत्यादि योगी की योग-सिद्धि का वहिरंग साधन है ऐसा कहने के वाद चतुर्दश श्लोक में योगसिद्धि के असाधारण अन्तरंग साधन (जिसके विना परमात्मा में पूर्ण रूप से स्थिति लाभ करना सम्भव नहीं होता है वह) सूचित किया जा रहा है।]

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अन्वय—कायशिरोग्रीवम् समम् अचलम् धारयन् स्थिरः (सन्) स्वम् नासिकाग्रम् संप्रेक्ष्य दिशः च अनवलोकयन् प्रशान्तात्मा विगतभीः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः (योगी) मनः संयम्य मच्चित्तः मत्परः युक्तः (सन्) आसीत ।

अनुवाद—देह, मस्तक तथा ग्रीवा को समान रूप से एवं निश्चल रूप से रखकर दूसरे किसी भी ओर दृष्टि-निक्षेप न कर (दृष्टि न डालकर) जैसे कि अपनी नासिका के अग्र भाग को देख रहे हैं इस प्रकार से योगी स्थिर रहें। उसके वाद (वाहर तथा भीतर के विषयों का त्याग कर) प्रशान्त चित्त, भयरहित, ब्रह्मचारी के व्रत में रत रहकर मन को संयत कर मद्गत चित्त तथा मत्परायण होकर मुझ में ही युक्त होकर वैठे रहें।

भाष्यदीपिका—कायशिरोग्रीवम्—काय अर्थात् देह का मध्यभाग, मस्तक एवं ग्रीवा अर्थात् मूलाधार से लेकर मूर्द्धा तक समम् समान रूप से [परन्तु शरीर को सीधा रखने पर भी उसका चलना सम्भव होता है अतः विशेष रूप से कहते हैं] अचलम्—इस प्रकार निश्चल रखना होगा कि जिससे शरीर दाहिने वाँये एवं सम्मुख (सामने) तथा पश्चात् में (पीछे) चलायमान (कांम्पत) न हो। देह यदि पूर्णरूप से सम तथा अचल न रहे तब देह की चंचलता रहने के कारण मन की स्थिरता सम्पादन करना कठिन होता है। अतः शरीर को सम तथा निश्चल रूप से धारयन्—धारण कर स्थिरः सन्—एवं इस प्रकार से स्थिर होकर अर्थात् दृढ़ प्रयत्न से स्थाणुवत् चंचलता रहित होकर स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य अपनी नासिका के अग्र-

भाग को जैसे सम्यक् रूप से देख रहे हैं ऐसे। यहाँ "संप्रेक्ष्य" शब्द के बाद "इव" (जैसे) शब्द लुप्त हैं क्योंकि यहाँ अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखकर मन को भी यहाँ ही स्थिर करना पड़ेगा, ऐसा कहने का अभिप्राय नहीं है क्योंकि "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा" इत्यादि से गीता ६।२५ आत्मा ही एकमात्र ध्येय वस्तु है, स्पष्टरूप से कहेंगे। यदि नासिका का अग्रभाग ही ध्येय वस्तु हो तो परमात्मा में समाधिस्थ न होकर नासिका के अग्रभाग में स्थित मन उसी आकार में परिणत होकर स्थिर रहेगा किन्तु इससे कोई परम पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये जिससे कि दृष्टि दाहिने तथा बाएँ अथवा ऊपर या नीचे की ओर चंचल होकर विषयों की ओर न जा सके इसलिये "चक्षु मानो नासिका के अग्रभाग को ही देख रहा है" इस प्रकार से अर्थात् अर्ध-निमीलित नेत्रों से योगी ध्येय वस्तु में (परमात्मा में) मन को संलग्न रखें, यही श्री भगवान् का कहने का अभिप्राय है। यदि चक्षुओं की दृष्टि पूर्णरूप से बन्द रहे तब लय की (निद्रा की) सम्भावना रहेगी फिर यदि पूर्ण रूप से खुली रहे तब चक्षुओं से सामने का रूप ग्रहण करते रहने पर योगी के चित्त में विक्षेप उत्पन्न होने की सम्भावना रहेगी। इसलिये आँखों की अर्धनिमीलित दृष्टि ही योगी के निदिध्यासन के लिये विशेष रूप से अनुकूल है।

दिशश्च अनवलोकयन्—(इस प्रकार नेत्रो की दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर रखकर) तथा अन्य दिशाओं को न देखता हुआ (बीच-बीच में दिशाओं की ओर दृष्टिपात न कर) यद्यपि 'नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य' अर्थात् नासिका के अग्रभाग को देखना होगा इस प्रकार के विधान से ही उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का दर्शन करना निषिद्ध हुआ है। तथापि पूर्व संस्कार से मन चंचल होकर जिससे योग-साधन के अन्तराल में बीच-बीच में शब्दादि के द्वारा आकृष्ट होकर इधर-उधर चालित न हो उसके लिये विशेष रूप से सावधान करने के लिये ऐसा कहा गया है। यहाँ 'च' शब्द के द्वारा अपने शरीर का नासिका के अग्रभाग के अतिरिक्त दूसरे अंगो के प्रति भी दृष्टिपात करना निषिद्ध हुआ है क्योंकि वह भी योग के लिये विघ्नकर है। योगी समाधि-अभ्यास के समय ध्येय वस्तु के अतिरिक्त बाहर या अपने शरीर के अन्य किसी अंश के प्रति दृष्टिपात न कर स्थिर रूप से योग-साधन करें यही कहने का अभिप्राय है।

प्रशान्तः आत्मा—प्रकृष्ट रूप से शान्त हुई है आत्मा (अन्तःकरण) जिनकी वे। [जिनके अन्तःकरण में राग-द्वेष आदि उत्पन्न नहीं होते हैं उन्हें

प्रशान्तात्मा कहा जाता है। किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये इच्छा (राग) या किसी वस्तु का परिहार करने के लिये चेष्टा (द्वेष) उपस्थित होने से ही मन चंचल होकर अशान्त होता है। इसलिये जब तक अन्तःकरण राग-द्वेष से रहित न हो तब तक वह शान्त नहीं हो सकता। विषयों में जब तक समीचीनत्व या असमीचीनत्व अर्थात् अच्छाई बुराई की बुद्धि (प्रीति-अप्रीति, अनुकूलत्व तथा प्रतिकूलत्व बुद्धि) रहेगी तब तक राग-द्वेष की निवृत्ति होना सम्भव नही है क्योंकि अविद्या से उत्पन्न हुई भेद-बुद्धि ही राग-द्वेष का मूल हेतु है। बाह्य-विषयों की तथा आन्तरिक विषयों की वासना का त्याग कर जब ध्यानाभ्यास के द्वारा चित्त समाधि का सुख आस्वादन करता है तब इस अविद्यारूप मूल कारण सहित राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं एवं तब चित्त केवल शान्त ही नहीं, "प्रशान्त" अथात् प्रकृष्ट (पूर्ण) रूप से शान्त हो जाता है। इस अवस्था में ही चित्त की परमात्मा में निरन्तर स्थिति सम्भव होती है, अन्यथा नहीं।] फिर, विगतभीः—जिनके अन्तःकरण से सभी प्रकार का भय दूर (अपगत) हुआ हो वे। [मन के सभी प्रकार के धर्म—जैसे भय, लज्जा, संकल्प इत्यादि से जो व्यक्ति, मुक्त हैं ऐसे व्यक्ति को ही लक्ष्य करके 'विगतभीः' शब्द का प्रयोग हुआ है। एकमात्र परमात्मा ही ध्येय तथा जीवन की लक्ष्य वस्तु हैं, यह जब निश्चित होता है तथा परमात्मा के साक्षात्कार के लिये जब योगी दृढ़-संकल्प होकर योगाभ्यास करते रहते हैं तब लौकिक आचार तथा शास्त्रीय बाह्य सर्व कर्म से भी वे विरत होते हैं। इसलिये "लोग मेरी निन्दा करेंगे अथवा इहलोक में या परलोक में मेरा कोई अनिष्ट होगा" इस प्रकार का भय उनके मन में नही रहता है अर्थात् लोकनिन्दा या पाप-पुण्य का भय अथवा शुभ-अशुभ की चिन्ता उनके अन्तःकरण से "वि" (विशेष रूप से) "गत" (दूर) हो जाती है। शास्त्र में भी कहा गया है—"वेदानिमं लोकममुंच परित्यज्यात्मान-मन्विच्छेत्" अर्थात् मुमुक्षु वेदपाठ तथा इहलोक तथा परलोक की भावनाओं का परित्याग कर एकमात्र आत्मा की प्राप्ति के लिये इच्छा करें। "नैवधर्मी न चाधर्मी" "न चैव हि शुभाशुभी" इत्यादि अर्थात् जब परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय होता है तब वह ज्ञानी न तो धर्म का आचरण करते हैं और न तो अधर्म का आचरण करते हैं, न तो शुभ कर्म करते है और न तो अशुभ कर्म करते हैं इत्यादि। श्रुति तथा स्मृति का उपदेश श्रवण तथा मनन कर जीवन की लक्ष्य वस्तु एकमात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा ही हैं, यह निश्चय कर सर्व प्रकार के संशय से रहित होने पर साधक "विगतभीः" अर्थात् विशेष रूप से भयरहित हो जाते हैं। 'द्वितीयाद्वै भयम्' अर्थात् द्वैतबुद्धि जब तक रहती है

तब तक ही भय रहता है। जब ब्रह्म या परमात्मा ही एकमात्र नित्य सत्य वस्तु है और सब मिथ्या है, ऐसा निश्चिय होता है तब फिर भय किसका और किससे हो सकता है? **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**—ब्रह्मचारीव्रत अर्थात् ब्रह्मचर्य-पालन (आठ प्रकार के मैथुन का त्याग), गुरु की सेवा तथा भिक्षान्न भोजन, त्रिषवण स्नान, शौचाचमन इत्यादि शास्त्रसिद्ध ब्रह्मचारी के धर्मों का पालन कर जो उसी में स्थित रहते हैं अर्थात् उनका जो अनुष्ठान करते हैं। [टिप्पणी - (१) देखो। फिर टिप्पणी (३) में शंकरानन्द ने इस वाक्य का (युक्ति के द्वारा अन्य प्रकार से जो अर्थ किया है वह भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है।] **मनः संयम्य**— मन की वृत्तियों का उपसंहार करके मन की वृत्तियाँ बहिर्गामी होकर विषयों में आसक्त न हो सकें इसलिये मन का निग्रह करके (विषयों से निवृत्त करके) अन्तर्मुखी कर योगनिष्ठ होना योगी का कर्तव्य है, यही "मनः संयम्य" शब्द का तात्पर्य है। **मच्चित्तः**—मुझ में (परमेश्वर में) जिनका चित्त संलग्न रहता है अर्थात् जिनकी चित्तवृत्ति धारावाहिक रूप से परमात्मा में निमग्न रहती है उनको 'मच्चित्त' कहा जाता है। इस प्रकार होकर **मत्परः**—जिसके मत में मैं ही (परमात्मा ही) पर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हूँ अर्थात् मुझे प्राप्त करना ही जीवन का परम पुरुषार्थ है, यह जिन्हें निश्चय हुआ है वे ही 'मत्पर' हैं। इस प्रकार होकर [अथवा मैं ही (परमात्मा ही) परमानन्द स्वरूप होने के कारण जिनके निकट पर अर्थात् परम पुरुषार्थ (प्रिय) हूँ वे 'मत्पर' हैं। श्रुति में भी कहा गया है 'प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरो यदयमात्मा' (बृह० उ० १।४।८) अर्थात् यह आत्मा पुत्र से, वित्त से तथा अन्य सभी वस्तुओं से प्रिय है; यह आत्मा अन्य सभी वस्तुओं से अधिक अन्तर है अर्थात् सर्वापेक्षा प्रियतम वस्तु है, (मधुसूदन)] शंका हो सकती है कि "मच्चित्त" होने से ही तो "मत्पर" अवश्यम्भावी होगा, अतः एक ही अर्थबोधक शब्द दो बार क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कोई स्त्रैण (स्त्री प्रेमी) व्यक्ति का चित्त स्त्री में ही सर्वदा संलग्न रह सकता है परन्तु वह स्त्री को 'पर' (सबसे श्रेष्ठ) अर्थात् जीवन का परम पुरुषार्थ मान नहीं सकता है। हो सकता है कि वह राजा या महादेव को स्त्री की अपेक्षा 'पर' (श्रेष्ठ) मानता है। इस प्रकार कोई व्यक्ति विशेष देवता को जैसे काली, दुर्गा, सरस्वती इत्यादि देवताओं को आराध्य के रूप से स्वीकार कर जागतिक कोई फलकामना कर उसी-उसी मूर्ति में मन को संयत अर्थात् समाहित कर सकता है किन्तु वैसी अवस्था में भी उन-उन देवताओं को वे चरम पुरुषार्थ के रूप से नहीं ग्रहण करते क्योंकि उन देवताओं की आराधना द्वारा उनकी कृपा लाभ

कर सांसारिक किसी फल की प्राप्ति ही उनका उद्देश्य रहता है। उन-उन देवताओं की प्राप्ति उनके जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। किन्तु जो योगी मुझको अर्थात् अखंड, अद्वय, चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को ही परमपुरुषार्थ के रूप से निश्चय कर मुझमें ही चित्त को समाहित करते हैं वे प्रशान्तात्मा तथा संयतमनाः होने के कारण अर्थात् उनको जागतिक अन्य किसी भी वस्तु में आसक्ति या फलकामना नहीं रहने के कारण वे एक साथ ही "मच्चित्त" तथा "मत्पर" होते हैं यह ही भगवद् भक्त की विशेषता है। युक्तः (सन्) आसीत—इस प्रकार युक्त (समाहित) होकर बैठे। चित्त की सर्ववृत्तियों के निरोध होने पर एकमात्र ब्रह्माकारा या भगवदाकारा चित्तवृत्ति जब धारा-वाहिक रूप से चलती रहती है तब योगी को "युक्त" कहा जाता है। यथा-शक्ति इस प्रकार से अर्थात् "मैं ही परमात्मा परब्रह्म हूँ" इस प्रकार की ब्रह्माकारा वृत्ति का अवलम्बन कर यथोक्त आसन पर निश्चलरूप से समाहित (सम्प्रज्ञातसमाधियुक्त) होकर बैठें तथा अपनी इच्छा के अनुसार उस समाधि-अवस्था का त्याग न करें, यही 'आसीत' शब्द का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) ब्रह्मचारिव्रते स्थितः—मैथुन आठ प्रकार के हैं जैसे—"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च एतान् मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्य-मेतदेव प्रकीर्तितम्॥ (मनु) अर्थात् (१) स्त्री का स्मरण करना, (२) स्त्री का कीर्तन करना (स्तुति करना), (३) स्त्री के साथ केलि (खेल या उपहास करना), (४) स्त्री को देखना, (५) स्त्री के साथ एकान्त में या गोपनीय स्थान में वार्तालाप करना, (६) स्त्री के साथ मैथुन का संकल्प तथा (७) निश्चय करना एवं (८) मैथुन करना—ये आठ प्रकार के मैथुन हैं—ऐसा बुद्धिमान् व्यक्तिगण कहते हैं अर्थात् इनमें से कोई भी एक ब्रह्मचारी व्रत के लिये हानिकर है। इसके विपरीत आचरण को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

(२) श्रीधर—[इन दो श्लोकों के द्वारा चित्त की एकाग्रता में उपयोगी देहादि की धारणा का नियम बता रहे हैं—] कायशिरोग्रीवम्—देह का मध्य भाग, शिर (मस्तक) तथा ग्रीवा – अर्थात् मूलाधार से लेकर मस्तक (सिर) के अग्रभाग तक समम्—अवक्ररूप से (सीधा) तथा अचलम्—निश्चलरूप से रखकर स्थिरः—दृढ़-प्रयत्न होकर स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य—अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखकर अर्थात् नेत्रों को अर्धनिमीलित (आधा खुला) कर दिशश्चानवलोकयन्—इधर-उधर दिक् समूह (दिशाओं) को न देखते हुए प्रशान्तात्मा—प्रकृष्ट रूप से (भली-भाँति) शान्त हुई है आत्मा (चित्त)

जिनका वे प्रशान्तात्मा हैं। इस प्रकार होकर **विगतभीः**—विगतभय एवं **ब्रह्मचारिव्रते—स्थितः**—व्रतरूप ब्रह्मचर्य में स्थित होकर **मनःसंयम्य**—मन को विषयों से प्रत्याहृत कर (हटा कर) **मच्चित्तः**—एकमात्र मुझमें ही चित्त लगा कर **मत्परः**—मैं ही (भगवान् ही) परम पुरुषार्थ (अन्तिम लक्ष्य) हूँ, इस प्रकार निश्चयपूर्वक **युक्तः आसीत**—समाहित होकर (योग-युक्त होकर) योगी अवस्थान करें अर्थात् बैठें।

(३) शंकरानन्द—श्लोक १३।

फिर योगसिद्धि के अन्य अंगसमूह का उपदेश करते हुए उक्त लक्षणों से युक्त होकर यति समाधि करें, यह कह रहे हैं—

कायशीरोग्रीवम्—काय शब्द का अर्थ है कटि का ऊद्र्ध्व प्रदेश (कमर के ऊपर का भाग)। काय, शिर तथा ग्रीवा ये तीनों **अचलं समं धारयन्**—अचल तथा सम (ऋजु अर्थात् सरल) रूप से धारण करता हुआ यद्यपि काय, शिर तथा ग्रीवा का सम अर्थात् ऋजु (सरल) रूप से धारण करने से योगी इधर-उधर, पास में तथा पीछे दर्शन तथा स्पर्श करने में समर्थ नहीं होते हैं तथापि मशकपिपीलिकादि के उपद्रवों से चंचलता हो सकती है इसलिए मशकादि (मच्छर आदि) के द्वारा भी जिससे विचलित न हों इसलिए कहा गया है 'अचलम्'। इस प्रकार काय, शिर तथा ग्रीवा को ऋजु तथा अचल रखकर **स्थिरः (सन्)**—स्थिर अर्थात् स्थाणु के (ठूँठ के) समान निश्चल होकर **स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य**—चक्षुओं के द्वारा अपनी नासिका के अग्रभाग को ही देखते हुए। 'चक्षुओं के द्वारा अपनी नासिका के अग्रभाग को ही देखते हुए' इस प्रकार कहने का यह उद्देश्य है कि चक्षुओं से चक्षु के विषय का (रूप का) ग्रहण न करें। नासिका के अग्रभाग का दर्शन करने के लिए ऐसा नहीं कहा गया है। यदि नासिका के अग्रभाग को दर्शन करना ही यहाँ कहने का अभिप्राय हो, तो मन नासिका के अग्रभाग के आकार में आकारित होकर नासिका के अग्रभाग में ही स्थित रहेगा। ऐसा होने से ब्रह्म में चित्त की स्थिति का सम्भव नहीं होता है किन्तु ब्रह्म में चित्त को स्थापित करना ही प्रकृत समाधि है। बाद में भी 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' (मन को आत्मा में स्थित करके-गीता ६।२५) इस प्रकार श्री भगवान् कहेंगे। इसलिए चक्षुओं के द्वारा नासिका के अग्रभाग को दर्शन करने की विधि का उद्देश्य है-जिससे कि चक्षुओं से रूप का ग्रहण न किया जाय और चक्षुओं की चंचलता

न रहे। इसके द्वारा सिद्ध होता है जैसे चक्षुओं से रूप का ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा कहा गया है उसी प्रकार श्रोत्रादि से भी (कर्ण, नासिका, जिह्वा तथा त्वचा से भी) शब्दादि विषयों का ग्रहण नहीं करना विवक्षित है, (कहने का अभिप्राय है), यह समझना होगा। चक्षुओं के द्वारा रूप का अग्रहण के विधान द्वारा ही निदिध्यासनकारी का नियमन कर रहे हैं—दिशः च अनवलोकयन्—यद्यपि नासिका के अग्रभाग के दर्शन की विधि के द्वारा ही उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का दर्शन करना निषिद्ध हो ही जाता है तथापि किसी भी समय सम्मुख में, पश्चात् में (अर्थात् आगे पीछे) इधर-उधर विपरीत शब्द की उत्पत्ति होने से पूर्व पश्चिम इत्यादि दिक् समूह का तथा 'च-कार' शब्द के द्वारा अपने शरीर का भी अवलोकन (दर्शन) हो सकता है। इसलिए दिक् समूह को तथा अपने शरीर को भी दर्शन न करते हुए 'युक्तः आसीत' (युक्त होकर बैठें), इस प्रकार आगे के श्लोक के साथ सम्बन्ध रखकर अन्वय करना होगा।

श्लोक १४—'समं कायशिरोग्रीवम्' होना, स्थिर होना, नासिका के अग्रभाग का दर्शन तथा दिकसमूह का (दिशाओं का) अदर्शन—ये सब योगी के योगसिद्धि के अंग हैं, इस प्रकार सूचना करके इनसे भी अन्तरंग तथा योग की सिद्धि के असाधारण साधनों को सूचित करते हुए मुमुक्षु यति उक्त प्रकार साधनसम्पन्न होकर समाधि का अभ्यास करें, ऐसा कह रहे हैं—

प्रशान्तात्मा—प्रशान्त अर्थात् प्रकृष्ट रूप से शान्त आत्मा (अन्तःकरण) जिनकी है वे। रागद्वेषादि की उत्पत्ति नहीं होना ही आत्मा अर्थात् अन्तःकरण की शान्ति है। उस शान्ति का प्रकर्ष होता है जब रागद्वेषादि की उत्पत्ति के हेतु समूह की (जैसे, विषय में समीचीनत्व-असमीचीनत्व, प्रीति-अप्रीति, इष्ट साधनत्व-अनिष्टसाधनत्व-बुद्धियों की) पूर्णतया निवृत्ति होती है। इस प्रकार लक्षणविशिष्ट होकर जिनका अन्तःकरण प्रशान्त हुआ है वे प्रशान्तात्मा हैं। विगतभीः—विशेष रूप से अर्थात् सम्पूर्ण रूप से गत (नष्ट) हुआ है भय जिनका उन्हें 'विगतभी' कहा जाता है। अन्न का आदान प्रदान (ग्रहण तथा त्याग) के अतिरिक्त दन्तधावन, मुख-प्रक्षालनादि तथा शास्त्रीय सर्व कर्म का परित्याग करने से शिष्ट पुरुष निन्दा करेंगे, ऐसा भय जिनको नहीं है वे 'विगतभी' हैं। 'स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्य, (स्वाध्याय तथा सकल कर्मों का त्याग कर), 'वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्' (वेद समूह को तथा इस लोक व परलोक का त्याग कर अनन्तर आत्मा में स्थिति-लाभ करने के लिए इच्छा करें), 'त्यज धर्ममधर्मं च' (धर्म तथा अधर्म

का त्याग करो), 'नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी' (धर्मी भी नहीं है, अधर्मी भी नहीं है, शुभी तथा अशुभी भी नहीं है) इत्यादि श्रुति-स्मृतियों ने जिनको मोक्ष के उपाय के रूप से निश्चित किया है उनको (उन उपायों को) अवलम्बन कर जो निर्भय हुए हैं वे 'विगतभी' हैं तथा **ब्रह्मचारीव्रते स्थितः**—जो ब्रह्मजारी के व्रत में स्थित हैं। यहाँ 'ब्रह्मचारिव्रत' पद के द्वारा भिक्षामात्र को लक्ष्य किया जा रहा है—त्रिषवणादि को नहीं, क्योंकि त्रिषवणादि का अनुष्ठान पुण्य कर्म के अंगरूप से किया जाता है। [प्रतिदिन तीन बार स्नान करने को त्रिषवण कहा जाता है।] अतः समाधि से संभावित (उत्पन्न) होता है जो अविक्रिय ब्रह्म के साथ अभिन्नत्व (एकत्व) ज्ञान उस ज्ञान का उक्त त्रिषवणादि नाशक होते हैं। इसके अतिरिक्त 'सदा योग का अनुष्ठान करो' (गीता ६।१०) यह पहले कहे जाने से समाधि नित्य निरन्तर कर्तव्य के रूप से प्राप्त होती है किन्तु त्रिषवणादि कर्म निरन्तर-समाधिअनुष्ठान के प्रतिकूल होते हैं। अतः यहाँ 'ब्रह्मचारिव्रत' पद के द्वारा आहार मात्र का ही ग्रहण किया गया है। आहार के विषय में ब्रह्मचारी का भिक्षान्न भोजन ही व्रत है। उस ब्रह्मचारी के व्रत में भी (भिक्षान्न भोजन में भी) निदिध्यासनकारी यति को केवल माधुकर (माधुकरी से प्राप्त अन्न के) भक्षण में ही स्थित रहना चाहिये—प्राक् प्रणीत आदि भिक्षान्न में नहीं। [माधुकर-मसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्। तात्कालिकोपपन्नं च भैक्ष्यं पंचविधं स्मृतम्॥— यतियों के लिये ये पाँच प्रकार की भिक्षाएँ शास्त्रविहित हैं।] प्राक्प्रणीत (पूर्वरचित), अयाचित तथा तात्कालिक वृत्ति से प्राप्त (न माँगकर अथवा भिक्षा के समय ही किसी से प्राप्त) भिक्षा में आहार की परतन्त्रता (दूसरों की इच्छा की अधीनता) रहने के कारण गुरु भोजन, असमय में भोजन, भोजन का परिमाण कम या अधिक होना तथा प्रतिक्षा करना इत्यादि दोष रहते हैं। अतः वे सब दोष समाधि के लिये विघ्नकारी होते हैं। इस कारण स्वाधीन ब्रह्मचारीव्रतरूप माधुकर भिक्षान्न के भोजन में ही यति स्थित रहेंगे। **मनः संयम्य**—मन को (बाह्य विषयों में प्रवृत्तिशील मनोवृत्ति को) संयत कर अर्थात् जिससे कि विषयों के साथ सम्बन्ध न हो वैसे मन का निग्रह करके **मच्चित्तः (सन्)**—मुझमें अर्थात् बुद्धि तथा बुद्धिवृत्ति के साक्षी चिदेकरस प्रत्यक्‌रूप ब्रह्म में जिसका चित्त स्थिर रहता है वे 'मच्चित्त' हैं। इस प्रकार होकर अर्थात् बहिर्मुखी चित्त को मुझमें (परमब्रह्म में) सम्पूर्णरूप से स्थापन कर। 'मच्चित्त' ऐसा कहने से 'अस्मत्' (मैं) शब्द का अर्थ जो ब्रह्म है वही चित्तस्थापन का अधिकरण (आधार) होता है और स्थापयिता (स्थापन

करने वाला) उससे पृथक् (ब्रह्म से भिन्न) होता है किन्तु 'य एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' (इस ब्रह्म में जो अति अल्प भेद भी करते हैं उनको भय होता है) इस श्रुति वाक्य के अनुसार भेददर्शी की मुक्ति नहीं होती। अतः ध्याता 'मैं ब्रह्म 'ही हूँ' इस प्रकार अपने को ब्रह्म से अभिन्न भावना करें, इसे समझाने के लिये कह रहे हैं—मत्परः—' मैं ही पर हूँ अर्थात् परमात्मा हूँ ,' इस प्रकार स्वयं जो अनुभव करते हैं उन्हें 'मत्परः' कहा जाता है। इस प्रकार 'मत्पर' होकर अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपनी ब्रह्मभाव ग्रहणकारिणी वृत्ति से (ब्रह्माकारावृत्ति से) युक्तः (सन्) आसीत— (ब्रह्म के साथ) युक्त होकर बैठें अर्थात् अपने को ब्रह्मस्वरूप ही समझते हुए आसन पर चुपचाप उपविष्ट (बैठें) रहें, यह कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में आसन कैसा करना होगा यह कहा गया है। अब दो श्लोकों में शरीर को कैसे रखना होगा तथा ब्रह्मस्वरूप आत्मा में कैसे युक्त करना होगा यह कहा जा रहा है। (१) आसन के ऊपर उपवेशन कर (बैठकर) रीढ़, ग्रीवा तथा मस्तक को सम अर्थात् सीधा रखें (२) सीधा रखकर भी जिससे मच्छड़ पिपीलिकादि के द्वारा शरीर किसी प्रकार चलायमान (कम्पित) न हो इसलिये शरीर को अचल (निश्चल) रखना होगा तथा (३) जिससे कि एकमात्र परमात्मतत्त्व के ध्यानाभ्यास द्वारा चित्त विक्षेपरहित रहे तथा अंग का कंपन आदि के द्वारा शरीर में किसी प्रकार के विकार की सृष्टि न हो उस विषय में सावधान होकर शरीर की तथा चित्त की स्थिरता सम्पादन करनी होगी (४) जिससे इन्द्रिय-समूह अपने-अपने विषयों के द्वारा आकृष्ट होकर विषयासक्त न हों अथवा अपने शरीर के विभिन्न अंशों को देखते हुए योगी के चित्त का विक्षेप उत्पन्न न हो इसलिये योगी नासिका के अग्रभाग को दर्शन करते हुए नेत्रों को अर्द्धनिमीलित रखें। [भ्रुवों के बीच के अंश को भी नासिका का अग्रभाग कहा जाता है अतः नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि का अर्थ है भ्रूमध्य में (भौंहों के बीच में) दृष्टि रखना (गीता ५।२७)। नासिका के अग्रभाग में अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर रखकर वहीं मन को भी समाहित रखना होगा, यह कहना भगवान् का अभिप्राय नहीं है क्योंकि उसके द्वारा कोई परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकता। अतः आत्मा में ही मन को स्थिर करना होगा, यह आगे भी स्पष्ट करके कहेंगे (गीता ६।२४)] (५) साथ साथ स्त्री आदि बाह्य विषयों के दर्शन से विक्षेप उत्पन्न न हो इसलिये इधर-उधर कोई दिशा में दृष्टिपात न कर (न देखकर) अर्द्धनिमीलित नेत्र होकर आत्मचिन्तन

के लिये आसन पर बैठें। (६) उसके बाद बाह्य तथा आन्तर सभी विषयों के चिन्तन को त्यागकर समाधि-सुख का आस्वादन कर रागद्वेष से मुक्त होकर आत्मा को अर्थात् चित्त को प्रशान्त (प्रकृष्ट रूप से) शान्त करें। (७) तथापि फिर भी यदि पूर्व-संस्कार से देहात्मबुद्धि से तथा द्वैत दर्शन से भय एवं आशंका का उदय मन में हो तो श्रुति वाक्य का पुनःपुनः (बार-बार) श्रवण तथा मनन के द्वारा ब्रह्म या आत्मा ही एक मात्र सत्य वस्तु है तथा आनन्दस्वरूप है एवं और सभी मिथ्या तथा दुःखमय है यह दृढ़ निश्चय कर (अर्थात् इसके सम्बन्ध में सर्व प्रकार से संशयों से मुक्त होकर) अद्वैत आत्मा में चित्त को समाहित (स्थापन) करने से योगी विगतभी (भयरहित) होते हैं क्योंकि द्वैत बुद्धि नही रहने से किसी प्रकार का भय सम्भव नहीं है। इस प्रकार विगतभी होकर (८) ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित रहकर अर्थात् मन को विषयों से प्रत्यावृत्त (निवृत्त) कर ब्रह्म में अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा में ही जिससे मन निरन्तर (सदा) विचरण कर सके वैसे व्रत का अवलम्बन कर तथा उस व्रत में स्थित (निष्ठावान्) रहकर (९) मन को संयत कर अर्थात् मन को विषयाकारा वृत्ति से शून्य कर तथा केवल ब्रह्माकारावृत्ति से युक्त कर (१०) मच्चित्त होवें अर्थात् मुझ में (परमेश्वर में) चित्त को लय करें। मच्चित्त होने से ही अर्थात् चित्तका मुझसें लय होने से हो योगी निर्विकल्प समाधि के द्वारा जान सकते हैं कि मैं ही (परमात्मा ही) उनकी आत्मा हूँ [देहेन्द्रिय का संघात उनकी आत्मा नहीं है] तथा वह आत्मा ही नित्य परमानन्द स्वरूप है। इसलिये आत्मा सभी के प्रियतम (पर) हैं। अतः आत्मस्वरूप "मैं" ही (परमेश्वर ही) उनका पर (प्रियतम) होने के कारण योगी 'मत्पर' हो जाते हैं। (११) अतः योगी इसप्रकार युक्त होकर अर्थात् सर्व वृत्तियों का निरोध कर एकमात्र भगवदकारा आत्माकारा वृत्ति से युक्त होकर उपविष्ट रहें अर्थात् अपनी इच्छा से वैसी समाधि की अवस्था से व्युत्थान न करें (न उठें)। यही १३ तथा १४ श्लोकों का तात्पर्य है।

["योगम् आत्मविशुद्धये" इस वचन के द्वारा योगानुष्ठान का फल है चित्तशुद्धि, ऐसा कहा गया है। चित्तशुद्ध का फल है आत्मज्ञान। इस आत्मज्ञान में निष्ठा होने से मोक्षरूप फल को ब्रह्मविद् जीवित-अवस्था में प्राप्त कर सकते हैं, यह अब स्पष्ट रूप से कहा जा रहा है।]

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।। १५ ।।

अन्वय—एवम् नियतमानसः (सन्) योगी सदा आत्मानम् युञ्जन् मत्संस्थां निर्वाणपरमां शान्तिमधिगच्छति ।

अनुवाद—इस प्रकार (पूर्ववर्ती श्लोकों में कहे हुए नियम के अनुसार) संयतचित्त होकर योगी सदा आत्मा (मन) को परमात्मा में समाधिस्थ करते हुए मेरे अधीन जो शान्ति है, [निर्वाण ही (मोक्ष ही) जिसकी परमनिष्ठा (अन्तिम स्थिति) है] उसे प्राप्त करने में समर्थ होते हैं । [अभिप्राय यह है कि योगी समाधि को अभ्यास के द्वारा मुझे (अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा को) प्राप्त करते हैं (अपरोक्ष रूप से साक्षात्कार करते हैं) एवं उसके फल रूप से समस्त संस्कार से उपरतिरूप परमानन्द (परम शान्ति) को प्राप्त होते हैं क्योंकि परमानन्द (परम शान्ति) मेरा ही स्वरूप है (अर्थात् वह मेरे ही अधीन है) । इस परम शान्ति की शेष सीमा (अन्तिम स्थिति) ही मोक्ष है ।]

भाष्यदीपिका—एवम्—११ श्लोक से लेकर १४ श्लोक तक जैसे विधान बताया गया उसके अनुसार नियतमानसः (सन्) योगी—जिस योगी का मन नियत (संयत) हुआ है वे । [मोक्ष की इच्छा तीव्ररूप से उदित होने से श्रद्धावान् योगी यदि बहुत दिनों तक नित्य निरन्तर सम्यक् रूप से परमात्मरूप ध्येय वस्तु में मन को समाधिस्थ करने का अभ्यास करें तो योगी के चित्त की बाह्य वासना सम्पूर्ण रूप से क्षय-प्राप्त (नष्ट) हो जाती है। अतः आत्मचिन्तन के बिना विपरीत भावना या वृत्ति उनके चित्त में न रहने के कारण वे निर्विकार आत्मस्वरूप में स्थितिलाभ कर (वायुहीन स्थान में निश्चल दीप-शिखा की तरह) स्थिर रूप से अवस्थान करने में समर्थ होते हैं । इसी अवस्था को "नियत-मानस" कहा जाता है। इस प्रकार 'नियत-मानस' होकर—] सदा आत्मानम् युञ्जन्—सदा ही आत्मा (अर्थात् मन) को परमात्मा के साथ युक्त रखकर अर्थात् अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा मन को समाधिस्थ करते हुए मत्संस्थाम् निर्वाणपरमां शान्तिमधिगच्छति—मुझमें स्थित अर्थात् मेरे अधीन निर्वाण (मोक्ष) दायिनी शान्ति को प्राप्त होता है । मुझमें (परमात्मा में) सम्यक्रूप से स्थित होने से (मेरे साथ एकात्मता प्राप्त कर) से स्वतः ही मेरे स्वरूप स्थित परमानन्द या निरतिशय शान्ति प्राप्त होती है। इस परमानन्द या परमशान्ति को ही मोक्ष कहा

जाता है। अतः निर्वाण मोक्ष हुआ है परमा अर्थात् निष्ठा (शेष सामा या अन्तिम स्थिति) शान्ति की, उसे "निर्वाणपरमा शान्ति" कहते हैं। मन निरन्तर परमानन्दरूप आत्मा में स्थितिलाभ करने से ही यह 'निर्वाण-परमाशान्ति' प्राप्त की जाती है। [योगी आनन्दस्वरूप ब्रह्म में स्थित होकर केवल परमानन्द (परम शान्ति) को ही प्राप्त नहीं होते हैं बल्कि वे आनन्दस्वरूप ही हो जाते हैं। इसलिये श्रुति में कहा गया है—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अर्थात् जो ब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं (मुण्डक० उ० ३।२।९), 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्ली। ७) अर्थात् इस रसस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर आनन्दी (आनन्दस्वरूप ही) हो जाते हैं। [परमात्मा = परमानन्द (परम शान्ति) = निर्वाण या संसार से उपरतिरूप मोक्ष। अतः परम शान्ति या निर्वाण परमात्मा का ही अपना स्वरूप है। इसलिए कहा गया "मत्संस्थाम्" अर्थात् मुझमें ही (परमेश्वर में ही) यह सम्यक् प्रकार से (पूर्ण रूप से) स्थित है, अर्थात् यह मेरे ही (परमेश्वर के ही) अधीन है। ब्रह्मनिष्ठ योगी ऐसी परम शान्ति को प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो जाते हैं, यही कहने का अभिप्राय है]।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[योगाभ्यास का फल कहा जा रहा है—] एवं—पूर्वोक्त प्रकार से (पहले कई श्लोकों में जैसा कहा गया है उस प्रकार से) सदा—सदा आत्मानम्—मन को युञ्जन्—समाहित करते हुए नियत-मानसः योगी—जिन योगी का मन (चित्त) नियत अर्थात् निरुद्ध (वशीभूत) हुआ है वे निर्वाणपरमाम्—जिसका परम अर्थात् अन्तिम प्राप्य निर्वाण (मोक्ष) है एवं मत्संस्थाम्—मेरे स्वरूप से ही जिसकी स्थिति है (अर्थात् जो मेरी स्वरूपभूता है) शान्तिम्—उस संसार से उपरतिरूपा शान्ति को अधिगच्छति—प्राप्त होते हैं।

(२) शंकरानन्द—'योगमात्मविशुद्धये' (योग आत्मशुद्धि के लिये करें) इस वचन के द्वारा योगानुष्ठान का फल आत्मविशुद्धि (चित्त-शुद्धि) है तथा आत्मविशुद्धि का फल अप्रतिबद्ध (अखंडित) ज्ञान की सिद्धि है और ज्ञानसिद्धि के द्वारा ब्रह्म निर्माण प्राप्त होता है, यह सूचित कर ब्रह्मविद् योगी को जीवित अवस्था में ही मुक्तिरूप फल प्राप्त होता है, यह कह रहे हैं।

एवं योगी—योगनिष्ठापरायण यति पूर्वोक्ति विशेषणों से विशिष्ट होकर अर्थात् एकाकी, निराशी, अपरिग्रही, समकाय-शिरोग्रीव, स्थिर, नासिका

के अग्रभाग पर दृष्टियुक्त, दिक्-समूह का अनवलोकयिता, भयरहित, ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित, प्रशान्त इत्यादि पूर्वोक्त लक्षणविशिष्ट होकर तथा जिस प्रकार आसन प्रस्तुत करने का विधान दिया गया है उस प्रकार लक्षण वाले आसन पर (गीता ६।११-१२) उपवेशन कर **आत्मानम् सदा युञ्जन्**— आत्मा को (अन्तःकरण को) सदा ब्रह्म में युक्त रखकर अर्थात् ब्रह्म का निरन्तर अनुसंधान करते हुए **नियतमानसः**— श्रद्धा तथा तीव्र मोक्ष की इच्छा के द्वारा दीर्घकाल तक नित्य निरन्तर सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित समाधि के अभ्यास के बल से नियत (निश्चल) हुआ है मानस (मन) जिनका वे नियतमानस हैं अर्थात् सर्व बाह्य वासनाओं की सम्पूर्ण रूप से निवृत्ति होने के कारण तथा विपरीत प्रत्यय की उत्पत्ति न होने के कारण निर्विकार स्वरूप में नियत (निश्चल रूप से स्थित) रहता है मानस (मन) जिनका वे 'नियतमानस ' हैं। 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मन के द्वारा ही देखना होगा) इस श्रुतिवाक्य से ज्ञात होता है कि जिसके द्वारा "ये सब मैं ही हूँ" इस प्रकार मनन करते हैं तथा जिसके द्वारा अपनी आत्मा तथा ब्रह्म का एकत्व साक्षात्कार होता है वह मन है। मन ही मानस है। 'नियतमानस' होकर अर्थात् अप्रतिबद्धात्मविज्ञानसम्पन्न होकर **निर्वाणपरमाम्**—निर्वाण (बाण के अर्थात् शरीर के साथ सम्बन्धरहित) परम अर्थात् परमपुरुषार्थरूप कैवल्य जिससे होता है वह निर्वाणपरमा है अथवा निर्वाण मोक्षरूप परम (निरतिशय सुख) जहाँ रहता है उसे 'निर्वाणपरमा' कहा जाता है। अत एव **मत्संस्थाम्**—मत् (मेरी ही) संस्था (स्थिति) जिसमें है, मेरे अतिरिक्त दूसरे की (बुद्धि आदि की) नहीं वह। अथवा जिसकी मेरे स्वरूप से संस्था (स्थिति) होती है उस अथवा मद्भावप्राप्तिरूपा **शान्तिम्**— सर्वोपरतिरूपा (अर्थात् संसार की आत्यन्तिक निवृत्तिरूपा) शान्ति को **अधिगच्छति**—प्राप्त होते हैं। इसके द्वारा सूचित होता है कि जिस प्रकार भोजन का फल तृप्ति है उसी प्रकार योग का फल है अपने स्वरूप का साक्षात्कार। इसलिये मुमुक्षु यति को श्रवणमात्र से उत्पन्न हुए मुक्तत्वभ्रम का त्याग कर [वेदान्त श्रवणमात्र से निश्चय होता है कि जीव सदा ही मुक्त है किन्तु ऐसा निश्चय होने से ही अथवा बुद्धि से ऐसा मान लेने से ही कोई मुक्त नहीं हो जाता है। अतः 'मैं मुक्त हूँ—मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है' ऐसी भावना अपक्व यति के लिये भ्रम के बिना और कुछ नहीं है। जिन साधनों के विषय में पूर्ववर्ती कई श्लोकों में कहे गये उन साधनों का जब तक सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान कर मुमुक्षु यति ब्रह्मस्वरूप आत्मा में निरन्तर स्थिति-लाभ

न कर सकें तब तक वे यदि अपने को मुक्त मानते हैं तब उसे भ्रम कहा जायगा। ऐसा भ्रम इहलोक तथा परलोक दोनों को ही नष्ट कर देता है। अतः इस मुक्तत्व-भ्रम—का त्याग कर] विदेहमुक्त के लिये (नियम के अनुसार) समाधि का अभ्यास अवश्य कर्त्तव्य है, यही यहाँ सूचित किया गया है।

(३) नारायणी टीका—साधारण सांसारिक जीव का मन विषयों के साथ सदा युक्त रहता है। अतः उनका मन अनियत (असंयत) रहता है। क्षणिक (क्षण भर के लिये) विषयसुख प्राप्त कर वे अस्थायी शान्ति कभी-कभी प्राप्त करते हैं परन्तु वह शान्ति 'मनःसंस्था' अर्थात् मन के द्वारा कल्पित होने के कारण 'संसार-परमा' होती है अर्थात् उसका परम (अन्तिम फल होता है संसार गति। किन्तु मन विषय में युक्त न रहकर सदा आत्मा में ही युक्त रहने से उसका फल विपरीत होता है, यही अब कहा जा रहा है। पूर्ववर्ती कई श्लोकों में समाधि योग के जो साधन कह गये हैं, उनके अनुसार यदि योगी मुझ में (परमात्मा में) आत्मा को (मन को) सदा समाहित रखने का अभ्यास करें तो वे 'नियतमानस' होते हैं अर्थात् अतिशय अभ्यास के फलस्वरूप से उनका मन मुझमें नियत (निरुद्ध) होता है। इस प्रकार मेरे साथ युक्त होकर वे ब्रह्म तथा आत्मा की एकता साक्षात्कार कर अविद्या तथा अविद्या के कार्यों से मुक्त होते हैं एवं मत्संस्था अर्थात् मेरा (परमात्मा का) स्वरूप जो परमानन्द है उसमें स्थित रहते हैं जो संसारो-परतिरूप नित्य शान्ति, उसे प्राप्त करते हैं। मेरी यह स्वरूपस्थिति परम-शान्ति प्राप्त करने से ही निर्वाण (मोक्ष) रूप परम-पुरुषार्थ सिद्ध होता है। जब तक मन में संकल्प उदय होता रहता है तब तक विश्राम या स्थिर शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। संकल्प से ही चित्तवृत्ति का उदय होता है तथा वह चित्त वृत्ति आत्मस्वरूप को (अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित परमानन्द को) छाया की तरह आवृत (ढक) कर रखती है। विषयों के दोष-दर्शन करता हुआ मन को विषयों से वैराग्ययुक्त कर शास्त्रविहित कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा अष्टांगयोग का अवलम्बन कर अभ्यास करते-करते जब मन संकल्प रहित होकर आत्मा में ही स्थितिलाभ करता है तब उस अवस्था को निर्विकल्पसमाधि कहा जाता है। यह निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात समाधि में आत्मा का स्वरूप मेघमुक्त सूर्य की तरह प्रकाशित होता है तथा आत्मस्वरूप में स्वतःस्थित परमानन्द भी प्रकट होता है। परमानन्द तथा परम शान्ति

एक ही है। योगी तब समझ जाते है कि मैं परमानन्द स्वरूप ही हूँ एवं जिस परम-शान्ति के लिये जन्म जन्म से मैं संसार-चक्र में अविद्या या भ्रम के कारण भ्रमण कर रहा हूँ वह परम-शान्ति अपने स्वरूप में ही स्थित है। इस प्रकार आत्म-तत्त्व के ज्ञान के द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाने पर संसार का उपरम (नाश) होता है। उस संसार की उपरतिरूप परम शान्ति को ही निर्वाण (मोक्ष) कहा जाता है तथा उसके द्वारा परम पुरुषार्थ सिद्ध होने के कारण उसे 'निर्वाणपरमा' कहा जाता है। [अर्थात् निर्वाण (मोक्ष) रूप परम पुरुषार्थ सिद्धि करने वाली शान्ति आत्मा में ही स्थित है—बाहर नहीं, यह समझाने के लिये ही 'मत्संस्थाम्' तथा 'निर्वाणपरमाम्' इन दोनों शब्दों का 'शान्ति' के विशेषणरूप से प्रयोग किया गया है।]

[अब योगाभ्यास में प्रवृत्त योगी का किस प्रकार आहारादि होना चाहिए यह कहा जा रहा है—]

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

अन्वय—हे अर्जुन ! अति अश्नतः तु न योगः अस्ति । एकान्तम् अनश्नतः न च । अति स्वप्नशीलस्य च न, अति जाग्रतः एव च न ॥

अनुवाद—हे अर्जुन, जो अत्यन्त अधिक भोजन करते हैं उनके लिये योग सम्भव नहीं होता है। जो कभी भोजन नहीं करते हैं उनके लिये भी योग सम्भव नहीं। जो अत्यन्त निद्रालु है (सोते हैं) उनसे भी योगसाधन नहीं होता है और जो अत्यन्त अधिक जागरण करते हैं (जागते हैं), उनसे भी योग नहीं होता।

भाष्यदीपिका—हे अर्जुन! अति अश्नतः तु न योगः अस्ति—जितना अन्न अपनी परिपाक-शक्ति के अनुकूल है उससे अधिक परिमाण का अन्न जो ग्रहण करते हैं उनका भी योग [भगवान् के साथ निरन्तर (सदा) युक्त रहना] सिद्ध नहीं होता। "तु" शब्द अपि (भी) अर्थ में व्यवहार किया गया है। शतपथब्राह्मण में ९।२।१।२ मंत्र से ऐसा कहा गया है :—"यदु ह वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति, तन्न हिनस्ति, यद् भूयो हिनस्ति, तद् यत् कनीयो न तदवति" अर्थात् जो (जितना) अन्न अपने शरीर की शक्ति के अनुसार (उदर के अनुकूल) खाया जाता है वह भोक्ता की रक्षा करता है तथा स्वधर्म पालन करने का सहायक होता है क्योंकि वह धातुवैषम्य की सृष्टि कर भोक्ता

को नाश नहीं करता है अर्थात् पीड़ा नहीं देता। उससे अतिरिक्त (ज्यादा) अन्न उदर-शूल इत्यादि रोगों की सृष्टि कर जीवनी-शक्ति को क्षीण कर देता है तथा भोक्ता के स्वधर्म-पालन में विघ्नकर होता है। परिमित अन्न से कम अन्न भोक्ता की भूख की निवृत्ति नहीं कर सकती, अतः उससे शरीर की पुष्टि नहीं हो सकती। इसलिये वह भी धर्मपालन के उत्साह को दुर्बल कर देता है। अतः योगी को परिमित अन्न ही आहार करना होगा (अर्थात् न तो अधिक भोजन करना उचित है और न तो कम), यहीं कहने का अभिप्राय है। परिमित अन्न के विषय में शास्त्र में ऐसा विधान किया गया है :— "पुरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु। वायाः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्" अर्थात् आहार करते समय उदर का अर्धभाग अन्न के द्वारा पूर्ण करे, तीसरा भाग जल के द्वारा पूर्ण करे तथा शेष चतुर्थांश वायु के सञ्चरण के लिये (चलने फिरने के लिये) रखे। **एकान्तम् अनश्नतः न च**—एकान्त अर्थात् अत्यन्त उपवासी का भी (अनाहारी का भी) योग अर्थात् समाधि सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि जीवनी-शक्ति की रक्षा न होने से (प्राणरक्षा न होने से) योग साधन करेगा कौन ? **अतिस्वप्नशीलस्य च न**—जो अत्यन्त (अतिरिक्त) निद्राभोग करते हैं यानी सोते हैं उनका भी योग-साधन नहीं होता है क्योंकि अतिरिक्त निद्रा के कारण तामसिक वृत्ति की (अर्थात् शारीरिक तथा मानसिक जड़ता की) वृद्धि होती है। इसलिए श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के अनुकूल उद्योग तथा समय उनका नहीं रहता है। **जाग्रतः एव च न**— अतिशय जागरणशील का भी अर्थात् जो परिमित समय तक निद्राभोग नहीं करते हैं उस प्रकार के व्यक्ति का भी योगसाधन नहीं होता है क्योंकि निंद्रा नहीं होने से वायु का विकार एवं शारीरिक तथा मानसिक आलस्य अवश्यम्भावी है। [श्लोक में दोनों "च" ही समुच्चयार्थ में व्यवहार किये गये हैं अर्थात् प्रथम 'च' का अर्थ है अति आहारशील, अल्पाहारशील, अतिनिद्राशील तथा अत्यन्त जागरणशील—व्यक्ति का योग नहीं होता है, और द्वितीय 'च' का अर्थ इस प्रकार है—इसके अतिरिक्त भी अन्य दोष हैं जिनके रहने से योग सिद्ध नहीं होता है। अन्य अनुक्त दोष-समूह क्या हैं उनका मार्कण्डेय पुराण में इस प्रकार वर्णन किया गया है—"नाध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतसः ? युञ्जीत योगं राजेन्द्र ! योगी सिद्ध्यर्थमात्मनः ॥ नातिशीते न चैवोष्णे न द्वन्द्वे नानिलान्विते। कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ॥" अर्थात् योगी आध्मात होने से (योगी का पेट वायु से फूल जाने से), क्षुधित होने से, परिश्रमयुक्त होने से, व्याकुल-चित्त होने से अपनी सिद्धि के लिये

योगी योग-साधन न करें अर्थात् उन अवस्थाओं में योगसाधन करने से सिद्धि नहीं होगी। फिर अत्यन्त शीत, अत्यन्त गर्मी में अथवा अभी शीत तथा कुछ क्षण के बाद ही गर्मी प्रतीत होने पर उस समय में अथवा जहाँ वायु प्रबल बहती है उसी स्थान में ध्यानतत्पर योगी योगाभ्यास न करें। (मधुसूदन)]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[योगाभ्यासनिष्ठ के लिये आहारादि के नियम अब दो श्लोकों द्वारा बताते हैं—] अत्यश्नतः तु—अधिक भोजन करना जिन लोगों का स्वभाव है उन लोगों का **योगः**—समाधि रूप योग **न अस्ति**—नहीं होता है। एकान्तम्—अत्यन्त **अनश्नतः**—अभोजनशील व्यक्तियों का (उपवास करने वाले का) भी योग (समाधि) नहीं होता है। तथा अतिस्वप्नशीलस्य—अत्यन्त निद्राशील अथवा अति जाग्रतः—अत्यन्त जागरणशील व्यक्तियों का भी योग (समाधि) सिद्ध नहीं होता है।

(२) शंकरानन्द—'योगी युञ्जीत सततम्' (गीता ६।१०) से इस श्लोक तक योग, योग का अंग, योग का आसन तथा योगी के योग-फल का प्रतिपादन कर अब फिर योगाभ्यासी के ही आहारादि का, अन्तरंग तथा बहिरंग साधनों का तथा योगानन्द का प्रतिपादन कर रहे हैं—

श्रुति में कहा गया है—'यदात्मसंमितमन्नं तदवति न हिनस्ति यद् भूयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति'। इसका अर्थ यह है—आत्मसंमित अर्थात् अपने उदर (पेट) के परिमाण के अनुसार तथा अनुकूल जो अन्न भोजन किया जाता है वह अन्न भोक्ता की रक्षा करता है तथा वह धर्म के निर्वाह (समापन) के लिये अनुकूल होता है। वह पुरुष का धातुवैषम्य सृष्टि कर मृत्यु की ओर नहीं ले जाता अथवा पीड़ा नहीं देता है। और जो अधिक अन्न भोजन करता है अर्थात् अपने उदर के परिमाण से अधिक (ज्यादा) अन्न भोजन करता है उस पुरुष का वह अन्न, शूलादि पीड़ा को उत्पन्न कर मृत्यु का कारण बन जाता है तथा वह धर्म का भी नाश करता है। और जो कनीय अर्थात् अत्यन्त कम अन्न भोजन करता है उस पुरुष की वह अन्न रक्षा नहीं कर पाता अर्थात् उसकी भूख की निवृत्ति करने में तथा धर्म का निर्वाह करने में वह समर्थ नहीं होता है। अत एव यह सिद्ध होता है कि परिमित अन्न ही भोजन करना चाहिए। इस अर्थ को ही अब श्री भगवान् कह रहे हैं—

अत्यश्नतः तु—अपने उदर के परिमाण से अधिक अन्न तथा जो अन्न परिपाक करने में (पचाने में) खाने वाला असमर्थ होता है ऐसा बहुत अन्न

खाने वाले योगी का **योगः न अस्ति**—योग अर्थात् योगनिष्ठा (सिद्ध) नहीं होती है। जो यति वेदान्त वाक्य श्रवण करने में इच्छुक है ऐसे यति के भी श्रवण मनन तथा ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं होते हैं। **एकान्तम् अनश्नतः च न**—एकान्त अनशनकारी यति का अर्थात् जो नियमपूर्वक भोजन नहीं करता है ऐसे यति का (प्रायः उपवास करने वाले यति का) अथवा अति अल्प खाने वाले यति की भी योगनिष्ठा सिद्ध नहीं होती है और श्रवण, मनन भी सिद्ध नहीं होते। किन्तु अपने उदर के अनुकूल तथा मेद (चर्बी) की वृद्धि न करे ऐसे अन्न के भोजनकारी को ही योगसाधन तथा श्रवण, मनन, ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है एवं दिवानिद्रादि दोषों का अभाव सिद्ध होता है—यही कहने का अभिप्राय है। अथवा 'पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु। वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥' (उदर यानी पेट का अर्द्ध भाग भोजन के द्वारा पूर्ण करे; तृतीय भाग जल से पूर्ण करे तथा चतुर्थांश यानी चौथा भाग वायु के संचालन के लिये शेष रखे।) इस प्रकार शास्त्र में जिस परिमित अन्न का विधान किया गया है उससे अतिरिक्त भोजन करने से अथवा आहार नहीं करने से (अर्थात् आहार का त्याग करने से) जिस प्रकार योग सिद्ध नहीं होता है उसी प्रकार **अतिस्वप्नशीलस्य न च**—अत्यन्त निद्रा-उपभोगकारी का (अत्यन्त सोने वाले) का भी योग सिद्ध नहीं होता है फिर (अति) **जाग्रतः न एव च**—बहुत कम सोने वाले का भी (अर्थात् नहीं सो कर जो अधिक समय तक जाग्रत रहता है उसका भी) योग सिद्ध नहीं होता है।

(३) **नारायणी टीका**—चित्त को समाहित करने के लिए आहार-विहार, निद्रा इत्यादि के प्रति भी दृष्टि रखनी होगी। जिस परिमाण का आहार योगी अनायास ही पचा सकता है तथा जिस प्रकार के आहार से शरीर की शक्ति तथा उत्साह की हानि नहीं होती अर्थात् अलसता, तन्द्रा, निद्रा, शूल-पीड़ादि उत्पन्न न हों। ऐसा आहार ही योगी को ग्रहण करना चाहिए। लोभ के कारण अतिरिक्त आहार करने से—

(क) श्वास प्रश्वास की गति ठीक नहीं रहती है।

(ख) अलसता, निद्रा इत्यादि के कारण योग-साधन में प्रवृत्ति नहीं होती है तथा

(ग) अधिक आहार धातुवैषम्य तथा रोग के हेतु बन कर योगसाधन में विघ्नकर होता है। फिर आहार नहीं करने से (प्रायः उपवास करने से) अथवा अत्यन्त कम आहार करने से शरीर की शक्ति का क्षय होता है।

अत एव शास्त्र के विधान के अनुसार उदर (पेट) का अर्द्धांश अनुकूल (हितकर) अन्न इत्यादि से तथा तृतीयांश जल के द्वारा पूर्ण करने से एवं चतुर्थांश वायु के संचालन के लिए खाली रखने से योगी का आहार योग-साधन के अनुकूल होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि अति-भोजन, अल्प-भोजन अथवा अधिक उपवास योग के लिए विघ्नकर होते हैं। किन्तु [फिर भी शास्त्र में विहित है कि एकादशी, शिवरात्रि तथा जन्माष्टमी इत्यादि पुण्य-तिथियों में उपवास करना चाहिए। इस प्रकार शास्त्रविहित उपवास योगी को भी यथाशक्ति करना उचित है क्योंकि वैसा उपवास धातु की समता को उत्पन्न कर स्वास्थ्य के लिए हितकर होता है]।

[आहार-निद्रादि के सम्बन्ध में शास्त्रविहित नियमों का पालन न करने से योगसाधन सिद्ध नहीं होता है, यह पूर्व श्लोक में कहा गया है। किस प्रकार जीवन-यात्रा निर्वाह करने से योग सिद्ध होता है ? वह अब कहा जा रहा है—]।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७।

अन्वय—युक्त-आहार-विहारस्य, कर्मसु युक्तचेष्टस्य, युक्तस्वप्नाववोधस्य योगः दुःखहा भवति ॥

अनुवाद—जो नियत परिमाण आहार करते हैं (संयत तथा परिमित आहार करते हैं), नियत परिमाण विहार करते हैं (नियमित तथा परिमित रूप से चलते-फिरते हैं), जिनको विहित कर्मों में (जप, पूजा आदि में) चेष्टा (यानी प्रयत्न) नियत परिमाण से (समय के अनुसार) चलती रहती है, जिनकी निद्रा तथा जागरण नियत (नियमित) समय तक होते हैं उन योगी का योग ही दुःखनाशक होता है अर्थात् उनके लिए वह योग संसाररूप सभी दुःखों का नाश करने वाला होता है (क्योंकि वह योग समाधि सिद्ध कर ब्रह्मविद्या को उत्पन्न कर मोक्ष का हेतु बन जाता है)।

भाष्यदीपिका—युक्त-आहार-विहारस्य—युक्त शब्द का अर्थ है संयत तथा परिमित अर्थात् नियत (नियमित) परिमाण विशिष्ट। जो खाया जाय वह आहार अर्थात् अन्न। नियमित तथा परिमित अन्न का आहार जो करते हैं तथा नियमित एवं परिमित चलना-फिरना अर्थात् पैर की क्रिया (विहार) जो करते हैं उन्हें 'युक्ताहारविहार' कहा जाता है। ऐसे योगी को [युक्त आहार के

सम्बन्ध में पूर्व श्लोक में कहा गया है। परिमित विहार (चलना फिरना) के सम्बन्ध में शास्त्र में ऐसा नियम है। 'योजनान्न परं गच्छेत्' इत्यादि अर्थात् एक योजन (४ मील) के अतिरिक्त विहार (भ्रमण) न करें इत्यादि। कर्मसु युक्तचेष्टस्य—कर्म में जिनकी चेष्टा नियमित परिमाण से होती है ऐसे योगी के। जो योगी आहार-विहार के लिये तथा अन्य कर्म में (जप, पूजा आदि में) जितनी आवश्यक हैं उतनी ही चेष्टाएँ समय के अनुसार करते हैं, जो योगी वाक्य इत्यादि की चपलता का परित्याग किये हैं तथा अनावश्यक कर्मों में जो योगी देह तथा इन्द्रिय समूह को व्यापृत नहीं करते हैं (नहीं लगाते हैं) उन्हें युक्तचेष्ट कहा जाता है। तथा युक्तस्वप्नवबोधस्य—इस प्रकार जिनके स्वप्न अर्थात् निद्रा तथा अवबोध (जागरण) का काल (समय) यथायोग्य है अर्थात् नियत काल तक सोना और जागना होता है। ऐसे योगी के। [परिमित निद्रा तथा जागरण के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है :—]

"जागृयाद् दशनाड्यस्तु निद्रास्तु दशनाडिकाः।
पश्चाज्जागरणं तद्वद्दशनाड्यस्तु योगिनः॥

(शंकरानन्द की टीका से उद्धृत श्लोक)। "रात्रौ प्रथमतः दशघटिकापरिमिते काले जागरणं मध्यतः स्वपनं पुनरपि दशघटिकापरिमिते जागरणम्" इति स्वप्नावबोधयोः नियतकालत्वम् (आनन्दगिरि टीका) अर्थात् दिन के १२ बजे से रात्रि के १० बजे तक (१० घंटा) जागरण; बीच में (अर्थात् रात्रि के १० बजे से २ बजे तक यानी ४ घंटा) निद्रा तथा बाद में भी दश घंटा (रात्रि के २ बजे से दिन के १२ बजे तक) जागरण-योगी का निद्रा तथा जागरण का यही नियतकालत्व है। योगो दुःखहा भवति—(उस युक्ताहारविहारशील, कर्म समूह में युक्त चेष्टाविशिष्ट तथा युक्तस्वप्नावबोधशील योगी के लिये) योग (जीवात्मा तथा परमात्मा के साथ मिलन) सम्भव है। अतः वह योग उस योगी का विशुद्ध विज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान उत्पन्न कर 'दुःखहा' होता है अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक सभी संसार के दुःखों का क्षयकारी (नाश करने वाला) होता है। [ब्रह्मविद्या सर्वसंसारदुःखों का कारण जो अविद्या है उसे उन्मूलन (नाश) करती है। और योग उस ब्रह्मविद्या को उत्पन्न कर अविद्यासहित सभी संसार के दुःखों की निवृत्ति का हेतु होता है। (मधुसूदन)]। अतः ऐसे योगी को फिर जन्म-मृत्युरूप संसार में लौट

कर आना नहीं पड़ता है। वे मृत्यु के बाद विदेह-मुक्ति को प्राप्त होते हैं, यही कहने का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[तब कैसे व्यक्ति का योग सिद्ध होता है ? यही कह रहे हैं]—

युक्ताहारविहारस्य—जिनके आहार तथा विहार (अर्थात् भ्रमणादि की गति) युक्त है अर्थात् नियत (नियमित) है। **कर्मसु युक्तचेष्टस्य**—करने योग्य कर्मों में जिनकी चेष्टा युक्त (नियत अर्थात् नियमित) है एवं **युक्तस्वप्नावबोधस्य**—जिनकी निद्रा तथा जागरण भी नियत या परिमित है **तस्य योगः दुःखहा भवति**—उनका सर्वदुःख नाशक योग सिद्ध होता है। [अर्थात् वे अन्त में परमात्मा के साथ योग (एकत्व)-प्राप्त होकर मोक्षलाभ करने में समर्थ होते हैं]।

(२) **शंकरानन्द**—तब कैसे पुरुष का योग सिद्ध होता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—

युक्ताहारविहारस्य—युक्त अर्थात् 'पूरयेदशनेनार्धम्' (योगी भोजन के द्वारा आधा पेट भरे), 'न गव्यूतेः परं गच्छेत्' (गव्यूति अर्थात् दो कोस से अधिक न चले), 'न ग्रामे नगरे वसेत्' (ग्राम अथवा नगर में न वसे), इत्यादि शास्त्र के नियमों के अनुसार युक्त (परिमित) आहार (अन्न) तथा विहार (विश्रान्ति के लिये संचार अर्थात् घूमना-फिरना) जिनका है वैसे परिमित आहार तथा विहार करने वाले पुरुष का तथा **युक्तचेष्टस्य कर्मसु**—कर्म में अर्थात् अन्न का ग्रहण तथा विसर्गादि क्रियाओं में युक्त अर्थात् जितनी ही चेष्टा से कार्य-सिद्धि होती है उतनी ही परिमित किन्तु नियत (अर्थात् विशृङ्खल न हो ऐसी चेष्टा (देहेन्द्रिय का व्यापार) जिनकी है वे 'युक्तचेष्ट' हैं। तथा **युक्तस्वप्नावबोधस्य**—स्वप्न (निद्रा), अवबोध (जागरण) ये दोनों युक्त (परिमित) जिनका है अर्थात्—

'जागृयाद् दशनाड्यस्तु निद्रा तु दशनाडिकाः।
पश्चाज्जागरणं तद्वद् दशनाडयस्तु योगिनः ॥

योगियों (दश नाड़ी अर्थात् घड़ी जाग्रत रहते हैं, दश नाड़ी निद्रा लेते हैं, बाद में फिर दश नाड़ी जाग्रत रहते हैं) इस प्रकार लक्षणों के द्वारा लक्षित स्वप्न (निद्रा) तथा अवबोध (जागरण) जिनका है ऐसे ब्रह्मनिष्ठ योगी के [आहार-विहार तथा निद्रा आदि के अधिक होने से रजः तथा तमोगुण की

वृद्धि होती है एवं उससे समाधि तथा ज्ञान का नाश होता है। अतः वे सब (अर्थात् आहार, विहार तथा निद्रा आदि) परिमित होने चाहिए। इस प्रकार के परिमित आहारादि लक्षण-विशिष्ट यति के] योगः दुःखहा भवति—योग (समाधि) दुःखहा (दुःखनाशक) होता है अर्थात् आध्यात्मिकादि सभी दुःख तथा जन्ममरणादि सभी दुःखों को अपने अनुष्ठान से उत्पन्न हुए अप्रतिबद्ध बोध (अखंड ज्ञान) से हनन (नष्ट) कर देता है। इसलिये वह योग 'दुःखहा' होता है अर्थात् विदेहमुक्ति का सम्पादन करता है।

(३) **नारायणी टीका**—इन दो श्लोकों में युक्त आहार-विहार, निद्रा तथा जागरण इत्यादि के सम्बन्ध में जिन नियमों को बताया गया है वह योगाभ्यासकारी योगी को लक्ष्य करके ही कहा गया है। संसार के दुःखों का मूल कारण है अविद्या अर्थात् अपने प्रकृत स्वरूप को न जानना। योग अर्थात् समाधि के अभ्यास के द्वारा आत्म साक्षात्कार होने से अविद्याग्रन्थि का नाश होता है। अतः अविद्या से उत्पन्न त्रिविध दुःखों के (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःखों के) भी आत्यन्तिक नाश होने के कारण योगी जन्म-मृत्यु रूप संसार-चक्र से सदा के लिए मुक्त होते हैं। इसलिए इस योग को 'दुःखहा' कहा गया है। रजः तथा तमः गुणों की वृद्धि जिससे न हो सके तथा योगी के चित्त में सात्त्विक गुण की अत्यन्त वृद्धि होकर जिससे परमात्मा में समाधि—योग निर्विघ्न रूप से निरन्तर सम्पन्न हो सके उसके लिए आहार, विहार, चेष्टा ,निद्रा तथा जागरण के सम्बन्ध में नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

(१) आहार के सम्बन्ध में शास्त्रीय नियमों को पूर्व श्लोक की टिप्पणी में कहा गया है ['आहार' शब्द का अर्थ केवल अन्न आदि का आहार (भोजन) नहीं है, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा तथा त्वक् इन पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जिस प्रकार रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श का आहरण (ग्रहण) किया जाता है वह भी आहार शब्द के अन्तर्गत ही है, ऐसा समझना होगा.]।

(२) विहार के सम्बन्ध में नियम है कि १ योजन से अधिक अर्थात् ४ मील से अधिक भ्रमण करना योगी के लिए उचित नहीं है।

(३) चेष्टा के सम्बन्ध में नियम इस प्रकार है—वाक्यों की चपलतादि वृथा परिश्रम का त्याग कर जो चेष्टाएँ (देहादि का व्यापार) योग के लिये (चित्त को आत्मा में समाहित करने के लिये) अनुकूल होती है (जैसे जप, पूजा, शास्त्रों का पाठ इत्यादि), वे ही नियम पूर्वक योगी को करना चाहिए।

(४) निद्रा तथा जागरण के सम्बन्ध में नियम है २४ घंटे में २० घंटा जाग्रत रहकर रात्रि १० बजे से २ बजे तक योगी निद्रा लें। एवं उसके बाद (ब्राह्ममुहूर्त में) तथा अन्य समय में ध्यान-योग का अभ्यास करें। बाकी समय में जप तथा शास्त्रादि का पाठ करें। [आहार के सम्बन्ध में शास्त्र में विशेष रूप से योगी के लिये जिन सब वस्तुओं का निषेध किया गया है वे इस प्रकार हैं—"मांसं दधि कुलत्थ च लशुनं शाकमेव च। कट्वम्लतिक्त-पिण्याकहिंगुसौवीरसर्षपः। तैलं च वर्ज्जोन्येतानि यत्नतो योगिना सदा। पुनरुष्णोकृतं द्रवसहितं चेति केचन॥" अर्थात् मांस, दही, कुलत्थ दाल, लहसून, प्याज इत्यादि, साग, कडुवा, अम्ल (खट्टा), तीता, पिण्याक (तिल की खली), हिंग, सौवीर (कूल—बदरीफल), सरसों का तेल इत्यादि का योगी सदा त्याग करें। कोई काई कहते हैं कि द्रव्य शीतल हो जाने पर फिर से गर्म कर के खाना भी योगी के लिये निषेध (मना) है।]

'युक्त' शब्द का अर्थ नियत (नियमित) तथा परिमित बताया गया है। किन्तु यदि परवर्ती श्लोक (१८ श्लोक) के साथ सामंजस्य रख कर व्याख्या की जाय तब सर्व विषय-वासना रहित होकर जिनका चित्त आत्मा में ही सदा स्थित रहता है उन्हें 'युक्त' कहा जाता है। अतः युक्ताहारविहारस्य इत्यादि शब्दों का अर्थ होगा—जो योगी आत्मा या भगवान् से युक्त होकर आहार, विहार, चेष्टा, निद्रा तथा जागरण करते हैं अर्थात् अपना अहंकार तथा कर्तृत्व—भोक्तृत्व भगवान् में ही लय कर 'वासुदेवः सर्वमिति' इस प्रकार की बुद्धि से भगवान् ही योगी के शरीरादि को यंत्र बनाकर आहार-विहारादि चेष्टा (क्रिया) के रूप से तथा निद्रा, जागरण इत्यादि के रूप से लीला कर रहे हैं, इस प्रकार जो द्रष्टा के स्वरूप में स्थित होकर सदा (भगवद्लीला) दर्शन करते हैं उन योगी का चैतन्यस्वरूप आत्मा के (भगवान् के) साथ नित्य योग रहने के कारण वह योग संसार रूप सर्वदुःखों का पूण रूप से नाश कर देता है। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ योगी व्युत्थानावस्था में भगवान् की अर्थात् अपनी आत्मा की ही लीला देखते हैं, फिर समाधि की अवस्था में अखण्ड, अद्वय नित्यशुद्धचैतन्यस्वरूप वासुदेव में (आत्मा में) अवस्थान करते हैं। प्रश्न होगा स्वप्न में (निद्रा में) भी योगी कैसे परमात्मा के साथ युक्त रह सकते हैं? इसके उत्तर में कहा जायगा—वे योगी निद्रा के भी द्रष्टा होने के कारण उस निद्रा को (योगनिद्रा) कही जाता है। केवल शरीर की निद्रा से प्रकृत (यथार्थ) विश्राम (शान्ति) नहीं मिलती है। मन की निद्रा ही प्रकृत विश्राम है। मन जब आत्मा में ही

स्थित रहता है तब जागतिक विषयों के सम्बन्ध में मन की निद्रा होने पर भी परमानन्दस्वरूप आत्मा में वह सदा जाग्रत रहता है। यह ही परम शान्ति है। इसके द्वारा ही सर्व संसार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।

[पहले कई श्लोकों में आरुरुक्षु योगी को परमात्मा के साथ युक्त होने के लिये किस प्रकार साधन करना होगा वह कहा गया है। अब योगारूढ़ अर्थात् सम्यक् प्रकार से परमात्मा में युक्त योगी के क्या लक्षण दिखाई देते हैं, यह कहा जा रहा है—]

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

अन्वय—यदा विनियतं चित्तम् आत्मनि एव अवतिष्ठते (यदा च योगी) सर्वकामेभ्यः निस्पृहः (भवति) तदा युक्तः इति उच्यते।

अनुवाद—जिस समय योगी के विशेषरूप से संयत चित्त केवल आत्मा में ही स्थितिलाभ करता है तथा जब योगी सर्वप्रकार से दृष्ट तथा अदृष्ट विषयों से स्पृहा रहित होते हैं उस समय उन्हें युक्त कहा जाता है।

भाष्यदीपिका—यदा विनियतं चित्तम्—विशेषरूप से संयत अर्थात् एकाग्रताप्राप्त चित्त जब बाह्य विषयों के चिन्तन को छोड़कर [निरन्तर योगाभ्यास के द्वारा चित्त रजः तथा तमो गुणों से रहित होकर विशुद्ध सत्त्वगुण सम्पन्न होता है अर्थात् अत्यन्त स्वच्छ होता है। इसलिये इस अवस्था में चित्त-विषयों के अनित्यत्व, मिथ्यात्व इत्यादि निश्चय कर एकाग्रता प्राप्त होता है। इसी को 'विनियतचित्त' कहा जाता है। चित्त तब सभी बाह्य विषयों की चिन्ता का त्याग कर] आत्मनि एव अवतिष्ठते—केवलमात्र अपने आत्मस्वरूप में स्थितिलाभ करता है अर्थात् अन्य सभी वृत्तियों का निरोध कर केवल आत्माकारा वृत्तियों के द्वारा योगी निश्चल होकर अवस्थान करते हैं। सर्वकामेभ्यः निःस्पृहः (भवति)—तथा जब वे योगी सर्व काम से अर्थात् दृष्ट तथा अदृष्ट सभी शब्दादि विषय भोगों से स्पृहाशून्य होते हैं। विषयों का दोष-दर्शन तथा मिथ्यात्व निश्चय होने से विषयों के प्रति स्पृहा अथवा तृष्णा निर्गत (निवृत्त) हो जाती है (निःस्पृह-निः अर्थात् निर्गता स्पृहा तृष्णा यस्य सः)। [यहाँ निःस्पृह शब्द के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरंग साधन पर-वैराग्य को सूचित किया गया है। (मधुसूदन)] तदा युक्तः इति उच्यते—उस समय [अर्थात् सर्ववृत्ति के निरोधकाल में (मधुसूदन)] ऐसे योगी को युक्त अर्थात् योग रूढ़ कहा जाता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कब योगी निष्पन्न-याग होते हैं अर्थात् योग में पूर्णता को प्राप्त होते हैं ? वह कहा जा रहा है—]

यदा—जिस समय विनियतं चित्तम्—विशेष रूप से उनका चित्त नियत अर्थात् निरुद्ध होकर आत्मनि एव अवतिष्ठते—केवल आत्मा में ही अवस्थान करता है अर्थात् निश्चल भाव से रहता है तथा सर्वकामेभ्यः इहलोक तथा परलोक के समस्त भोगों से निःस्पृहः— विगततृष्ण (सर्वप्रकार से तृष्णारहित) हो जाते हैं तदा—तब वे योगी युक्तः—समाहितचित्त अर्थात् प्राप्त-योग हुए हैं (परमात्मा के साथ योग-प्राप्त हुए हैं) इति उच्यते—ऐसा कहा जाता है।

(२) शंकरानन्द—यद्यपि 'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु' (गीता ६।४) अर्थात् जब इन्द्रियाँ विषयों में आसक्त नहीं होती हैं, 'कूटस्थो विजितेन्द्रियः' (गीता ६।८) अर्थात् कूटस्थ तथा विजितेन्द्रिय इत्यादि वाक्यों के द्वारा योगी में योगारूढ़त्व सम्यक् प्रकार से निरूपित हुआ है तथापि ब्रह्मविद् के लक्षणों का जानने से ही मुमुक्षु उनकी आराधना कर तथा उनका आश्रय कर ज्ञान तथा मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है, इसलिये उस योगारूढ का फिर स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

यदा—जिस समय विनियतं चित्तम्—पूर्वोक्त (पहले कहे गये) बहिरंग तथा अन्तरंग साधन—सम्पत्ति के द्वारा तथा तीव्र मोक्ष की इच्छा एवं वैराग्य के द्वारा सदा योग का अभ्यास करने वाले योगी का (यति का) चित्त विनियत होता है। अर्थात् जिससे चित्त का विषयों के साथ सम्बन्ध (संयोग) न हो इस प्रकार निरन्तर अभ्यास के द्वारा चित्त एकाग्रता प्राप्त होता है तथा आत्मनि एव अवतिष्ठते—आत्मा में ही (नित्यानन्दैकरस प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में ही) चित्त अवस्थान करता है (स्थित होता है) अर्थात् सर्व वासनाओं की निवृत्ति होने पर तथा सर्व काम विनष्ट हो जाने के कारण चित्त स्वयं सत् की (सत्स्वरूप परमात्मा की) वासना में वासित होकर सदा आत्मस्वरूप में ही स्थित रहता है। (इसी अवस्था में) विषयों की वासना तो दूर की बात है शारीरिक प्रयत्न से भी योगी बाह्य वस्तु का अवलम्बन (आश्रय) नहीं करता है। किस प्रकार से वैसा होता है ? उसे स्पष्ट कर रहे हैं—सर्वकामेभ्यः निःस्पृहः—'काम्यन्ते इति कामाः शब्दादयः' अर्थात् जिसे कामना (प्राप्ति की इच्छा) की जाती है वह काम है अर्थात् शब्दादि विषय। प्रयत्न के द्वारा अथवा प्रयत्न के बिना इन्द्रियादि के विषयीभूत सर्व-विषयों से जब चित्त निःस्पृह (इच्छाशून्य) होता है अर्थात् सभी विषयों में मिथ्यात्व बुद्धि होने से इन्द्रियसमूह तथा मन जब

उनमें (विषयों में) प्रवृत्त नहीं होते हैं तदा—तब युक्तः इति उच्यते—इस प्रकार यति को पण्डित लोग युक्त अर्थात् योगारूढ़ कहते हैं।

(३) नारायणी टीका—चित्तभूमि में समय समय पर विभिन्न विषय उपस्थित होते हैं तथा चित्त भी उस-उस विषय में आसक्त होकर तदाकार में (उसी आकार में) परिणत होता है। जब विषयों के मिथ्यात्व, अनित्यत्व तथा दुःखत्व विचार कर चित्त सब विषयों का त्याग कर एकमात्र नित्य-सत्य भगवान् का ही आश्रय कर ध्यान-योग के द्वारा उनमें समाहित होता है तब उसे सम्प्रज्ञातसमाधि कहा जाता है। चित्त की एकाग्रभूमि में जो सम्प्रज्ञात समाधि होती है वह ६।१४-१५ श्लोकों में कहा गया है। सम्प्रज्ञातसमाधि का अभ्यास परिपक्व होने से सर्ववृत्तियों की निवृत्ति होने पर चित्त तथा चित्त की ध्येय वस्तु दोनों लय हो जाती हैं। तब केवल विज्ञानस्वरूप आत्मा ही विद्यमान रहती है एवं आत्मा ही आत्मा को जानती है। इसे असम्प्रज्ञातसमाधि कहा जाता है। इसे ही वर्तमान श्लोक में स्पष्ट कर रहे हैं।

असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त केवल आत्मा में ही स्थित रहता है—जीव, जगत् तथा ईश्वर इन तीनों का बोध तब लुप्त हो जाता है। इस अवस्था में योगी का परवैराग्य होता है। आत्मसाक्षात्कार कर योगी तब दृष्ट तथा अदृष्ट विषयों में (अर्थात् इहलोक तथा परलोक के सर्व विषयों में) सम्पूर्णरूप से स्पृहारहित तो होते ही हैं, यहाँ तक कि समस्त जगत् का मूल कारण जो त्रिगुण है उससे भी वितृष्ण होते हैं। पातंजल योगशास्त्र में भी यही कहा गया है—"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवितृष्णाम्" (पा० यो० १।१६) अर्थात् पुरुष ख्याति से (आत्मसाक्षात्कार होने से) त्रिगुण के अर्थात् समस्त जगत् के मूल कारण (प्रकृति) के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होती है—वही परवैराग्य है। 'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः' शब्दों से इस श्लोक में उस परवैराग्य को ही सूचित किया गया है। परवैराग्य उत्पन्न होने से योगी की अविद्या अस्मिता इत्यादि सभी प्रकार के क्लेश सम्पूर्णरूप से विनष्ट हो जाते हैं तथा सभी प्रकार के कर्मों के संस्कार क्षयप्राप्त होते हैं। चित्त में तब केवलमात्र असम्प्रज्ञात संस्कार अवशिष्ट रहता है एवं इस अवस्था में समस्त काम (वासनाएँ) नष्ट हो जाने के कारण सर्व विषयों से चित्त का उपरम (शम) होता है। वह ही युक्त या योगारूढ़ की अवस्था है। [योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते (गीता ६।३)] युक्त योगी का लक्षण यहाँ कहा गया। 'युक्ततम' योगी के विषय में ६।४७ श्लोक में श्री भगवान् कहेंगे।

[पूर्वश्लोक में योगारूढ़ के विषय में कहा गया है। अब योगारूढ़ के समाहित (समाधिस्थ) चित्त की स्थिति को (अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को) उपमा के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—]

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

अन्वय—यथा दीपः निवातस्थः न इंगते, आत्मनः योग युञ्जतः योगिनः यतचित्तस्य सा उपमा स्मृता ।

अनुवाद—निवात (वायुशून्य) प्रदेश में रखा हुआ दीप (दीपशिखा) जैसे चंचल नहीं होता है, आत्मा में समाधि-अनुष्ठानकारी योगी के संयतचित्त (अर्थात् आत्मज्ञान के लिये योगाभ्यास करने वाले निगृहीत चित्त वाले योगी का चित्त) भी वैसे ही विचलित नहीं होता है—ऐसी उपमा (दृष्टान्त) दी जाती है ।

भाष्यदीपिका—**यथा दीपः निवातस्थः न इङ्गते**—जिस प्रकार प्रदीप (दीप यानी दिया) वायुशून्य स्थान में रहने से विचलित नहीं होता। अर्थात् जैसे दीप की शिखा इधर-उधर हिलडुल न कर (सहज-सरल रूप से) स्थिर रहती है। **आत्मनः योगम्**—आत्मा को विषय कर समाधिरूप योग अथवा आत्मा को (अपने स्वरूप को) उपलब्धि करने का साधन जो समाधियोग है **युञ्जतः**—उसे आदरपूर्वक नित्य निरन्तर अनुष्ठान करने वाले **योगिनः यतचित्तस्य**—योगी के सम्यक् प्रकार से संयत हुए चित्त की [अर्थात् चित्तवृत्ति निरुद्ध होकर असम्प्रज्ञात समाधि से परब्रह्म में निश्चल या स्थिरीभूत स्थिर हुए चित्त की] **सा उपमा स्मृता**—वही उपमा (दृष्टान्त) चित्त-प्रचार अर्थात् चित्त की गति को प्रत्यक्ष देखने वाले योगवेत्ता पुरुषों ने चिन्तन की है (मानी है)। जिससे किसी की समानता की जाय उसे उपमा कहते हैं ।

[मधुसूदन के मत के अनुसार—(१) 'यतचित्तस्य' इस अंश को विशेषण न कह कर भाववाचक भी कहा जा सकता है। तब यतचित्तस्य अर्थात् योगियों की वह यतचित्तता का दृष्टान्त वायुशून्य स्थान में निष्कम्प (अविचलित) दीप है, ऐसा अर्थ करना होगा। अथवा (२) यतचित्तस्य शब्द को बहुव्रीहि समास कर योगी का विशेषण न कर कर्मधारयसमास कर 'संयत' हुआ है ऐसे चित्त का, इस प्रकार अर्थ भी किया जा सकता है तब श्लोक की व्याख्या

इस प्रकार करनी होगी—'योगियों का संयत हुआ चित्त' निवात निष्कम्प दीप के सदृश हुआ करता है। भाष्यदीपिका में ऐसा ही अर्थ किया गया है। (३) बहुव्रीहि समास का तीसरा अर्थ है—यतचित्तयोगी वायुशून्य स्थान में निश्चल प्रदीप के सदृश स्थिर (अविचलित) रहते हैं।]

टिप्पणी (१) [श्रीधर—आत्माकी एकाकारता से स्थित हुए योगी के (आत्मा के साथ एकीभूत योगी के) चित्त का दृष्टान्त दे रहे हैं-] **यथा दीपः निवातस्थः न इङ्गते**—निर्वात (वायुशून्य) स्थान में प्रदीप जिस प्रकार विचलित नहीं होता **सा उपमा**—वह दृष्टान्त है (किसका वह दृष्टान्त है?) **आत्मनः योगम् युञ्जतः**—आत्मविषयक योग का अभ्यासकारी तथा **यतचित्तस्य**—संयत हुआ है चित्त जिनका ऐसे **योगिनः**—योगी का वायुशून्य स्थान में रखा हुआ प्रदीप जिस प्रकार निष्कम्प (स्थिर) रहता है तथा साथ-साथ सामने स्थित सभी वस्तुओं को ठीक-ठीक प्रकाशित भी करता है उसी प्रकार संयतचित्त (असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा निरुद्ध हुआ है चित्त जिनका ऐसे) योगी का चित्त भी [चैतन्य-स्वरूप में लीन होने के कारण अथवा चित्त में सत्त्वगुण का उद्रेक होने के कारण (मधुसूदन)] सर्वप्रकाश एवं अचल (सुस्थिर) रहता है।

(२) शंकरानन्द—योग में आरूढ़ होने से यति का चित्त किस प्रकार स्थिर रहता है? इसके उत्तर में यति के द्वारा अनुष्ठित योग में असंप्रज्ञात समाधित्व को सूचित करने के लिए उनके चित्त की स्थिति का उपमान (दृष्टान्त) कहा जा रहा है—**आत्मनः योगम्**—'आत्मनः', इस कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है। आत्मा को विषय करके (आत्मा को उद्देश्य करके) जो योग प्रवर्तित हुआ है अथवा आत्मा की सर्वत्र उपलब्धि करने के लिए जो साधनभूत योग (समाधि) है उसका **युञ्जतः**—जो परमहंस योगी (यति) आदरपूर्वक नित्य निरन्तर सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करते हैं तथा **यतचित्तस्य**—जो संयतचित्त हैं उनका (जो ब्रह्माकारावृत्ति से ब्रह्म में ही निश्चल रूप से सदा चित्त को स्थापन किया है (अर्थात् ब्रह्म में ही स्थिरी-भूत हुआ है मन जिनका) इस प्रकार के योगी का **सा उपमा**— वह उपमा है। जिसके द्वारा उपमित होता है (सादृश्य सूचित होता है) वही उपमा हैं यानी वही दृष्टान्त है। [क्या उपमा है? वह कहा जा रहा है—] **निवातस्थः दीपः यथा न इङ्गते**—वायुशून्य स्थान में स्थित (घर के अंदर स्थित) दीप जिस प्रकार विचलित नहीं होता (इधर-उधर हिलता-डुलता

नहीं है) उसी प्रकार ब्रह्म में स्थापित ब्रह्मविद् का चित्त विचलित नहीं होता है—ब्रह्म में ही ब्रह्मस्वरूप से निश्चल होकर स्थित रहता है, यही असम्प्रज्ञात समाधि है। शास्त्र में भी कहा गया है—"मनसो वृत्तिशून्यस्य निर्विकारात्मना स्थितिः। असम्प्रज्ञातनामासौ समाधिर्योगिनां प्रियः ॥" अर्थात् वृत्तिशून्य मन की निर्विकारस्वरूप से जो स्थिति है वही असम्प्रज्ञात नाम की समाधि है तथा वह योगियों को प्रिय है।

(३) **नारायणी टीका**—इस श्लोक में योगी के चित्त का स्थैर्य किस प्रकार होता है ? उसे वर्णित करने के लिये उपमा दी गयी है। ब्रह्माकारा वृत्ति से अखंड अद्वय चैतन्यस्वरूप आत्मा में चित्त निश्चल होने से असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है तथा उसके फलस्वरूप संसार-बीजरूप अविद्या सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है वही जीवन का परमपुरुषार्थ है। इस असम्प्रज्ञात समाधि से निश्चल हुए चित्त के साथ वायुशून्य स्थान में स्थिर दीप-शिखा की उपमा दी गयी है। जिस प्रकार प्रदीप के स्वभाव में चंचलता नहीं है परन्तु वायु के द्वारा चालित होकर प्रदीप-शिखा चलायमान प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा निर्विकार (सदा ही एकरूप) होने के कारण उनकी कोई (चंचलता) नहीं हो सकती। मन की चंचलता के कारण आत्मा में क्रिया का स्पन्दन (चंचलता) प्रतीत होता रहता है। इसलिये श्रुति में कहागया है—"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ०) अर्थात् (चित्त की चंचलता के कारण) मानो आत्मा ध्यान कर रही है, मानो चलायमान हो रही है। कारण का नाश होने से कार्य नहीं रह सकता है। योगी जब आत्मविषयक समाधि का अभ्यास करते हुए (आत्मनः योगम् युञ्जतः) यतचित्त होते हैं अर्थात् निर्विकार आत्मा में समाधिस्थ होते हैं तब उनका चित्त सर्ववृत्तिशून्य होकर आत्मा में ही लयप्राप्त होता है। अतः चंचलता के कारण का (अर्थात् चित्त का) लय होने से स्वयं-प्रकाश आत्मा स्वतः ही प्रकट होती है एवं चित्त भी ब्रह्मत्वरूपता (आत्म-स्वरूपता) को प्राप्त होता है। आत्मा सदा ही स्थिर है। अतः योगी का चित्त भी निवातस्थ दीप के समान स्थिर (अविचलित) रहता है। योगारूढ़ की यही स्वाभाविक अवस्था है। अपने स्वरूप को (शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को) प्रकट करने के लिये योगी को समाधियोग का अभ्यास करना चाहिये, यही सूचित करने के लिये यहाँ कहा गया है—"युञ्जतो योगमात्मनः" (आत्मा को विषय कर योगाभ्यास करते हुए) क्योंकि अन्य कोई उपाय से चित्त की स्थिरता का सम्पादन करना सम्भव नहीं है।

[पूर्व श्लोक में सामान्य रूप से समाधि-योग के लक्षणों को बताया गया है। अब २०-२३ श्लोकों में असम्प्रज्ञातसमाधि के लक्षणों का विशेष रूप से वर्णन किया जा रहा है अर्थात् योगाभ्यास के बल से चित्त वायुरहित स्थान में स्थित दीपक के समान आत्मा में एकाग्र होने पर क्या होता है वह अब कहा जा रहा है—]

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

अन्वय—यत्र योग-सेवया निरुद्धं चित्तम् उपरमते, यत्र च आत्मना आत्मानं पश्यन् आत्मनि एव तुष्यति।

अनुवाद—जिस समय योगाभ्यास के द्वारा निरुद्ध चित्त की उपरति (सर्ववृत्ति-निरोध रूप परिणाम) होती है, जिस समय समाधि से परिशुद्ध अन्तःकरण के द्वारा चैतन्यस्वरूप आत्मा को साक्षात् कर आत्मा में ही (अपने में ही) योगी तुष्टि लाभ करते हैं—

भाष्यदीपिका—यत्र योगसेवया निरुद्धं चित्तम् उपरमते—पूर्वोक्त योग-साधन से निरुद्ध किया हुआ (सर्वप्रकार से चंचलता रहित किया हुआ) चित्त जिस समय उपरत होता है। पूर्ववर्ती कई श्लोकों में उक्त योग की सेवा के द्वारा (योगानुष्ठान के द्वारा) जिस समय चित्त एकाग्रीभूत होता है अर्थात् विषयों की ओर धावित न होकर आत्मध्यान में ही रत होकर निवात-प्रदीप (वायुशून्य स्थान में रखे हुए प्रदीप) के समान निरुद्ध (चंचलता रहित अर्थात् स्थिर) हो जाता है अर्थात् तब केवल मात्र अखंड अद्वय चित्-प्रत्यय (अर्थात् ब्रह्माकारावृत्ति) ही निरन्तर चित्त में प्रवाह रूप से चलते रहने पर सर्ववृत्तियों का निरोध होता है अर्थात् चित्त का निरोध-परिणाम होता है उसी अवस्था में केवल शुद्ध आत्मसत्ता-मात्र अवशेष रहती है। अग्नि में इन्धन नहीं रहने से जैसा होता है अथवा तप्त शिला के ऊपर जल की बूँद पड़ने पर जैसा होता है उसी प्रकार इस अवस्था में समस्त जागतिक वासना (तथा उसके कारण बाह्य क्रियाएँ) सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। इसी को उपरम (सभी प्रकार से चित्त की उपशान्त अवस्था) कहा जाता है। यत्र च आत्मना आत्मानं पश्यन्—जिस समय आत्मा के द्वारा अर्थात् समाधि के द्वारा परिशुद्ध अन्तःकरण से (रजः तथा तमोगुण के द्वारा अनभिभूत शुद्धसत्त्वमात्र अन्तःकरण से)

परम चैतन्यज्योतिःस्वरूप आत्मा को (अर्थात् सर्वप्रकाशक परमात्मा को) अपनी आत्मा से अभिन्न रूप से साक्षात् कर (मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकार अपने स्वरूप को अपरोक्ष रूप से अनुभव कर) आत्मनि एव तुष्यति—परमानन्द-स्वरूप अपनी आत्मा में ही तुष्टि-लाभ करते हैं। [देहेन्द्रिय के संघात में अथवा किसी भोग्य पदार्थ में उनकी तुष्टि (सन्तोष) नहीं होती है। परमात्मदर्शन होने पर तुष्टि (सन्तोष) का कोई कारण नहीं रहने के कारण वे सदा ही तुष्ट रहते हैं (मधुसूदन) "तं योगं विद्यात्" (अर्थात् अन्तःकरण की सर्व वृत्तियों का निरोध रूप इस प्रकार जो परिणाम होता है, उसे तुम 'योग' जानोगे) परवर्ती २३ श्लोक का, इस अंश के साथ वर्तमान श्लोक का अन्वय करना होगा।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—शंकराचार्य ने 'यत्र' शब्द का अर्थ किया है 'जिस समय' किंतु मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि 'यत्र' शब्द का 'जिस समय' ऐसी व्याख्या करना असंगत है क्योंकि बाद में तत्र या तदा ऐसे शब्द का कोई प्रयोग नहीं है। अतः मधुसूदन के मत के अनुसार यत्र शब्द का अर्थ है—"चित्त का जो परिणाम-विशेष होने से" श्रीधर स्वामी ने भी ऐसी ही व्याख्या की है। किन्तु विचार कर देखने से भाष्य में 'यत्र' शब्द का जो अर्थ दिया गया है तथा मधुसूदन सरस्वती ने जो कहा, उसमें केवल भाषा का ही अन्तर है। दोनों का तात्पर्य एक ही है। भाष्यकार के मत में 'यत्र' शब्द का अभिप्राय यह है—"जिस समय अर्थात् जिस समय योग-सेवा के द्वारा चित्त का विशेष परिणाम (अर्थात् निरोधपरिणाम) होता है उस समय"।

(२) श्रीधर—['जिसे संन्यास कहते हैं उसे ही योग कहा जाता है' (गीता ६।२) इत्यादि श्लोकों में योग शब्द का अर्थ कर्मयोग माना गया है। फिर 'अत्यन्त भोजनशील व्यक्ति का योग नहीं हो सकता (गीता ६।१६) इत्यादि श्लोकों में योग शब्द से समाधि को कहा गया है। शंका होगी—तब मुख्य योग कौन-सा है ? इसके उत्तर में समाधि ही स्वरूपतः तथा फलतः मुख्य योग है तथा उस समाधि को ही लक्ष्य कर 'योग' शब्द कहा जा रहा है वह अब श्रीभगवान् ३३ श्लोकों में स्पष्ट कर रहे हैं] यत्र—जिस अवस्था-विशेष में योगसेवया—योगाभ्यास द्वारा निरुद्धं चित्तम् उपरमते—निरुद्ध हुआ चित्त उपरत होता है। योग का स्वरूप-लक्षण यहाँ कहा गया क्योंकि पातञ्जलि योगसूत्र में कहा गया है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा जाता है। अब इष्टप्राप्तिरूप फल की

दृष्टि से (अर्थात् इस योग के द्वारा जो अभीष्ट सिद्धिरूप फल प्राप्त होता है उसे कहने के लिये) इस योग को लक्ष्य कराते है। **यत्र**—जिस अवस्था-विशेष में **आत्मना**—आत्मा से अर्थात् शुद्ध मन के द्वारा **आत्मानम् एव पश्यन्**—आत्मा को ही [प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही] देखता है (देहादि को नहीं)। इस प्रकार आत्मा को देखते हुए **आत्मनि एव तुष्यति**—आत्मा में ही परितुष्ट (सन्तुष्ट) रहते हैं, विषय की प्राप्ति में नहीं। [यह अवस्था-विशेष ही समाधि या योग है, ऐसा जान लो—ऐसा अर्थ करना पड़ेगा क्योंकि इस श्लोक में 'यत्र' इत्यादि पदसम्बन्धी 'यत्' शब्दों का २३ श्लोक में आये हुए 'तं योगसंज्ञितं विद्यात्' इस वाक्य के साथ अन्वय है।]

(३) **शंकरानन्द**—इस प्रकार लक्षण से युक्त चित्त का जो परिपाक-विशेष है उसी को योग जानना चाहिए, ऐसा कहने के लिए उन लक्षणों को कह रहे हैं—

योगसेवया—योग के बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों की सिद्धि के द्वारा तथा तीव्र मोक्ष की इच्छा के द्वारा वृद्धिप्राप्त हुई योग सेवा से। योग की (योग के अंगभूत सविकल्प समाधि की) अर्थात् विजातीय प्रत्यय का अभाव तथा चित् प्रत्यय मात्र का अविर्भावरूप योग की सेवा से (निरन्तर आवृत्ति से) **निरुद्धचित्तम्**—निरूद्ध चित्त अर्थात् विपरीत प्रत्यय का जिससे उदय न हो सके इसलिये दीर्घकाल तक ब्रह्म-प्रत्यय की आवृत्ति में ही ('सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार चिन्तन के अभ्यास में ही) स्थापित चित्त **यत्र उपरमते**— स्वयं सम्पूर्ण वासनासमूह से रहित होकर जिस अवस्था में (रजः तथा तमः गुण से मुक्त होकर) केवल अपने शुद्ध सत्त्वांश मात्र से अवशिष्ट रह कर उपशम को प्राप्त होता है अर्थात् अन्य (दूसरी) वृत्तियों के परिणाम का त्याग कर (अन्य सब भावनाओं से उपरत होकर) निवातस्थ (वायुशून्य स्थान में स्थित) प्रदीप के समान ध्येय आत्मस्वरूप में ही निश्चल होकर अवस्थान करता है तथा यत-चित्त का जो परिपाक-विशेषरूप अवस्था में उत्तम ब्रह्मविद् पुरुष **आत्मनि**-आत्मा में (निर्मल अन्तःकरण में) **आत्मानम्**—आकाश में पूर्णचन्द्र के विम्ब के समान प्रकाशमान अपनी चित्तवृत्ति में आरूढ़ चिदानन्दैकरस परब्रह्मस्वरूप आत्मा को **आत्मना**—अपनी आत्मा के द्वारा अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपने को ब्रह्मस्वरूप से **पश्यन्**-अपरोक्ष साक्षात् कर **तुष्यति**—सन्तुष्ट होते हैं ('मैं मुक्त हूँ तथा कृतार्थ हुआ हूँ' इस प्रकार आनन्द प्राप्त करते हैं)। श्रुति भी कहती है—'स मोदते

मोदनीयं हि लब्ध्वा' (मोदनीय को अर्थात् आनन्दस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर (जानकर) वे मुदित होते हैं) । 'आत्मनि तुष्यति' (आत्मा में सन्तुष्ट होते हैं) इस वाक्य के द्वारा यह सिद्ध होता है कि योगारोहणकारी महात्मा को संसार से मुक्ति तथा मोक्ष का सुख प्रत्यक्ष होता है। इसलिए श्रवणादि के द्वारा जो योगी आत्मतत्त्व को जान लिए हैं ऐसे योगी का योगारोहण से ही आत्मा का उद्धार सिद्ध होता है । अतः यह योगारोहण अवश्य कर्तव्य है, यही सूचित किया जा रहा है ।

नारायणी टीका—(४) योगानुष्ठान के द्वारा चित्त निरुद्ध होकर सर्व विषयों से उपरत होने से समाधि सिद्ध होती है । समाधि दो प्रकार की है— (क) सम्प्रज्ञात समाधि—जब ध्येयाकारा सत्त्वमात्रा वृत्ति रहती है किन्तु उपासक उपास्य को सामान्य मात्र पृथक् रूप से (भेद-ज्ञान से) जानते हैं, (ख) **असम्प्रज्ञात समाधि**—जब ध्येयाकारा सत्त्वमात्र-वृत्ति रहती है किन्तु भेदज्ञान नहीं रहता है अर्थात् ध्याता (ध्यानकर्त्ता) तथा ध्येय (ध्यान का विषय) एक हो जाते हैं । समाधि की परिपक्क अवस्था में (असम्प्रज्ञात अथवा निर्विकल्प अवस्था में) केवल स्वयंप्रकाश ब्रह्म (चिदानन्दात्मा) ही प्रतिभात रहता है तथा योगी की वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही आत्मा के द्वारा आत्मा को (अखंडाद्वय शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को) साक्षात् अनुभव करता है । ब्रह्म को दर्शन करने का अर्थ है ब्रह्म ही हो जाना । इस अर्थ में ही श्लोक में "पश्यन्" शब्द का व्यवहार किया गया है । जो सदा ही सबके द्रष्टा तथा विज्ञाता है उन्हें अन्य किसी भी प्रकार से जाना या देखा नहीं जा सकता है । इसलिए श्रुति ने कहा—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" अर्थात् जो विज्ञाता हैं (सभी वस्तुओं को सदा जानते हैं) उन्हें कैसे जानोगे (या देखोगे) ? ध्यानयोगी निर्विकल्पसमाधि से परमानन्दस्वरूप ब्रह्म के साथ अपनी आत्मा का एकत्व अनुभव करने से ही स्वतःसिद्ध आत्मानन्द (जो पूर्ण हैं, अनन्त हैं, निरतिशय हैं ऐसा आनन्द) स्फुरित (प्रकट) होता है। अतः वे ब्रह्मवित् फिर बाह्य तथा अनित्य विषयानन्द के लिये स्पृहा नहीं करते हैं । आत्मानन्द से अधिक और कोई आनन्द नहीं हो सकता क्योंकि वह निरतिशय है (तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मवल्ली के अन्तर्गत अष्टम अनुवाक् द्रष्टव्य) । विषयानन्द विषय की अपेक्षा रखता है किन्तु आत्मानन्द विषयों से निरपेक्ष तथा स्वयंप्रकाश है । अतः आत्मानन्द में निमग्न हुए विद्वान् के लिये अन्य सभी जागतिक आनन्द तुच्छ हो जाते हैं । मनुष्य इस परमानन्द को प्राप्त करने पर कृत-कृतार्थ हो जाता है—धन्य हो जाता है—आनन्दी हो जाता

है (तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मवल्ली, सप्तम अनुवाक्), स्वराट् होता है—अपने स्वरूप का अनन्त राजत्व प्राप्त कर पूर्णकाम हो जाता है (छा० उ० ७।२५।२)। यही "आत्मन्येव तुष्यति" शब्द का तात्पर्य है। [पूर्व श्लोक में आत्मानन्द प्राप्त कर योगी तुष्टिलाभ करते हैं यह कहा गया। अब उस आत्मानन्द के स्वरूप का तथा महिमा का वर्णन किया जा रहा है—]

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

अन्वय—यत्र बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम् आत्यन्तिकं यत् सुखं तत् वेत्ति, यत्र च स्थितः अयं तत्त्वतः न एव चलति।

अनुवाद—जिस समाधि-अवस्था में योगनिष्ठ-यति को आत्यन्तिक (अत्यन्त) सुख का अनुभव होता है, जो सुख इन्द्रियों के अगोचर (अविषय) हैं किन्तु एक मात्र समाहित बुद्धि के द्वारा (आत्माकारा बुद्धि वृत्ति से) ही ग्रहण-योग्य होता है एवं जो सुख अत्यन्त (अन्तरहित) अर्थात् अनन्त है उस सुख का जिस समाधि-अवस्था में योगनिष्ठ-यति अनुभव करते हैं तथा जिस समाधि-अवस्था में चिदेकरस ब्रह्म में स्थित होकर योगी तत्त्व से (आत्मस्वरूप से) विचलित नहीं होते हैं—

भाष्यदीपिका—यत्र बुद्धिःग्राह्यम् अतीन्द्रियम्—जिस समय [अथवा जिस अवस्था में (मधुसूदन)] योगनिष्ठ ब्रह्मविद् यति इन्द्रियों की अपेक्षा न कर केवल शुद्धसत्त्वगुण सम्पन्न बुद्धि के द्वारा अर्थात् ब्रह्माकारा वृत्ति से ग्राह्य (अनुभवयोग्य) किन्तु अतीन्द्रिय (इन्द्रियगोचरातीत अर्थात् इन्द्रियों के जो विषय नहीं है इस प्रकार) ['बुद्धिग्राह्य' शब्द के द्वारा आत्मा बाह्य विषय के समान कोई दृश्य पदार्थ है वह समझा नहीं रहे हैं। आत्मा स्वसंवेद्य (अपने अनुभव का विषय) हैं अर्थात् आत्मा इन्द्रियग्राह्य विषय के अतीत (अतीन्द्रिय) होकर भी आप ही अपने को विषय कर (आत्माकारा वृति से) अपने को जानते हैं, यही 'बुद्धिःग्राह्यम्' शब्द का तात्पर्य है। उस बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय आत्मा का स्वरूप क्या है वह कहा जा रहा है—

आत्यन्तिकम् यत् सुखम् तत् वेत्ति—अत्यन्त (अन्तरहित अर्थात् निरतिशय या अनन्त) सुख (आनन्द) जो आत्मा का स्वभाविक स्वरूप है उसे अनुभव करते हैं अर्थात् 'सदानन्दोऽहम्' (मैं ही वह चिरन्तन आनन्द-स्वरूप हूँ) इस प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म से अपने को अभिन्न रूप से अनुभव करते हैं।

यत्र च स्थितः तत्त्वतः न एव चलति—तथा जिस समय (अर्थात् जिस समाधि-अवस्था में) ये विद्वान् (ब्रह्मवेत्ता पुरुष) ब्रह्माकारा वृत्ति के द्वारा एकमात्र सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप में स्थिर होकर बाहर से विभिन्न प्रकार के विक्षेप का कारण उपस्थित होने पर भी कभी उस परमार्थ तत्त्वस्वरूप से विचलित नहीं होते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि से सर्वत्र एकमात्र आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की प्रतीति न होने के कारण आत्मानन्द (ब्रह्मानन्द) से वे कभी च्युत नहीं होते हैं ['तं योगसंज्ञितं विद्यात्' (अर्थात् उसे योग कहा जाता है), २३ श्लोक के इस वाक्य के साथ वर्तमान श्लोक का भी अन्वय करना होगा ।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—[आत्मा में ही क्यों तुष्टि है वह दिखा रहे हैं] **यत्र**—जिस अवस्थाविशेष में **सुखम् आत्यन्तिकं वेत्ति**—योगी निरतिशय आत्यन्तिक अर्थात् नित्यसुख का अनुभव करते हैं । प्रश्न होगा—उस अवस्था में तो विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्धाभाव होता है इसके उत्तर में कह रहे हैं—**अतीन्द्रियम्**—वह सुख विषयों तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध से अतीत है, **बुद्धिग्राह्यम्**—वह केवल आत्माकाराकारित बुद्धि के द्वारा ही ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य है (अर्थात् विषयाकार में आकारित बुद्धि के द्वारा आत्मा ग्राह्य नहीं है । अतएव **यस्मिन् स्थितः तावतः न एव अयं चलति**—जिसमें स्थित होने पर योगी तत्त्व से अर्थात् आत्म-स्वरूप से विचलित नहीं होते हैं [वही योग (समाधि) शब्द वाच्य है] ।

(२) **शंकरानन्द**—फिर कहा जा रहा है—**यत्र**—बुद्धि की केवल शुद्धसत्त्वभाव प्राप्तिरूप जिस अवस्था में **अयम्** ये योगनिष्ठ ब्रह्मविद् यति **बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्**—केवल स्ववृत्ति से अर्थात् अपने स्वरूप की वृत्ति के द्वारा (ब्रह्माकारा-वृत्ति से) ग्राह्य (जाना जाता है) है । अतः अतीन्द्रिय (इन्द्रियों का अविषय अर्थात्) इन्द्रियों तथा विषयों से सम्बन्ध रहित हैं अर्थात् इन्द्रियों से अजन्य (उत्पन्न होने के योग्य नहीं है) अतएव] **आत्यन्तिकम्**—अन्त को अतिक्रम करके विद्यमान अर्थात् आदि तथा अन्त से रहित (जिसका आदि तथा अन्त नहीं है) इस प्रकार **सुखम्**—सुख को 'एषोऽस्य परमानन्दः' (यह ब्रह्मज्ञ का परमानन्द है) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध जो सुख है उसे अर्थात् परमानन्द को **वेत्ति**—'मैं सदानन्दस्वरूप हूँ' इस प्रकार अनुभव करते हैं । तथा **अयम्** ये योगी **यत्र स्थितः (सन्)**—जहाँ स्थित होकर अर्थात् एकमात्र चिद् वृत्ति के द्वारा ('सब कुछ चैतन्यस्वरूप है' केवल

इस प्रकार की वृत्ति के द्वारा) अपने स्वरूप में अर्थात् सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्म में स्थित होकर तत्त्वतः न चएव चलति—तत्त्व अर्थात् परमार्थस्वरूप-से किसी भी प्रकार से विचलित नहीं होते हैं अर्थात् बाहर तथा भीतर के सैकड़ों विक्षेप उपस्थित होने पर भी (अपने ब्रह्मभाव का त्याग कर) किसी प्रकार के विपरीत भाव को प्राप्त नहीं होते हैं।

(३) नारायणी टीका—बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम् आत्यन्तिकम् सुखम्—शास्त्रीय कर्मानुष्ठान तथा दीर्घकाल उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि होने से बुद्धि रजः तथा तमः गुणों से रहित होकर सात्त्विक गुणसम्पन्न होती है तथा अत्यन्त सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण होती है। इस बुद्धि के द्वारा ही आत्मा का ग्रहण किया जाता है। इसलिये श्रुति में कहा गया है :—दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः, (कठ० उ० ३।१२) अर्थात् सूक्ष्मदर्शी योगी सूक्ष्म एवं तीखी बुद्धि द्वारा आत्मा का दर्शन (साक्षात्कार) कर लेते हैं। 'बुद्धिग्राह्य' कहे जाने पर भी जागतिक विषय के समान अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रसादि विषय के समान आत्मा इन्द्रिय के द्वारा ग्रहणयोग्य नहीं है। अन्तःकरण की सर्ववृत्तियों का उपशम (निरोध) होने से बुद्धि जब आत्मा में निमग्न होकर आत्मा के साथ एकीभूत (अभिन्न) हो जाती है तब आत्मा आप ही अपने को (आत्मा को) आत्माकाश बुद्धि से जानती है तथा आप ही अपने स्वरूपभूत (स्वतःसिद्ध) आनन्द का अनुभव करती है। 'इदम् आत्मा' (यह आत्मा है) इस प्रकार किसी बाह्य वस्तु के समान आत्मा ग्राह्य नहीं है। आत्मा स्वसंवेद्य है (अर्थात् आप ही अपने को जानते हैं)। इसलिये आत्मस्थित आनन्द या सुख को सुषुप्ति के आनन्द से पृथक् करने के लिये "बुद्धिग्राह्यम्" कहा गया है परन्तु आत्मा किसी चित्तवृत्ति के द्वारा बाह्य विषय के समान ग्रहणयोग्य नहीं है, इसे स्पष्ट करने के लिये साथ-साथ कहा गया है "अतीन्द्रियम्"। सुषुप्ति में कोई इन्द्रिय कार्य नहीं करती तथा बुद्धि भी आत्मा में लय हो जाती है। इसलिये सुषुप्ति के आनन्द में अज्ञान रहने के कारण सुषुप्ति अवस्था में आत्मा का साक्षात् अनुभव नहीं होता है किन्तु समाधि में वह अनुभव होता है क्योंकि उस दशा में ज्ञान रहता है। यह ज्ञान बुद्धि के सत्त्वगुण का कार्य है अर्थात् समाधि में बुद्धि निर्वृत्तिक (वृत्तिशून्य) होने पर भी सात्त्विक गुण प्रधान होकर अवस्थान करती है। इसलिये कहा गया है—'लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते इति' (मा० उ० गौड़पादकारिका ३।३५) अर्थात् बुद्धि सुषुप्ति में लयप्राप्त होती है किन्तु चित्त निगृहीत (चित्तवृत्ति का निरोध) होने पर भी समाधि में बुद्धि का लय नहीं

होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति के सुख से ब्रह्मानन्द पृथक् है, इसे समझाने के लिये 'बुद्धिग्राह्य' शब्द तथा परिच्छिन्न विषय सुख से निरतिशय अर्थात् अनन्त ब्रह्मानन्द की (आत्मानन्द की) विशेषता का प्रतिपादन करने के लिये "अतीन्द्रियम्" तथा "आत्यन्तिकम्" शब्दों का व्यवहार श्लोक में किया गया है। आत्मा अतीन्द्रिय है तथा आत्मानन्द प्राप्त होने से जीव सर्व प्रकार से भयरहित हो जाता है, यह श्रुति भी कहती है—यथा "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २।४।२।९) अर्थात् जहाँ से वाक्य मन के साथ लौट आता है उस ब्रह्मानन्द को जानकर जगत् की किसी भी वस्तु से फिर ब्रह्मवेत्ता विद्वान् पुरुष को भय नहीं रहता है। फिर आत्मा अन्तःकरणग्राह्य है इसके सम्बन्ध में श्रुति में ऐसा कहा गया है—"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा यदेतदन्तःकरणेन गृह्यते" इति—(शंकरानन्द की टीका तथा मधुसूदनी टीका से उद्धृत मन्त्र) अर्थात् समाधि के द्वारा चित्त रजस्तमोमलरहित होकर आत्मा में निविष्ट (निमग्न) होने से जो सुख उपस्थित होता है वह सर्ववृत्तिरहित अन्तःकरण के द्वारा ग्राह्य होने पर भी उस निरतिशय सुख तथा आनन्द का कोई वर्णन नहीं किया जा सकता है। ब्रह्मानन्द नित्यसिद्ध है; अतः वह अनन्त तथा चिरन्तन (नित्य) है। इसलिये कहा गया "आत्यन्तिकम्"। गौड़पादाचार्य ने मांडूक्यकारिका (३।४७) में इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—"स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्" अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित शान्त सनिर्वाण (मोक्ष के साथ विद्यमान) अकथ्य (वाक्य के द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसा) अनुत्तम अर्थात् निरतिशय सुख का अनुभव होता है क्योंकि वह सुख स्वयंप्रकाश आत्मा का स्वरूपभूत सुख है—उसका उच्छेद (नाश) कभी नहीं होता। अशुद्ध अन्तःकरण में वह आत्मानन्द आच्छादित रहता है किन्तु शुद्ध अन्तःकरण में निर्विकल्प समाधि की अवस्था में वह स्वतः ही प्रकाशित होता है।

'नैवं चलति तत्त्वतः' वाक्य का तात्पर्य यह है कि—

(क) आत्मानन्द में स्थित होने से द्वैतविषयों की बुद्धि (द्वैतबोध) नहीं रहती है। इसलिये अनेकत्व के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मतत्त्व से ब्रह्मज्ञ पुरुष विचलित (च्युत) नहीं होते हैं।

(ख) विषय उत्पत्ति तथा नाशशील होने के कारण विषय से उत्पन्न

हुआ सुख भी क्षणिक तथा विनाशशील होता है। अतः असीम स्वरूपानन्द में स्थितिलाभ करने पर फिर कोई क्षुद्र अनित्य विषयानन्द की अपेक्षा नहीं रहती है।

(ग) जागतिक सभी क्षुद्रानन्द ब्रह्मानन्द में अन्तर्भूत होने के कारण ब्रह्मवित् पुरुष अन्य किसी सुख की आशा से ब्रह्मानन्द से कभी च्युत नहीं होते हैं।

[पूर्व श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मानन्द में स्थित होने से योगी फिर किसी कारण से विचलित नहीं होते हैं। क्यों विचलित नहीं होते हैं ? वह अब स्पष्ट रूप से कहा जा रहा है—]

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

अन्वय—यं च लब्ध्वा अपरम् लाभम् ततः अधिकम् न मन्यते, यस्मिन् स्थितः गुरुणा दुःखेन अपि न विचाल्यते।

अनुवाद—जो आत्मानन्द को प्राप्त कर अन्य किसी लाभ को भी उससे अधिक नहीं मानते हैं तथा जिसमें स्थित रहने पर अत्यन्त दुःख से भी योगी विचलित नहीं होते हैं।

भाष्यदीपिका—यं च लब्ध्वा—जिस आत्मप्राप्तिरूप लाभ को प्राप्त कर (जो आत्मानन्द को प्राप्त कर) [आत्मसाक्षात्कार जीवन का परम लाभ है।] उसे प्राप्त करने का श्रेष्ठ उपाय है निर्विकल्प समाधि। निर्विकल्प समाधि में ही निरतिशय आत्मसुख प्रकाशित होता है। अतः निर्विकल्प समाधि तथा उसका कार्य आत्मलाभ या आत्मसाक्षात्कार इन दोनों का अभेद (एकता) निर्देश करने के लिये अर्थात् दोनों को ही एक साथ प्राप्त किया जाता है यह प्रतिपादित करने के लिये "च" शब्द का प्रयोग किया गया है] अपरम् लाभम् ततः अधिकम् न मन्यते—उससे अधिक कोई दूसरा लाभ है ऐसा नहीं मानते हैं—(दूसरे लाभ का स्मरण या चिन्तन भी नहीं करते हैं)। जागतिक अपर लाभ अर्थात् अन्य किसी विषय की (अनात्मक विषय की) प्राप्ति आत्मानन्दानुभव से (या उसकी प्राप्ति का कारण जो निर्विकल्प समाधि है उससे) अधिक (उत्कृष्ट) है, ऐसा नहीं मानते हैं क्योंकि ब्रह्मविद् पुरुष जानते हैं कि आत्मा के अतिरिक्त सभी पदार्थ (यहाँ तक कि धर्म पुण्य इत्यादि भी) मायाकल्पित हैं। अतः (क) ज़ो मिथ्या तथा असत् है (अर्थात् वास्तविक

सत्ता नहीं रहने पर भी जिसकी प्रतीतिमात्र होती है), (ख) जो तुच्छ (अल्प) है, (ग) जो अनित्य है, (घ) जो उपद्रव, अशान्ति तथा दुःख का कारण है, उस जागतिक विषय के प्रति आत्मज्ञ पुरुष की कोई अभिरुचि (आसक्ति) अथवा उसकी प्राप्ति के लिये प्रचेष्टा नहीं रह सकती। ब्रह्मलोक या विष्णुलोक इत्यादि को भी ब्रह्मज्ञ पुरुष प्राप्त करना नहीं चाहते हैं क्योंकि वे भी मायिक तथा मिथ्या है। इसलिये स्मृति में कहा गया है—"आत्मलाभात् न परं विद्यते" (आपस्तम्ब धर्म सूत्र १।२२।२) अर्थात् आत्मलाभ से और कुछ भी परम लाभ नहीं है क्योंकि आत्मलाभ होने से मनुष्य कृतकृत्य होता है। अतः जो पुरुष नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर परमानन्द प्राप्त किये हैं, वे आत्मस्थिति को त्याग कर अन्य कौन सी वस्तु की आकांक्षा करेंगे ? **यस्मिन् स्थितः गुरुणा दुःखेन अपि न विचाल्यते**—जिस आत्मतत्त्व में स्थित हुआ योगी [अर्थात् परमानन्दपूर्ण निवृत्तिक-चित्त की विशेष अवस्था में स्थित हुआ योगी (मधुसूदन)] शास्त्रनिपातादि लक्षणरूप (शस्त्राघात आदि) महादुःख उपस्थित होने पर भी विचलित नहीं होते हैं। अत एव वे फिर मशकदंशनादिरूप क्षुद्र दुःखों से विचलित नहीं होंगे, इसमें कहने का और क्या है ? [उस अवस्था को योग कहा जाता है। २३ वे श्लोक के "तं योग-संज्ञितं विद्यात्" इस वाक्य के साथ इस श्लोक का अन्वय करना होगा।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[योगी के अचंचलत्व को प्रतिपादन कर रहे हैं—] **यं च लब्ध्वा**—जिस आत्मसुखरूप लाभ को प्राप्त कर **अपरं लाभं ततः अधिकं न मन्यते**—दूसरे किसी भी लाभ को उससे अधिक नहीं मानते हैं अर्थात् उसका चिन्तन भी नहीं करते क्योंकि आत्मा निरतिशय सुखस्वरूप है (अर्थात् आत्मा से बढ़ कर दूसरा कोई सुख नहीं है) **यस्मिन् स्थितः**—जिसमें (जिस सुखस्वरूप आत्मा में) स्थित हुआ योगी **गुरुणा दुःखेन अपि**—शीतोष्णादि महान् दुःखों से भी **न विचाल्यते**—अभिभूत (आत्मस्थिति से विचलित) नहीं होते हैं। योग के द्वारा सर्व अनिष्ट की निवृत्तिरूप फल-लाभ होता है अर्थात् निर्विकल्प-समाधिरूप योग के द्वारा सभी अनिष्टों की निवृत्ति होती है, योग का यह लक्षण भी यहाँ कहा गया है, ऐसा समझना पड़ेगा।

(२) शंकरानन्द—और लक्षणों को कहा जा रहा है—

आत्मसाक्षात्कार ही परम लाभ है तथा उसकी प्राप्ति का असाधारण कारण योगसिद्धि (निर्विकार समाधि की सिद्धि) भी परम लाभ ही है, इसप्रकार

मानकर कार्य तथा कारण का अभेद निर्देश कर रहे हैं यम्—जिसको अर्थात् सदानन्दैकरस रूप आत्मा की उपलब्धि का परम कारण जो निर्विकल्प समाधि है तथा उस निर्विकल्प समाधि का कार्यभूत (फलस्वरूप) जो आत्मलाभ (आत्मसाक्षात्कार) है उसे लब्ध्वा—प्राप्त कर ततः अपरं लाभम् अधिकं न मन्यते—योगारूढ़ यति कहीं पर प्राप्त अपर (दूसरे) लाभ को (अनात्म-विषयक लाभ को) इससे [अर्थात् 'सब ब्रह्ममात्र ही है' इस प्रकार उपलब्धि का कारण जो निर्विकल्प समाधि है तथा उसका कार्य जो आत्मलाभ है, उससे] अधिक(उत्कृष्ट) नहीं मानते हैं। आत्माके अतिरिक्त सभी पदार्थ मायिक, असत्, तुच्छ, उपद्रवप्रद, दुःख के बीज तथा मिथ्या हैं—अतः सज्जन पुरुष धर्म आदि के लाभ को भी लाभ नहीं मानते हैं। यदि शंका हो कि ब्रह्मलोक, विष्णुलोक आदि की प्राप्ति भी तो विद्वान् के लिये लाभ ही है, तब कहना पड़ेगा कि ऐसी धारणा युक्त नहीं है क्योंकि सत्यलोक, वैकुण्ठलोक आदि भी मायिक होने के कारण उक्त उपद्रव, दुःख आदि दोषों से युक्त होते हैं। अतः उनमें भी मिथ्यात्व (झूठापन) समान रूप से रहने के कारण उन सब लोकों का लाभ अथवा उन सब लोकों के स्वामित्व का लाभ भी अलाभ ही हुआ करता है। 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' (आत्मलाभ से अधिक लाभ और कुछ भी नहीं है) इस स्मृति-वाक्य के अनुसार आत्मलाभ के अतिरिक्त किसी भी वस्तु के लाभों में लाभत्व का निषेध किया गया है। इसलिये नित्य, निरतिशय आनन्दरूप आत्मा का लाभ ही यथार्थ लाभ है। अतः आत्मसाक्षात्कार का करण (साधन) होने के कारण इस समाधि-योग को ब्रह्मवित् पुरुष परम लाभ मानते हैं तथा उसके अतिरिक्त अन्य किसी लाभ को लाभ नहीं मानते हैं। फिर यस्मिन्—जिस अन्तःकरण के परिपाक की विशेष अवस्था में स्थितः (सन्)—बाह्य (बाहरी) तथा आभ्यन्तर (अन्दर के) सभी विषयों को भूलकर जिस ब्रह्माकारा वृत्ति के द्वारा सद्भाव (अपना ब्रह्म-स्वरूपत्व) उपलब्ध हुआ है उस ब्रह्माकारा वृत्ति के द्वारा पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूप में सम्यक् प्रकार से स्थित होने से ब्रह्मविद् यति गुरुणा अपि दुःखेन न विचाल्यते-खड्गपात आदि से उत्पन्न हुए दुःखों से अथवा अन्य आध्यात्मिक महान् दुःख के द्वारा भी विचलित नहीं होते हैं अर्थात् वे सब दुःख समूह भी उनको अपने ब्रह्मस्वरूप से विचलित करने में समर्थ नहीं होते हैं। बाहर तथा अन्दर के सैकड़ों विक्षेप भी उनके विपरीत भाव को (अनात्मभाव को) प्राप्त कराने में समर्थ नहीं होते हैं, यही कहने का तात्पर्य है।

(३) **नारायणी टीका**—समाधि का भंग साधारणतः दो कारणों से सम्भव होता है :— (क) आभ्यन्तरिक विषय-वासना तथा (ख) आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक उपद्रव । ब्रह्मविद् आत्मलाभ के अतिरिक्त अन्य किसी लाभ को अधिक नहीं मानते हैं, ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि विषय-भोग की वासना के द्वारा वे आत्म-समाधि से विचलित नहीं होते हैं, क्योंकि ब्रह्मानन्द की अपेक्षा अन्य सभी आनन्द तुच्छ हैं, यह २१वे श्लोक में पहले ही कहा गया है। किन्तु विषय-वासना पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने पर भी आधिभौतिक, आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक किसी उपद्रव के कारण समाधि से च्युति की आशंका रह सकती है। इसलिए कहा जा रहा है कि चित्त की सर्वप्रकार वृत्तिहीन अवस्था में (अर्थात् निरुद्ध चित्त में) योगी जब परमानन्द में मग्न रहते हैं तब खड्गाघात या शीत-उष्ण, मशक इत्यादि उपद्रवों से अपने को बचाने के लिए उनकी कोई चेष्टा नहीं रहने के कारण वे समाधि से विचलित नहीं होते हैं। अभिप्राय यह है कि बाह्य या आभ्यन्तरिक जितना ही महान् दुःख या विक्षेप का कारण उनके निकट उपस्थित क्यों न हो, वे ब्रह्मानन्द से स्खलित (विचलित) नहीं होते हैं क्योंकि निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से योगी के चित्त की जो परिपक्व अवस्था (अर्थात् निरन्तर ब्राह्मीस्थिति) प्राप्त होती है उसमें योगी की आत्मा के अतिरिक्त बाह्य किसी विषय की (अपने शरीर की भी) अनुभूति नहीं रहती है।

[२० श्लोक से आरम्भ कर २२ श्लोक तक साधन के जो-जो विशेषण (लक्षण) वर्णित हुए हैं वे सब लक्षण जब एक साथ दिखाई देते हैं तब उस अवस्था-विशेष का नाम ही योग (योगसंज्ञा) है—यही वर्तमान श्लोक में कहा जा रहा है।]

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

अन्वय—तं दुःख-संयोग-वियोगम् योग-संज्ञितम् विद्यात्। अनिर्विण्णचेतसा सः योगः निश्चयेन योक्तव्यः ॥

अनुवाद—इस प्रकार दुःख के साथ संयोग के वियोग को ही योग कहा जाता है। (मुमुक्षु व्यक्ति को) निर्वेद से (नैराश्य या शिथिलता रूप दोष से) शून्यचित्त से अवश्य (दृढ़ अध्यवसाय के साथ) उस योग का अभ्यास करना चाहिए।

भाष्यदीपिका—तं दुःख-संयोग-वियोगम् योगसंज्ञितम् विद्यात्—'यत्रोपरमते' से लेकर यहाँ तक (२० श्लोक से लेकर २२ श्लोक तक) समस्त विशेषणों से युक्त आत्मा की अवस्था-विशेष रूप जो योग कहा गया है उस योग नामक अवस्था को दुःखों के संयोग का वियोग समझना चाहिए। [दुःखों से संयोग दुःखसंयोग; उससे वियोग दुःखसंयोगवियोग योग ऐसा समझना होगा।] अभिप्राय यह है कि २० श्लोक से २२ श्लोक तक चित्त की वृत्तिहीन अवस्था में आत्मलाभ या परमानन्द की प्राप्ति होती है—यह कहा गया है। सुखदुःख चित्त के धर्म हैं—आत्मा के नहीं। अतः चित्तवृत्ति से दुःख के साथ जीव का संयोग होता है। वृत्ति नहीं रहने पर किसी भी दुःख का अनुभव नहीं हो सकता है। अतः वृत्ति रहते हुए दुःख के साथ जो संयोग रहता है, चित्त वृत्तिशून्य होने से उसका वियोग (अभाव) हो जाता है। "वियोग", "योग" का विपरीत लक्षण है। अतः 'दुःखसंयोगवियोग' को योग विपरीत लक्षण (अर्थात् विपरीत नाम) से कहा गया यह समझना चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस अवस्था में दुःख का आत्यन्तिक वियोग (अभाव) होता है वह योग-संज्ञित है अर्थात् उसे ही योग कहा जाता है। इसके द्वारा १७ वें श्लोक में "योगोः भवति दुःखहा" (योग सभी दुःखों का नाश करनेवाला होता है) ऐसा जो कहा था उसी का उपसंहार यहाँ किया गया है। यहाँ दुःख शब्द के द्वारा उसके आनुषंगिक वैषयिक सुख को भी ग्रहण किया गया है क्योंकि वैषयिक सुख के साथ संयोग भी योग का (समाधि का) परिपन्थी (विघ्न) है। अतः "दुःख-संयोग-वियोगम्" शब्द का अर्थ यह है—अज्ञान के कारण आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक सर्व प्रकार के दुःखों के तथा सुखों के साथ जो संयोग या संसर्ग होता है उससे वियोग या असंगत को [अर्थात् जागतिक सभी प्रकार के सुख तथा दुःख के प्रत्यय (वृत्ति) जब सम्पूर्ण रूप से निरुद्ध होकर एकमात्र ब्रह्माकारा वृत्ति में परिणत होते हैं तब उस अवस्था-विशेष को] "योग" कहा जाता है, यही कहने का तात्पर्य है। विवेकी लोगों के लिए जागतिक सुख भी दुःखस्वरूप ही है। इसलिए पातञ्जल योग-सूत्र में (साधन पाद १५ सूत्र में) कहा गया है "परिणामतापसंस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" अर्थात् परिणाम दुःख (भोग के परिणामस्वरूप जो दुःख उत्पन्न होता है), ताप दुःख (वर्तमान-कालीन दुःख), संस्कार दुःख—इन तीन प्रकार के दुःख के साथ संयोग

रहने के कारण तथा (सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक गुणों से यथाक्रम से उत्पन्न हुए) सुख, दुःख तथा मोहरूप गुण वृत्तियों के परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी के निकट सभी भोग दुःखस्वरूप ही हैं। गीता में भी बाद में नवम अध्याय में कहा जायगा "अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्" (गीता ९।३३) अर्थात् इस लोक का सब कुछ अनित्य तथा दुःखस्वरूप है यह जानकर मुझे भजा करो। परमात्मा का भजन करने से तथा उन्हीं में चित्त को समाहित रखने से जब चित्त वृत्तिशून्य होता है तब समस्त सुख तथा दुःखों का वियोग (अभाव) होता है। उसी अवस्था को योग कहा जाता है। **सः योगः**—यह योग **अनिर्विण्णचेतसा**—निर्वेदरहित चित्त के द्वारा (योगाभ्यास-समय में) सिद्ध होगा कि नहीं, इस प्रकार संशय उपस्थित होने पर प्रयत्न की भी शिथिलता उपस्थित होती है। जैसे, इतने दिनों तक योगाभ्यास किया, कुछ भी सिद्धिलाभ नहीं हुआ, योगसाधन (आसन-जप, मन का निग्रह इत्यादि) अत्यन्त कष्टसाध्य है, मेरी शक्ति से तो यह सम्भव नहीं है, क्या जाने इस जन्म में या जन्मान्तर में कोई फल होगा या नहीं ? अच्छा, शीघ्रता की क्या आवश्यकता है ? बाद में साधन किया जायगा इत्यादि—इस प्रकार संशय तथा साधन में शिथिलता का नाम है 'निर्वेद'। जब इस प्रकार निर्वेद से मुक्त होकर तीव्र मोक्ष की इच्छा से "मैं अवश्य ही सिद्धिलाभ करूँगा" इस प्रकार दृढ़ संकल्प से साधक योगाभ्यास करते हैं तब उनके चित्त को "अनिर्विण्ण चित्त" कहा जाता है। इस प्रकार चित्त के द्वारा **निश्चयेन योक्तव्यः**—पूर्वोक्त (पहले कहे गये) योग का निश्चय रूप से अर्थात् दृढ़-संकल्प होकर (यानी अध्यवसाय के साथ) अभ्यास करना पड़ेगा। जिस योग के लक्षण तथा फल को पूर्व तीन श्लोकों में कहा गया उस योग के अतिरिक्त संसार-प्रवाह में निमग्न जीव का उद्धार अन्य किसी उपाय से सम्भव नहीं है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार कर विदेह-मुक्ति प्राप्त करने के लिए उस योग (अर्थात् पूर्वोक्त निर्विकल्प समाधि) के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः सर्वप्रकार संशय तथा शिथिलता से शून्य होकर उस योग का अनुष्ठान मुमुक्षु के लिए अवश्य कर्तव्य है, इसे पुनः प्रतिपादन करने के लिए यहाँ 'स योगः योक्तव्यः' इस प्रकार कह रहे हैं। योग के फल का २२वें श्लोक में उपसंहार किया गया है। वर्तमान श्लोक में कहने का अभिप्राय यह है कि—(क) यह योग अवश्यकर्तव्य है, इसे मुमुक्षु योगी कभी न भूलें; (ख) निश्चय रूप से अर्थात् दृढ़-संकल्प

होकर यह योगसाधन करना होगा तथा (ग) अनिर्विण्ण चित्त से अभ्यास करना चाहिए अर्थात् योग-साधन में, जिससे निर्वेद यानी शिथिलता अथवा निराशा नहीं आये उसके लिए योगी को सतर्क (सावधान) रहना पड़ेगा। 'मैं निश्चय ही इस जन्म में नहीं तो पर जन्म में योगारूढ़ होकर कृतकृतार्थ होऊँगा' इस प्रकार अध्यवसाय (दृढ़संकल्प) जिनका है वे ही इस योग के चरम फल को (आत्मानन्द में स्थिति या मोक्ष को) प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, दूसरे नहीं। यही यहाँ कहने का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन सरस्वती—अनिर्विण्णचेतसा—गौड़पादाचार्य ने भी मांडुक्यकारिका में ऐसा ही कहा है—"उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकविन्दुना। मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः॥" अर्थात् कोई अगर दृढ़-संकल्प करे कि कुशाग्र (कुश के अग्रभाग) द्वारा एक-एक बूँद जल उठाकर समुद्र का शोषण करूँगा, ठीक इसी प्रकार अध्यवसाय जिनका है तथा साधन-कार्य में जिनका निर्वेद नहीं है (अर्थात् मन में कोई खिन्नता नहीं है) वे ही मन को निग्रह कर सकते हैं—दूसरे नहीं। मधुसूदन सरस्वती ने अपनी टीका में समुद्रटिट्टिभ की कहानी के द्वारा विषयको स्पष्ट किया है।

(नीचे नारायणी टीका को देखो)।

(२) श्रीधर—[एवम्भूत जो अवस्था-विशेष है (जिसके विषय में पूर्ववर्ती तीन श्लोकों में कहा गया है) तं—उसे ही दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्—दुःख के संयोग को वियोगरूप योग कहा जाता है। दुःख शब्द के द्वारा दुःख मिश्रित वैषयिक समस्त सुख का भी ग्रहण होता है क्योंकि जागतिक सुख में दुःख भी सदा हो मिश्रित रहता है। जिस अवस्था में दुःख के संयोग से (स्पर्शमात्र से) भी वियोग होता है उस अवस्थाविशेष को योगसंज्ञित अर्थात् योग-शब्दवाच्य कहा जाता है। [निर्विकल्पसमाधि-अवस्था में परमानन्दस्वरूप आत्मा के साथ योग होने के पश्चात् किसी प्रकार के दुःख का संयोग (स्पर्श) होने के साथ-साथ उस संयोग का वियोग होता है अर्थात् दुःख-नाश प्राप्त होता है। यही कहने का अभिप्राय है। [परमात्मा के साथ क्षेत्रज्ञ को (जीव को) योजन अर्थात् जोड़ना ही योग है। अथवा शूर में अर्थात् वीर पुरुष में कातरता जिस प्रकार विरुद्ध धर्म है, योगी का दुःख के साथ संयोग भी उसी प्रकार असम्भव है इसलिए दुःख के संयोग से वियोग को ही विरुद्धलक्षणा से योग कहा गया। (निष्काम) कर्म इस योग का उपाय (साधन) होने के कारण कर्मयोग में योग शब्द औपचारिक रूप से

ही (गौणभाव से ही) प्रयुक्त होता है। **स निश्चयेन योक्तव्यः**—जब योग के द्वारा इस प्रकार महाफल की प्राप्ति होती है तब उस योग का अभ्यास यत्नपूर्वक करना चाहिए। शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश से उत्पन्न निश्चय के द्वारा इस योग का अभ्यास करना पड़ेगा।

अनिर्विण्णचेतसा—निर्वेद शब्द का अर्थ है साधन में दुःख बुद्धि के कारण (अर्थात् साधन दुःखदायक है ऐसी बुद्धि से) प्रयत्न की शिथिलता (ढ़िलाई)। यद्यपि वह शीघ्र सिद्ध नहीं होती तो भी अनिर्विण्ण-चित्त होकर (निर्वेदरहित अर्थात् दुःखबुद्धिजनित शिथिलता से शून्य चित्त के द्वारा) उस योग का अभ्यास करना चाहिये।

(३) **शंकरानन्द**—योग के लक्षण समूह को वताकर अब उक्त लक्षण-विशिष्ट योग को जानना चाहिये, यह कह रहे हैं—

तं योगसंज्ञितं विद्यात्—बाह्य विषय से उपरम आदि परिपक्व होने से चित्त अन्य अपरिपक्व चित्त से भेदविशिष्ट होता है। उस प्रकार परिपक्व अन्तःकरण की जो अवस्था-विशेष है वह योगसंज्ञित है अर्थात् उसी का नाम योग है यह जानना चाहिये। योग है संज्ञा (नाम) जिसकी वह योग संज्ञित है उक्त लक्षणयुक्त अन्तःकरण के अवस्थाविशेप को ही पंडित व्यक्तियों ने योग कहा, यही अर्थ है। योग के उक्त लक्षण को स्पष्ट करने के लिये फिर कह रहे हैं—**दुःखसंयोगवियोगम्**—यहाँ दुःख शब्द के द्वारा उसके सम्बन्धी विषय-सुख को भी ग्रहण किया गया है। अतः आध्यात्मिक आदि दुःखों के तथा सुखों के संयोग से जिसका वियोग है, उसे 'दुःखसंयोगवियोग' कहा जाता है। योग 'दुःखसंयोगवियोग' है अर्थात् जिस अवस्था में [सुख-दुःख के संयोग का (संस्पर्श का) वियोग (अभाव) होता है अर्थात् जिसमें] बाह्य सुखदुःख का प्रत्यय (वृत्ति या प्रतीति) अप्रकाशित रहता है (अर्थात् लुप्त होता है) उस अवस्था में अन्तःकरण का जो स्थितिविशेष है उसी को योग जानो—यही कहने का अभिप्राय है। इस प्रकार योग का लक्षण, योग तथा 'आत्मनि पश्यन् तुष्यति' (आत्मा के द्वारा आत्मा में देखकर सन्तुष्ट होते हैं) यह कह कर योग के फल का भी प्रतिपादन कर के संसार में निमग्न आत्मा का उद्धार योग के विना अन्य किसी उपाय के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः जो यति आत्मतत्त्व को विशेषरूप से जान गये हैं उनकी विदेहमुक्ति के लिये समाधि अवश्य कर्तव्य है, यह सूचित करने के लिये समाधि की कर्तव्यता को पुनः कह रहे हैं—**स योगः**—उक्त लक्षण वाला योग आत्मा का उद्धार

करने में परम साधन है। निश्चयेन—इसके द्वारा ही आत्मा का उद्धार किया जाता है, यह शास्त्रप्रसिद्ध है तथा विद्वान् व्यक्तियों को प्रत्यक्ष है, इस प्रकार के निश्चय द्वारा तथा चित्त की दृढ़ता के द्वारा तथा अनिर्विण्णचेतसा—'नासाग्र-दर्शन, इन्द्रिय-निरोध, समता से शरीर का स्थापन, मन का निग्रह—इनमें क्लेश होता है, अतः मैं इन सबको करने में समर्थ नहीं हूँ' इस प्रकार सोच कर समाधि का अभ्यास करने के समय जो आलस्य उपस्थित होता है उस आलस्यरूप दोष से युक्त चित्त को निर्विण्णचित्त कहा जाता है। तीव्र मोक्ष की इच्छा से जब चित्त उक्त आलस्यरूप दोष से रहित होता है, तब चित्त अनिर्विण्ण होता है। इस प्रकार अनिर्विण्ण चित्त के द्वारा मुमुक्षु यति को योगः योक्तव्यः—उक्त लक्षण वाले योग (समाधि) योक्तव्य है अर्थात् उस योग का अनुष्ठान करना कर्तव्य है। मुमुक्षु यति को विदेहमुक्ति के लिये इस योग का (समाधि का) सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करना चाहिए—यही कहने का अभिप्राय है (तात्पर्य है)।

(४) नारायणी टीका—परमात्मा के साथ जीवात्मा के योग को ही यथार्थ योग कहा जाता है। चित्त वृत्तिशून्य होने से ही अर्थात् निर्विकल्प समाधि की अवस्था में ही सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म का प्रकाश होता है तथा जीव साक्षात्‌रूप से अनुभव करता है कि 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ'—यही प्रकृति योग है। इस प्रकार अपनी आत्मा के स्वरूप के साथ युक्त होने से सभी जागतिक सुख तथा दुःख के संयोग का (संस्पर्श का) वियोग (अभाव) होता है क्योंकि तब आत्मा से अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्त्व उपलब्ध नहीं होता है। अतः उस अवस्था में सुखदुःख देने वाली कोई वस्तु भी नहीं रहती है। अखंडाद्वयआनन्दस्वरूप आत्मा से विच्युत होने से ही माया से उत्पन्न (कल्पित) विषयसमूह कल्पित चित्त को कल्पित सुख दुःख प्रदान करते रहते हैं। ['दुःख' शब्द के द्वारा जागतिक सभी सुख का भी ग्रहण किया गया है क्योंकि समाधि योग में दुःख के समान सुख का भी अभाव होना चाहिए]. चूँकि योग (परमात्मा के साथ जीवात्मा का योग) इस प्रकार महाफलदायक है, इसलिये निश्चय-बुद्धि से (अर्थात् गुरु तथा वेदवाक्य अभ्रान्त है इस प्रकार दृढ़ निश्चय या अध्यवसाय के द्वारा) तथा अनिर्विण्णचित्त के द्वारा (आलस्य तथा हताशभाव से रहित होकर धैर्ययुक्त चित्त के द्वारा) वह योग योक्तव्य है अर्थात् उसका अभ्यास करना चाहिए। जिस साधन को श्री गुरु ने मुझे दिया है उससे वेदादि शास्त्र-प्रतिपाद्य परमान्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त

करना ही मेरे जीवन का प्रधान कर्तव्य है इस प्रकार दृढ़निश्चयता रहने से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। फिर इस प्रकार निश्चय-बुद्धि के साथ अनिर्विण्णचित्त होना भी आवश्यक है। इतना साधन किया, कुछ भी तो नहीं हुआ—क्या मालूम और कितना कष्ट करना पड़ेगा—सम्भव है कि मेरे द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, इस प्रकार हताशभाव को निर्वेद कहा जाता है। और शास्त्रवाक्य तथा गुरुवाक्य कभी मिथ्या (झूठ) नहीं है—मेरे पूर्वकृत पाप-कर्मों के फल ही योगसिद्धि में नाना प्रकार के विघ्न (बाधा) रूप से उपस्थित हो रहे हैं ; इस जन्म में ही हो अथवा परवर्ती सैकड़ों जन्म में ही हो मैं संसार-सागर से अपना अवश्य उद्धार करूँगा, इस प्रकार धैर्य तथा उत्साहयुक्त चित्त को अनिर्विण्णचित्त कहा जाता है। दृढ़ अध्यवसाय जिनका है तथा जिनका चित्त अनिर्विण्ण है अर्थात् जिनको साधन में आलस्य, अनिच्छा, अवसाद या हताश-भाव नहीं है वे ही निर्विकल्प समाधि के द्वारा परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो सकते हैं—दूसरे नहीं, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। अनिर्विण्ण चित्त का एक दृष्टान्त (उदाहरण) शास्त्र में इस प्रकार दिया गया है—किसी एक समय समुद्र के तरंगों से टिट्टिभ नाम के एक क्षुद्र पक्षी के कुछ अण्डे खो गये। समुद्र ने उसके अंडों को चुरा लिया है इस प्रकार सोचकर अत्यन्त क्रुद्ध होकर वह पक्षी 'मैं समुद्र का शोषण करूँगी' इस प्रकार की दृढ़ प्रतिज्ञा करके वह क्षुद्र चोंच के द्वारा बूँद-बूँद पानी समुद्र से उठाकर समुद्र के तीर पर गिराने लगा। सबने उसे इस प्रकार की हठकारिता से निवृत्त करने की चेष्टा की किन्तु वह क्षुद्र पक्षी किसी की बात को नहीं मानकर अपने संकल्प में दृढ़ता रखकर समुद्र का बूँद-बूँद पानी उठाने लगा। अन्त में भगवान् नारद ने कृपा कर भगवान् गरुड़ को जब उस पक्षी की सहायता करने के लिए भेजा तब समुद्र ने भी भीत होकर उस क्षुद्र पक्षी के अंडों को लौटा दिया। इस प्रकार टिट्टिभ पक्षी के समान जिनका सङ्कल्प दृढ़ तथा अटल है—ऐसे अनिर्विण्ण चित्तवाले (आलस्य तथा अवसाद से रहित) साधक ही माया (अर्थात् अज्ञानरूपी समुद्र आत्मज्ञानरूपी अंडों को हरण कर लेने पर) माया से उत्पन्न हुए चित्त की एक-एक बूँद को अर्थात् एक-एक वृत्ति को शोषण कर (निवृत्त कर) अन्त में भगवद् कृपा से आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

[पूर्व श्लोक में समाधि-योग अवश्यकर्तव्य है, ऐसा कहा गया है। अब जिस प्रकार क्रम के अनुसार उस योग का अभ्यास करना पड़ेगा वह कहा जा रहा है—]

संङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

अन्वय—सङ्कल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा मनसा एव इन्द्रिय-ग्रामम् समन्ततः विनियम्य धृतिगृहीतया बुद्धया शनैः शनैः उपरमेत्। मनः आत्मसंस्थं कृत्वा किंचित् अपि न चिन्तयेत् ।

अनुवाद—संकल्प से उत्पन्न हुए सभी कामों का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर तथा मन के द्वारा इन्द्रिय समूह का सभी प्रकार से नियमन कर धीरे-धीरे धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा विषयों से मन को उपरत करें तथा मन को सब ओर से अवरुद्ध कर अर्थात् रोककर (समाधिस्थ कर) अन्य किसी वस्तु का चिन्तन न करें ।

भाष्यदीपिका—संकल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा—संकल्प से उत्पन्न हुई सभी कामनाओं को सम्पूर्ण रूप से (जिससे किसी प्रकार से कामनाओं का शेष अर्थात् लेशमात्र भी न रहे इस प्रकार से) परित्याग कर अर्थात् सभी विषयों से निर्लिप्त होकर। किसी पदार्थ में समीचीनत्व बुद्धि उत्पन्न होने से अर्थात् यह वस्तु मेरी है, यह मेरे लिए अनुकूल एवं शोभनीय है इस प्रकार की चित्तवृत्ति के उदय होने से उसे संकल्प कहा जाता है। और काम शब्द का अर्थ है विषय के लिए अभिलाषा (विषय-वासना) । अतः 'कामान्' शब्द के द्वारा सभी कामनाओं को अर्थात् माला, चन्दन, स्त्री इत्यादि से लेकर ब्रह्मलोक तक जितने विषय हैं उनको तथा अणिमादि अष्टैश्वर्य इत्यादि के लिए अज्ञानजनित जितनी कामनाएँ (वासनाएँ) होती हैं उन सभी को समझाया जा रहा है। सभी कामनाएँ 'सङ्कल्पप्रभव' हैं अर्थात् सङ्कल्प से उत्पन्न होती हैं । इसलिए स्मृति में कहा गया है—"काम ! जानामि ते मूलं सङ्कल्पाज्जायसे किल" अर्थात् हे काम ! तुम्हारा मूल कारण मैं जानता हूँ, तुम सङ्कल्प से उत्पन्न होते हो । सभी कामनाओं का परित्याग करने का क्रम इस प्रकार होता है—(क) विषयों में जब तक अनुकूलत्व बुद्धि या प्रियत्व बुद्धि रहेगी तब तक कामनाएँ भी रहेंगी । शास्त्रवाक्य-श्रवण (सत्संग) तथा मनन (विचार) के द्वारा विषय-मात्र का ही दोषदर्शन होते रहने पर विषयों

के प्रति वासना या कामना क्षीण होती रहती है, (ख) किन्तु सभी कामनाएँ संकल्प से उत्पन्न होने के कारण जब तक चित्त संकल्परहित नहीं होगा तब तक कामना या वासना का सम्पूर्ण उच्छेद (नाश) नहीं हो सकता। इसलिये चित्त को संकल्परहित करने के लिए "निरोधसमाधि" का अभ्यास (अर्थात् चित्त को सम्पूर्ण रूप से वृत्तिरहित करके परब्रह्म में निरन्तर स्थितिलाभ करने का अभ्यास) करना होगा।

(ग) केवल निरोध-समाधि से ही नहीं होगा। उस निरोध समाधि के संस्कार को भी परिपक्व करना होगा। जबतक "निरोध समाधि का संस्कार" परिपक्व न हो तब तक संकल्प का बीज रहने के कारण विषयों के प्रति राग के हेतुस्वरूप कामना (वासना) का लेश (शेष अंश) रह जा सकता है। अतः निरोध समाधि की अपक्व अवस्था में भी बीच-बीच में मन विषयों के प्रति आकृष्ट होकर समाधि को नष्ट कर दे सकता है। इसलिए कहा गया है 'अशेषतः त्यक्त्वा' अर्थात् सम्पूर्ण रूप से त्याग करना पड़ेगा। अभिप्राय यह है कि योगी को परमानन्द में स्थितिलाभ करने के लिए बाह्य विषय की वासना तो दूर की बात है, देह तथा जीवनादि के लिए भी कामना न रखकर अर्थात् उन सब की भी किसी प्रकारसे अपेक्षा न कर चरम उद्देश्य (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए दृढ़ता के साथ प्रयत्न करना पड़ेगा।

मनसा एव इन्द्रियग्रामं समन्ततः विनियम्य—अपरंच विवेकयुक्त मन के द्वारा ही इन्द्रिय समूह को अर्थात् चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा तथा त्वक् ये पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, पायू, उपस्थ ये पंच कर्मेन्द्रियाँ—इन सबकी प्रवृत्ति को समन्ततः अर्थात् सभी ओर से अर्थात् सभी विषयों से विशेषरूप से नियमित (संयत) करके। [जिस मनने श्रवण तथा मनन के द्वारा जगत् के मिथ्यात्व को (झूठेपन को) निश्चय किया है तथा जो जागतिक अनात्मवस्तु से अर्थात् देह-गेहादि दृश्य वस्तुओं से नित्य साक्षी स्वरूप आत्मा को पृथक् जान कर संसार-चक्र से मुक्ति के उद्देश्य से समाधि के द्वारा सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए बद्धपरिकर (दृढ़निश्चय) हुआ है उसी को 'विवेकयुक्त' मन कहा जाता है। 'विनियम्य' शब्द का अर्थ है विशेषरूप से नियमन या संयत करके। संकल्प की उत्पत्ति मन से होती है। संकल्प से विषय वासना (काम) का उदय होता है। काम का उदय होने से इन्द्रियों की विषय के प्रति चेष्टाएँ होती हैं। निःसंकल्प मन के साथ इन्द्रिय का कोई संयोग नहीं रहता। मन आत्म अनात्म वस्तु का विवेक कर (पार्थक्य

निर्णय कर) तथा अनात्म-विषयसमूह के मिथ्यात्व (झूठेपन) का निश्चय कर जब विषय सम्बन्धी संकल्प का त्याग करता है तब इन्द्रिय-समूह भी विषय की ओर धावित नहीं हो सकते हैं। यही विवेकयुक्त मन के द्वारा इन्द्रिय-समूह का विशेषरूप से संयम (विनियमन) है।] फिर धृतिगृहीतया बुद्ध्या—धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा (जो कुछ भी हो मुझे योग साधन में लगे रहना पड़ेगा ही, इस प्रकार धैर्यसम्पन्न निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा)। [यहाँ 'धृति' शब्द का अर्थ है सात्त्विक धृति (गीता १८।३६)। बुद्धि के द्वारा कर्तव्य का निश्चय होता है। कर्तव्य निश्चित होने पर भी यदि धृति (धैर्य) न रहे तब लक्ष्य स्थान (मोक्ष) में पहुँचना सम्भव नहीं होता है। इसलिए 'धृतिगृहीतया बुद्ध्या' (धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा), ऐसा कहा गया है।] शनैः शनैः उपरमेत्—धीरे धीरे विषयों से उपरत होवें अर्थात् सहसा मन को विषयों से उपरत करने की चेष्टा न करें। [शनैः शनैः पद का तात्पर्य यह है कि शास्त्र तथा गुरु के द्वारा उपदिष्ट साधन मार्ग की भूमिका को क्रमशः जय करना होगा क्योंकि अनादि संस्कारसम्पन्न मन को सहसा (अचानक) निरोध करना असम्भव है। निरोध का क्रम इस प्रकार है :—(क) विषयों में दोषदर्शन के द्वारा विषय वासना को क्षीण करना होगा, (ख) विवेकयुक्त मन के द्वारा जागतिक वस्तुओं के मिथ्यात्व (झूठेपन) को निश्चय कर इन्द्रिय-समूह को विषयों से उपरत करना होगा (ग) धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा समाधि का अभ्यास कर मन को संकल्प से उपरत करना होगा (घ) तत्पश्चात् शान्त आत्मा में स्थितिलाभ कर अहंकार तथा बुद्धि को सर्व प्रवृत्तिओं से उपरत करना होगा।

इसी को शास्त्रोक्त चार प्रकार की भूमिका की जय कही गई है, जैसे (क) वाक् भूमि की जय (ख) इन्द्रिय भूमि की जय (ग) मनः भूमि की जय (घ) अहंकार तथा महत्तत्व भूमि की जय। श्रुति में भी इस प्रकार कहा गया है—"यच्छेद्‌वाङ्‌मनसी प्राज्ञस्तद्-यच्छेज्-ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्‌यच्छेच्छान्त आत्मनि" (कठ० उ०) अर्थात् वाक्य के द्वारा उपलक्षित सर्व इन्द्रियों तथा विषयों को मन में लय करें। सर्व प्रपंच का कारण जो मन है उसे ज्ञानात्मा में अर्थात् 'मैं मैं' रूप जो बुद्धि अर्थात् अहंकार है उसमें लय कर दें। फिर अहंकार को महत्तत्व में लय करना होगा। महत्तत्व को अव्याकृत में (अव्यक्त में अर्थात् महाशून्य की अवस्था में लय करना होगा) और अव्याकृत को शान्त आत्मा में अर्थात् निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा में लय करना होगा। मनः आत्मसंस्थं कृत्वा—इस प्रकार से मन

को आत्मसंस्थ कर के अर्थात् आत्मा में स्थित कर के (आत्मा ही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं इस प्रकार से मन को आत्मनिष्ठ करके) [पहले कहे गये क्रम के अनुसार मन को निरोध करने के पश्चात् क्या करना चाहिये यही अब कह रहे हैं। मन सर्व प्रकार से वृत्तिरहित होने से आत्मा में अर्थात् (सर्व उपाधिरहित) 'त्वं' पदलक्ष्य प्रत्यक् चैतन्य में ही मन का सम्यक् प्रकार से स्थितिलाभ होता है ऐसे अर्थात् मन 'आत्मसंस्थ' होता है (आत्माकारता प्राप्त होता है)। अतः केवल आत्मा में ही चित्त को स्थित कर अर्थात् अवशिष्ट रखकर (मधुसूदन)] योग शास्त्र में कहा गया है— "द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्" (पा० यो० ४।२३) अर्थात् द्रष्टा तथा दृश्य के द्वारा उपरक्त (रंजित) होने से चित्त सर्वार्थ होता है अर्थात् सर्व अर्थ (विषय) ग्रहण करने में समर्थ होता है। चित्त चित् के निकट चिदाकार तथा विषय के निकट विषयाकार हो जाता है। इसलिये वह चित्त चेतन तथा अचेतन सभी विषयों को ही समान रूप से ग्रहण करने में समर्थ होता है। फिर "सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः" (पा० यो० ३।११) अर्थात् चित्त के सर्वविषयग्रतारूप धर्म के क्षय होने पर तथा एकाग्रता रूप धर्म के उदय होने पर चित्त की एकाग्रता—परिणाम होता है। चित्त की यह एकाग्रता—परिणाम परिपक्व होने से जब द्वैतबुद्धि के अभाव से होता है तब सर्व वृत्तिओं के निरोध होने पर मन आत्मसंस्थ होता है।] न किंचिदपि चिन्तयेत्—मन आत्मसंस्थ होने पर फिर बाह्य या आभ्यन्तरिक कुछ भी (किसी भी विषय को) चिन्ता न करें। यही योग का अर्थात् (योगी के लिये) परम विधि है। अतः आत्मा ही हो या अनात्मा ही हो किसी विषय का ही चिन्तन न करें, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। चिन्ता का अवलम्बन रूप कोई विषय रहने से ही चित्त की किसी न किसी वृत्ति अवश्य ही उत्पन्न होगी। चित्त की यदि अनात्मकारा (जागतिक विषयाकारा) वृत्ति रहे तब समाधि भंग होकर व्युत्थान (जागरण) होगा। और यदि केवल आत्माकारा वृत्ति रहे तब सम्प्रज्ञात समाधि होगी। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि के विना सर्व क्रियाओं से उपराम तथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की सम्भावना नहीं है। इस निर्विकल्पसमाधि की स्थिरता का सम्पादन करने के लिये ही चित्त की सर्ववृत्तियों का निरोध अत्यन्त आवश्यक है (मधुसूदन)। अब प्रश्न हो सकता है कि आत्माकारावृत्ति का अभाव होने से आत्मसाक्षात्कार कैसे सम्भव होता है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा नित्य, स्वतः—सिद्ध (स्वयंप्रकाश) है। उसे प्रकाशित करने के लिये किसी वृत्ति की अपेक्षा नहीं रहती है।

चित्तवृत्ति ही सर्वत्र अवस्थित आत्मा को आवृत कर (ढक कर) आत्माधिष्ठान में इस जगद् रूप चित्र को दिखा रही है। सूर्य को प्रकाश करने के लिये जैसे किसी प्रदीप (दीया) की आवश्यकता नहीं होती है, बादल हट जाने पर वह जैसे स्वतः ही प्रकाशित होता है, उसी प्रकार आत्मा को प्रकाशित करने के लिये किसी वृत्ति की अपेक्षा नहीं रहती है। जब विषयाकारा वृत्ति (जो आत्मा को आवरण कर रखी है) निर्विकल्प समाधि से निरुद्ध होकर आत्मा के साथ एकाकारता प्राप्त होती है तब आत्मा स्वयं प्रकाशित होती है। एक कंटक (काँटे) के द्वारा जैसे अन्य एक कंटक (काँटे) को अपसारित कर (हटा कर) दोनों कंटक (काँटे) को ही अन्त में फेंक देना पड़ता है, उसी प्रकार निरन्तर आत्माकारा-वृत्ति के द्वारा (सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा) विषयाकारा वृत्ति को नष्ट कर अन्त में सम्प्रज्ञात-वृत्ति का भी त्याग करना पड़ेगा, अर्थात् ध्यातृ, ध्यान तथा ध्येय के भेद को मिटा कर निर्विकल्पसमाधि में अखंडैकरस चिदात्मा में ही सुषुप्त व्यक्ति के समान निरन्तर अवस्थान करना पड़ेगा यही "न किंचिदपि चिन्तयेत्" वाक्य का तात्पर्य है।

टिप्पणी—(१) मधुसूदन—शनैः शनैः···न किंचिदपि चिन्तयेत्—प्रश्न होगा चित्त शान्त होकर आत्मसंस्थ अर्थात् आत्मा में सम्यक् प्रकार से स्थित होने से जब सर्व वृत्ति से रहित होता है तब सुषुप्ति की अवस्था में जैसे कोई विशेष ज्ञान नहीं रहता है उसी प्रकार चित्त की निरोधावस्था में भी आत्मा या अनात्मा के सम्बन्ध में ज्ञान का अभाव क्यों नहीं होगा ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि जैसे शान्तस्वरूप आत्मा में चित्त का निरोध होने से (बादल के हट जाने पर जैसे सूर्य स्वतः ही प्रकाशित होता है उसी प्रकार) चित्तवृत्तिरूप आवरण के अभाव से स्वयंप्रकाश आत्मा स्वतः ही प्रकाशित होती है। शास्त्र में ऐसा कहा गया है—"आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम्। आत्मैकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टिं विदधीत।" अर्थात् चित्त सदा ही स्वभावतः आत्मा की और नहीं तो अनात्मविषयों के आकार में आकारित होकर अवस्थित रहता है। केवल आत्मैकाकारता द्वारा अर्थात् समाधि के बल से चित्त की केवलमात्र आत्माकारता का सम्पादन कर अनात्म-दृष्टि को तिरस्कृत (दूरीभूत) करना होगा। घट की उत्पत्ति के समय आकाश के द्वारा पूर्ण होकर ही घट उत्पन्न होता है। बाद में पुरुष के प्रयत्न से जल अथवा तंडुलादि के द्वारा वह पूर्ण किया जाता है। किन्तु जल आदि द्रव्य को घट से निःसारित कर देने पर भी आकाश का किसी प्रकार से निःसारण नहीं

किया जा सकता है। यहाँ तक कि घट का मुख बन्द करने पर भी आकाश रह ही जाता है। उसी प्रकार चित्त जब उत्पन्न होता है तब चैतन्य के द्वारा पूर्ण होकर ही उत्पन्न होता है। बाद में मुषानिषिक्त (साँचा में ढाला हुआ) द्रुत (द्रवीभूत) ताम्र धातु के समान अर्थात् एक विशेष आकारविशिष्ट किसी वस्तु में गले हुए ताँबे को डालने से जिस प्रकार ताँबा उसी आकार का हो जाता है वैसे ही चित्त में भोग की हेतुभूत धर्म तथा अधर्म की सहकारी सुख-दुःखादि सामग्री रहने पर चित्त सुखदुःखादि का आकार ग्रहण करता है। चित्त की यह घटाकारता अथवा सुख-दुःखादिरूप अनात्माकारता की (निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से) निवृत्ति होने पर भी चित्त की निर्निमित्त (स्वाभाविक) जो चिदाकारता है उसकी निवृत्ति नहीं की जा सकती है। निरोध समाधि के द्वारा चित्त निर्वृत्तिक (वृत्तिहीन) होने से वह केवल संस्कारमात्र होकर अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अवस्थान करता है तथा वह केवल निरुपाधिक चिदात्मा के ही अभिमुख रहता है अर्थात् निरुद्ध चित्त की स्वभावसिद्ध जो आत्माकारता है उसी में सम्यक् प्रकार से स्थित रहता है। इस कारण से केवलमात्र वृत्तिशून्य चित्त के द्वारा ही निर्बाध रूप से (किसी प्रकार बाधा न रहने से) आत्मा का अनुभव होता है। यही "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्" इस वाक्य का तात्पर्य है। इसीलिए उपनिषद् में भी कहा गया है "दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (कठ० १।३।१२) अर्थात् (निरोध समाधि के द्वारा सूक्ष्मीकृत) अग्रया (तीखी) तथा सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा ही उस परमतत्त्व को (परमात्मा को) सूक्ष्मदर्शी यति साक्षात्कार करते हैं। कैसे मन को (चित्त को) आत्मसंस्थ करना होगा, इसके उत्तर में कह रहे हैं 'बुद्ध्या धृतिगृहीतया' इत्यादि (अर्थात् सात्त्विक धृतियुक्त बुद्धि द्वारा)।

(२) श्रीधर—[यदि पूर्व कर्म संस्कारवश मन विचलित हो जाय तो धारणा के द्वारा उसे स्थिर करना चाहिये, यह कह रहे हैं—] धृति-गृहीतया बुद्ध्या—धृति अर्थात् धारणा के द्वारा वश में की हुई बुद्धि से (आत्मा में चित्त की धारणा करके बुद्धि को वश कर उस बुद्धि के द्वारा) शनैः शनैः उपरमेत्—मन को आत्मा में सम्यक् प्रकार से स्थित (निश्चल) करके उपरत हो जाय [विषयों से मन को निवृत्त करें] किन्तु वह भी सहसा (अचानक) नहीं, अभ्यास के क्रम से शनैः-शनैः (धीरे-धीरे) करना पड़ेगा। उपराम का स्वरूप क्या है ? अर्थात् चित्त का उपराम हुआ है यह

कब समझा जायगा ? वह कहा जा रहा है—**मनः आत्मसंस्थं कृत्वा किञ्चिदपि न चिन्तयेत्**—(मन को आत्मा में निश्चल कर) कुछ भी चिन्ता न करें। निश्चल होने से मन स्वयं ही प्रकाशमान परमानन्दस्वरूप होकर आत्मध्यान से भी निवृत्त हो जायगा (अर्थात् 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' इस प्रकार की वृत्ति का तथा अन्य कोई चिन्ता का भी मन में उदय नहीं होगा)।

(३) **शंकरानन्द**—(श्लोक ६।२४)

समाधि किस प्रकार से करनी होगी ? यह कहा जा रहा है—**संकल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा**—पदार्थसमूह में समीचीनत्व की कल्पना ही संकल्प है। संकल्प से जो उत्पन्न होता है वह संकल्पप्रभव अर्थात् काम है। उन समस्त संकल्पप्रभव कामों का (अर्थात् सभी विषयों की विषयाभिलाषाओं का) अशेषतः (सम्पूर्ण रूप से) त्याग करके। जिस प्रकार तेल परित्यक्त होने पर (निकाल लेने पर) भी पात्र में तेल का शेष अंश लेपरूप से रह जाता है, उसी प्रकार कामों का त्याग होने पर भी विषयों में रंजनारूप से (आसक्ति रूप से) जैसे उसका शेष न रह जाय वैसे सर्वत्र काम का त्याग करना चाहिये, क्योंकि काम का लेशमात्र रह जाने पर भी उसके द्वारा आकृष्ट (आकर्षित) होकर मन समाधिस्थित नहीं रह सकता है। अतः सर्वत्र यहाँ तक कि देह के जीवनादि में भी योगी को निरपेक्ष (अपेक्षा शून्य) रहना उचित है—यही कहने का अभिप्राय है। योगसिद्धि के बलवान् अन्तरंग साधन के विषय में कह कर अब अन्य साधनों के विषय में कह रहें हैं **मनसा एव**—(निर्विकल्प) समाधि होने से सम्यक् ज्ञान का उदय होता है। उस सम्यक् ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है—अन्य प्रकार से नहीं, इस प्रकार का निश्चय जो मन ने किया है तथा जो मन काम तथा संकल्प से दूर रहता है उस मन के द्वारा ही **इन्द्रियग्रामम्**—इन्द्रियसमूह को अर्थात् चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय को तथा वागादि कर्मेन्द्रियों को **समन्ततः**—सभी ओर से **नियम्य**—नियत कर अर्थात् इन्द्रियों की प्रवृति को निग्रह (निरुद्ध अर्थात् रोककर) इन्द्रियों से मन का संयोग न करना ही इन्द्रियनियमन है, यह 'मनसैव' (मन के द्वारा ही) इस पद के द्वारा सूचित किया गया है। अतः इन्द्रियसमूह का मन के साथ जिससे संयोग न हो सके, उस प्रकार से (योगी को) स्थित रहना कर्तव्य है—यही कहने का अभिप्राय है।

श्लोक २५—ब्रह्मविद् को उक्तलक्षणविशिष्ट आसन पर ठीक से बैठकर शरीर को समरूप से (सीधा) स्थापन कर दिशाओं को न देखते हुए नासिका

के अग्रभाग पर दृष्टि रखकर सभी काम तथा संकल्प का त्याग कर सर्व इन्द्रियों को निग्रह (निरोध) कर उसके बाद धीरे-धीरे उपरम को प्राप्त होना चाहिये, यह अब कहा जा रहा है—

शनैः शनैः—धीरे-धीरे (क्रमशः) अर्थात् पहले बाह्य विषयों से, उसके बाद इन्द्रियों से, उसके बाद भीतर के विपरीत प्रत्ययों से धीरे-धीरे **उपरमेत्**—अन्तःकरण को (ब्रह्मविद्) उपरत करे। अर्थात् क्रियारहित करे एकमात्र मोक्ष के लिये ही कामना कर विषयों से, इन्द्रियों से तथा असत् प्रत्ययों से अन्तःकरण का सम्बन्ध न हो, इसलिये मन की बाह्य प्रवृत्तियों को शान्त करना होगा—यही कहने का अभिप्राय है। 'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्—यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि,' इस श्रुति द्वारा कही हुई रीति के अनुसार प्राज्ञ व्यक्ति को 'वाणी' शब्द के द्वारा उपलक्षित समस्त इन्द्रियों को तत्तत् विषयों के साथ मन में लय करना होगा। प्रपंच के कारणभूत उस मन का भी ज्ञानरूप आत्मा में अर्थात् अहमात्मिका बुद्धि में लय करना पड़ेगा। उसके बाद उस ज्ञान का अर्थात् अहमात्मिकाबुद्धि का महत् आत्मा में अर्थात् महत्तत्त्व में तथा महत्तत्त्व का अव्याकृत में (मूल प्रकृति में) तथा उसके पश्चात् अव्याकृत का शान्त आत्मा में अर्थात् सर्वप्रपंचरहित निर्विशेष परब्रह्म में लय करना होगा। इस प्रकार से बाह्य दृष्य पदार्थ तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि सभी का ब्रह्म में लय कर 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (ब्रह्म ही यह सब है) इत्यादि श्रुति के अर्थ का अवलम्बन करने से जिस निश्चयाकारा दृढवृत्ति का उदय होता है उसे 'धृति' कहा जाता है। इस प्रकार **धृतिगृहीतया बुद्ध्या**—धृति अर्थात् धैर्य के द्वारा गृहीत अर्थात् निगृहीत बुद्धि के द्वारा। पूर्वोक्त प्रकार से (धैर्य के साथ) सभी दृश्य पदार्थों का ब्रह्म में सम्पूर्णरूप से विलापन (लय) करने से सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्वसंस्कार अवशेष रहता है। इस प्रकार ब्रह्ममात्रत्व संस्कार के बल से बुद्धि 'सब कुछ आत्मा ही है—आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है' इस प्रकार प्रत्यय (वृत्ति) से युक्त होती है। इसी को 'धृतिगृहीतबुद्धि' कहा जाता है। इस प्रकार की बुद्धि के द्वारा **मनः आत्मसंस्थं कृत्वा**—मन को आत्मसंस्थ कर अर्थात् सम्यक् प्रकार से चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही स्थित (निश्चल) करके अर्थात् सभी वस्तुओं को आत्मरूप से ही देखते हुए **न किंचिद् अपि चिन्तयेत्**—विद्वान् पुरुष स्वयं कुछ भी (अर्थात् बाहर तथा भीतर किसी वस्तु की ही) चिन्ता न करें (भावना न करें) किन्तु सब कुछ ब्रह्म ही है इस प्रकार भावना करें। इसके द्वारा सूचित होता है कि ब्रह्माकारा वृत्ति से मन में जब

आत्मा के अतिरिक्त भावनाओं का अभाव होता है तब उस अवस्था को योग कहा जाता है।

(३) नारायणी टीका—परवर्ती श्लोक की टिप्पणी में (नारायणी टीका में) मन आत्मसंस्थ कैसे होता है वह स्पष्ट रूप से कहा गया है।

[पूर्व श्लोक में मन को आत्मसंस्थ करने को कहा गया है, किन्तु शब्दादि विषयों के लिए मन का स्वाभाविक राग-द्वेष रहने के कारण मन अत्यन्त चंचल तथा अस्थिर (व्याकुल) रहता है एवं विषयों की ओर स्वाभाविक कारण से धावित होता है। ऐसी अवस्था में मन को निश्चल तथा चिन्ताशून्य कर आत्मसंस्थ करने का उपाय क्या है ? वह अब कहा जा रहा है—]

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥२६॥

अन्वय—चञ्चलम् अस्थिरं मनः यतः यतः निश्चरति, ततः ततः नियम्य एतत् आत्मनि एव वशं नयेत्।

अनुवाद—स्वभावतः चञ्चल तथा अस्थिर मन शब्दादि विषयों में से जिस-जिस विषयरूप निमित्त से वशीभूत होकर (अर्थात् जिन विषयों के द्वारा आकृष्ट होकर) बाहर जाता रहेगा उन शब्दादि विषयों से (विषयों में दोष दर्शन द्वारा अर्थात् विषय के अनित्यत्व मिथ्यात्व इत्यादि दोषों की भावना द्वारा) मन को नियमित कर उसे आत्मा में वशीभूत करें (योगाभ्यास के द्वारा आत्मा में प्रशान्त रखें)।

भाष्यदीपिका—चञ्चलम् अस्थिरं मनः यतः यतः निश्चरति—स्वभाव के दोष से (पूर्व संस्काररूप दोष के कारण) मन चंचल होकर (अत्यन्त चलायमान होकर) अत एव अस्थिर होकर शब्दादि विषयों में से जिस-जिस विषयरूप निमित्त से अर्थात् जिन विषयों के द्वारा आकृष्ट होकर बाहर जाता है (निश्चरति)। [विषय-वासना के द्वारा मन चंचल होता है तथा वासना को पूर्ण करने के लिए उस-उस बाह्य विषय के अभिमुख (विषय की ओर) धावित होकर समाधि की विरोधिनी विक्षेप-वृत्ति उत्पन्न करता है। फिर अत्यन्त भोजन अथवा अत्यन्त परिश्रम के कारण चित्त योगसाधन की विरोधिनी निद्रानामक लय-वृत्ति का उत्पादन करता है। यह लय तथा विक्षेप जब तक रहता है तब तक चित्त आत्मा में दृढ़ रूप से स्थितिलाभ नहीं कर सकता अर्थात् आत्मसंस्थ नहीं हो सकता। इसलिये लय तथा विक्षेप इन

दोनों में से किसी भी कारण से चित्त अस्थिर तथा चंचल (चलायमान) होता है। उनसे चित्त को प्रत्याहार करना होगा। इसलिए ही कहा गया है "यतः यतः निश्चरति"।] ततः ततः नियम्य एतत्—उस-उस शब्दादि विषयरूप निमित्त से इस मन को नियमन (संयत) कर जिन-जिन शब्दादि विषयों से (मन की चंचलता होती है उस-उस विषयरूप निमित्त का यथार्थ तत्त्व निरूपण कर अर्थात् शब्दादि विषय आभासमात्र हैं क्योंकि वे सब कल्पित, अनित्य, क्षयशील, दुःखप्रदानकारी तथा बन्धन के कारण हैं, इस प्रकार विषयों का दोष दर्शन कर) तथा उनमें वैराग्य की भावना दृढ़ कर मन का नियमन (अर्थात् प्रत्याहारपूर्वक सम्पूर्ण रूप से वृत्तिहीन) करना होगा। मन यदि वृत्तिशून्य न हो तो आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिए शास्त्र में इस प्रकार कहा गया है—

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥
चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवर्ति यत्।
ध्यानवार्तां वदन् मूढः स किं लोके न लज्जते॥ (योगवाशिष्ठ)

अर्थात् हस्त के द्वारा हस्त को पीड़ित कर, दन्त (दाँत) के द्वारा दन्त को रगड़ कर, अङ्ग के द्वारा अङ्ग का रोध कर पहले अपने मन का जय करें। स्वेच्छाचारी मन के ऊपर जो विजयप्राप्त नहीं कर सकता है वह मूढ़ व्यक्ति यदि ध्यान की वार्ता करे (ध्यान के विषय में कहे) तो वह क्यों लोक-समाज में लज्जा प्राप्त नहीं होगा ?

विषयेभ्यः समाहृत्य विज्ञातात्मा मनो मुनिः।
चिन्तयेन् मुक्तये तेन ब्रह्मभूतः परेश्वरम्॥
आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्मध्यायनं मुने।
विकार्यमात्मनः शक्त्या लोहमाकर्षको यथा॥ (विष्णुपुराण)

[अर्थात् जो मननशील मुनि शास्त्र तथा गुरु वाक्य के द्वारा आत्मतत्त्व को परोक्षरूप से जान गये हों, वे ही विषयों से मन को सम्यक्रूप से प्रत्याहार कर अर्थात् निवृत्त कर उस मन के द्वारा ब्रह्मस्वरूप परमेश्वर की मुक्ति के लिये चिन्ता करें। जिस प्रकार चुम्बक-लोहा लोहा के कण को अपनी ओर आकर्षित करता है उसी प्रकार मन सदा विकारशील (परिवर्त्तनशील) होने पर भी जब वह ब्रह्मध्यानपरायण होता है, तब आत्मशक्ति ही ऐसे मन को आत्मभाव प्राप्त करवाती है। (विष्णुपुराण)] इस प्रकार से मन को रोककर आत्मनि

एव वशं नयेत्—आत्मा को ही वशीभूत किया करें। आत्मा के प्रकृत स्वरूप का निरूपण कर अर्थात् स्वयंप्रकाश परमानन्दस्वरूप आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है तथा शब्दादि विषय (जिसके लिये मन विक्षिप्त होता है) इस आत्मा के ऊपर ही अज्ञान के द्वारा कल्पित होकर प्रतीत हो रहे हैं, आत्मा के अतिरिक्त इन सबकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है अर्थात् द्वैतरूप जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब मिथ्या (झूठ) है—इस प्रकार निश्चय कर विषयों के प्रति वैराग्यवान् होकर मन को वृत्तिरहित कर आत्मा को (स्वप्रकाशपरमानन्दघन आत्मा को) वश में लावे अर्थात् आत्मा में ही निश्चल रखे। अतः "आत्मनि एवं वशं नयेत्" पद का अर्थ है जिससे कि विक्षेप या लय न हो उस प्रकार से मन का निरोध कर एकमात्र आत्मस्वरूप में ही स्थापन करें। 'एव' शब्द के द्वारा आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी अनात्मविषय का अवलम्बन कर समाधि का अभ्यास करने का निषेध किया जा रहा है। मन को आत्मा के वश में लाने में क्या क्या बाधायें हैं ? तथा उसका जय करने के क्या उपाय हैं ? वह गौड़पादाचार्य ने मांडुक्यकारिका के पाँच श्लोकों में (मा. का. ३।४२-४६) अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णन किया है :—

(१) उपायेन निगृह्णीयाद् विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथाकामो लयस्तथा॥
(२) दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति॥
(३) लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत्॥
(४) नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात् प्रयत्नतः॥
(५) यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥

अर्थात्

(१) उपाय के द्वारा (योगाभ्यास द्वारा) विक्षिप्त चित्त को काम तथा भोगों से निवृत्त कर आत्मा में निरुद्ध करो। लय में (अर्थात् सुषुप्ति में) चित्त सुप्रसन्न रहने पर भी उसे जाग्रत कर आत्मा में निरुद्ध करो क्योंकि काम जिस प्रकार अनर्थ का हेतु है, लय भी उसी प्रकार समाधि का प्रतिबन्धक होता है।

(२) सभी द्वैत विषय दुःखमय हैं, यह स्मरण कर कामनिमित्त जो भोग हैं उसके द्वारा इतस्ततः विक्षिप्त मन को वैराग्य की भावना से निवर्तित करो (आत्मा में लौटाकर लाओ)। सब कुछ अज (जन्मरहित) ब्रह्म ही है यह जानकर जो कुछ जात (उत्पन्न) हुए विषय प्रतीत होते हैं उनकी ओर अर्थात् विश्वप्रपंच के प्रति दृष्टि न डालें।

(३) चित्त यदि सुषुप्ति में लीन हो तो उस चित्त को ज्ञानाभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा जाग्रत करो अर्थात् आत्मदर्शन के लिये विवेकाभ्यास में नियुक्त करो। और चित्त यदि काम तथा भोग के द्वारा विक्षिप्त हो तो उस चित्त को शान्त करो। चित्त लयप्राप्त भी नहीं है तथा विक्षिप्त भी नहीं है इस प्रकार मध्यावस्था में चित्त सकषाय अर्थात् बीजभावापन्न (अज्ञानयुक्त) रहता है। इस अवस्था से यत्नपूर्वक चित्त को साम्यावस्था में ले जाओ तथा आत्मा में स्थित होकर समभावप्राप्त होने से चित्त को फिर विषयाभिमुख न करो यानी विषय की ओर न जाने दो।

(४) समाधि से जो सुख उत्पन्न होता है उसका आस्वादन न करो। विवेकबुद्धि के द्वारा निःसंग, निस्पृह होना चाहिये अर्थात् समाधि-सुख भी अविद्या से ही परिकल्पित तथा मिथ्या है, इस प्रकार भावना कर सभी सुख की स्पृहा का त्याग करो। सुख-राग से निवृत्त तथा निश्चल हुआ चित्त जिससे बाहर न जा सके उसके लिये कहे गये उपाय से प्रयत्नपूर्वक आत्मा के (चित् स्वरूप के) साथ चित्त को (मन को) एकीभावापन्न करना चाहिये।

(५) जिस समय चित्त लय तथा विक्षेप से रहित होकर निवात-स्थान में (वायुशून्य स्थान में) स्थित प्रदीप के समान आत्मा में ही स्थित रहता है तब चित्त ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होता है। श्रुति में भी ऐसा ही कहा गया है "यत्र पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्। ताम् योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ" अर्थात् जब मन के साथ पाँचों इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) (स्व-स्व विषयों से निवृत्त होकर) केवलमात्र आत्मा में ही स्थित रहती हैं, अध्यवसाय लक्षणा बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है अर्थात् अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती है (किन्तु आत्मा में ही स्थिर रहती है) उस अवस्था को ज्ञानी लोग उत्तम गति कहते हैं। बाह्य इन्द्रियों की तथा अन्तरिन्द्रिय (अन्तकरण) की अचल रूप से धारणा को ही (अर्थात् निश्चल स्थिति को ही) योग कहते हैं। इस योगाभ्यास के समय अप्रमत्त अर्थात् प्रमाद (असावधानता) से रहित

होना चाहिये चूँकि योग 'प्रभवाप्यय' है अर्थात् योग की उत्पत्ति तथा विनाश है। अतः जिससे योग का विनाश न हो उसके लिये यत्न करना चाहिये। इस प्रकार श्रुति तथा स्मृति में सर्वत्र परमपुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिये मन को (चित्त को) सर्व विषयों से नियत (निवृत्त) कर केवलमात्र आत्मा में ही निविष्ट रखने के लिये उपदेश दिया गया है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर— [पूर्व श्लोक में जैसा कहा गया है वैसा करने पर भी यदि रजोगुण के कारण मन प्रचलित (विचलित) हो जाय तो फिर प्रत्याहार द्वारा उसको वशीभूत करना चाहिये। इसलिये कह रहे हैं—]

चञ्चलम् अस्थिरं मनः—मन स्वभावतः ही चञ्चल है। अतः धार्यमान् होने पर भी (किसी स्थान पर मन को स्थिर करने की चेष्टा करने पर भी) मन अस्थिर हो जाता है। इस प्रकार मन **यतः यतः**—जिन-जिन विषयों के प्रति आकर्षित होकर **निश्चरति**—धावित होता है **ततः ततः**—उन उन विषयों से **एतत् नियम्य**—इस मन को प्रत्याहृत (लौटा) कर **आत्मनि एव**—आत्मा में ही **वशं नयेत्**—स्थिर करें।

(२) शंकरानन्द—शंका—किन्तु विषयलम्पट पुरुष की आत्मा में मन की सम्यक् प्रकार से स्थिति असम्भव है क्योंकि उस विषय-वासना के वेग से तथा विषय के प्रति रागादि रहने के कारण विषय में प्रवृत्त होना ही मन का एकमात्र स्वभाव है। इसलिये 'स्वभावो दुरतिक्रमः' (स्वभाव को अतिक्रम करना कठिन है) इस न्याय के अनुसार स्वभावतः जो प्रवृत्ति प्राप्त होती है उसका निरोध करना सम्भव नहीं है। अब प्रश्न होगा—यदि मन का निरोध असम्भव हो तो मन की आत्मा में संस्थिति किस प्रकार से हो सकती है ? **समाधान**—नहीं इस प्रकार कहना ठीक नहीं है क्योंकि विषयसमूह में केवल सत्यत्व, समीचीनत्व तथा इष्टत्व बुद्धि के बल से ही मन की विषय के प्रति प्रवृत्ति होती है तथा उस प्रवृत्ति के हेतु रागादि भी उत्पन्न होते हैं। 'विकल्पो नहि वस्तु', 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' (विकल्प कोई वस्तु नहीं है, यह द्वैत (दृश्य पदार्थ) मायामात्र है), 'त्रयमप्येतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्' [ये तीनों ही (सुषुप्त, स्वप्न तथा जाग्रत्) मायामात्र हैं] इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा तथा 'ये सब मिथ्या (झूठ) है, क्योंकि ये कल्पित है। शुक्ति में (सीपी में) रजत भ्रान्ति के समान' इत्यादि युक्तियों के द्वारा भी विषयसमूहों का मिथ्यात्व सिद्ध (प्रमाणित) होने पर विषयों में सत्यत्व, समीचीनत्व तथा इष्टत्व बुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं तथा साथ-साथ रागादि भी नष्ट हो जाते हैं।

इस कारण से मन की फिर विषय के प्रति प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती है। यदि कभी वासनाओं में मन की प्रवृत्ति होती हो, तो विवेकयुक्त बुद्धि से विषयों का मिथ्यात्व निश्चय कर उससे मन को निवृत्त कर उसे आत्मस्वरूप में ही स्थापन करना चाहिये, यही अब स्पष्ट रूप से कह रहे हैं—**चञ्चलम् अस्थिरं मनः**—वासनाओं के वेग से चंचल (चपल) तथा रागादि दोषों से ग्रस्त होने के कारण अस्थिर (अव्यवस्थित) मन अपने विषय आत्मा को अनादर कर वासना के द्वारा अथवा रागादि के द्वारा अथवा हठ से ज्ञात रूप से अथवा अज्ञात रूप से **यतः-यतः च**—जिन-जिन विषयों को उद्देश्य (लक्ष्य) कर **निश्चरति**—निर्गत होता है अर्थात् जिन-जिन विषयों के प्रति जाता है **ततः-ततः नियम्य**—उन-उन विषयों से नियत (निवृत्त) कर अर्थात् उन-उन विषयों के मिथ्यात्व दुःखप्रदत्व, बन्धकत्व तथा आत्मा से भिन्न होने के कारण उनका असत्व (संत्ताहीनता) उद्घाटन करके (निश्चित करके) उन सब से वैराग्ययुक्त (विरक्त) कराकर इस मन को फिर आकर्षण कर चिद् भाव प्राप्त कराकर **आत्मनि एव वशं नयेत्**—आत्मा के ही अधीन करें अर्थात् आत्मा का नित्यत्व, चिद्रूपत्व, अखंडानन्दैकरसत्व आदि गुणों का प्रकाशन कर, आत्मा में मन की रुचि सम्पादन कर नियम के अनुसार मन को (आत्मा में ही स्थित अर्थात्) आत्मस्थ करें।

(३) **नारायणी टीका**—मन को निर्विकल्प समाधि के द्वारा आत्म-संस्थ कर सर्व प्रकार से चिन्तारहित करना होगा, यह पूर्व श्लोक में कहा गया है। किन्तु समाधि-भंग होने से मन फिर स्वाभाविक चंचलता तथा अस्थिरता के कारण विषयाभिमुखी होकर समाधि की विरोधी वृत्ति उत्पन्न करता रहता है। ऐसी अवस्था में योगी का क्या कर्तव्य है ? यह अब कहा जा रहा है। तीन कारणों से मन आत्मा में सदा स्थित रह नहीं सकता, यथा—(क) विक्षेप—जब तक विषयों में सत्यत्व, नित्यत्व, सुखत्व तथा इष्ट-साधनत्व (विषय के द्वारा मुझे इष्ट अर्थात् इच्छित वस्तु प्राप्त होगी ऐसी) बुद्धि रहेगी तब तक मन विषय की ओर धावित होकर विक्षिप्त होगा ही एवं समाधि की विरोधी वृत्तियों का भी उत्पादन करेगा अर्थात् पातंजलयोगशास्त्र में कही गई पंच वृत्तियों में प्रथम चार वृत्तियों में से (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प तथा स्मृति इन चारों वृत्तिओं में से) किसी एक वृत्ति का उत्पादन कर आत्मस्थिति से विच्युत होगा। गुरुमुख तथा शास्त्रों से पुनः-पुनः जीव, जगत् एवं ब्रह्म का तत्त्व श्रवण कर मनन द्वारा (विचार तथा युक्ति के द्वारा) विषयों का अनि-

त्यत्व, दुःखत्व, परिच्छिन्नत्व तथा मायिकत्व निश्चय करने पर विषय के प्रति और आसक्ति नहीं रहती है। मरीचिका में जल नहीं है, यह निश्चय रूप से ज्ञात होने से जिस प्रकार प्रतीति-मात्र मरीचिका के जल के लिए किसी की वासना नहीं रहती है उसी प्रकार यह दृश्य-प्रपंच अविद्याकल्पित (माया-रचित) है अर्थात् एकमात्र परमानन्द ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही सत्य है तथा आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब मिथ्या हैं, यह निश्चय रूप से जानने से किसी विषय के प्रति राग (आसक्ति) रहना सम्भव नहीं है। अतः चित्त को विक्षिप्त करने का कोई कारण भी फिर नहीं रहता है।

(ख) लय—युक्ताहार, विहार इत्यादि का अभ्यास नहीं करने से अर्थात् अपरिमित आहार अथवा अपरिमित श्रम इत्यादि करने से पातञ्जल योगशास्त्र में कहे गये निद्रारूप पंचम वृत्ति के द्वारा मन आच्छन्न होता है अर्थात् निद्रा द्वारा चित्त लयप्राप्त होता है। यह निद्रावृत्ति या लय भी समाधि का अत्यन्त विरोधी है। परिमित आहार, परिमित विहार आदि करने से तथा समाधि का अभ्यास परिपक्व होने से जड़ देह में आत्मबुद्धि का शनैः-शनैः (धीरे धीरे) विनाश होने पर चित्त की लयाभिमुखी वृत्ति भी नष्ट हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि लय तथा विक्षेप रहने से चित्त (मन) आत्मसंस्थ नहीं हो सकता है क्योंकि ये दोनों समाधि के परम शत्रु हैं। चित्त लय तथा विक्षेप से रहित होने से निवातस्थान में स्थित दीपशिखा के समान सर्व प्रकार वृत्तिशून्य होकर निश्चल आत्मा में स्थित होता है। इस कारण से जिस-जिस विषय के प्रति चंचल तथा अस्थिर मन स्वभावतः धावित होता है उस उस विषय का अनित्यत्व, दुःखत्व इत्यादि दोष-दर्शन कर चित्त को विक्षेप तथा लय से शून्य कर आत्मा के वश में रखने का अर्थात् आत्मसंस्थ करने का उपदेश भगवान् ने दिया।

(ग) उपर्युक्त (उपर कहे गये) लय तथा विक्षेप के अतिरिक्त समाधि का अन्य एक महान् शत्रु है। वह है ध्यान करते करते सुखानुभव-वृत्ति—मन ब्रह्म या आत्मा से भिन्न है, इस प्रकार द्वैतबुद्धि जब तक रहती है तब तक ही मन का निरोध करने की अथवा समाधि का अभ्यास करने की प्रचेष्टा रहती है। कोई सुख का अनुभव मन से (अन्तःकरण) से ही होता है। अन्तःकरण जब आत्मा में लय प्राप्त होता है तब आत्मा से अतिरिक्त किसी सुख का अनुभव होना सम्भव नहीं है अतः समाधि में जो सुख उत्पन्न होता है उस सुख में यदि योगी की आसक्ति रहे तब समझना होगा कि योगी का मन तब

निर्विकल्प समाधि के द्वारा आत्मसंस्थ नहीं हुआ है (क्योंकि उस समाधि सुख का आस्वादन करने के समय भी विकल्प रहता ही है)। वह सुख भी मिथ्या तथा अज्ञानकल्पित है ऐसा जानकर जब योगी उस सुख का त्याग कर मन को आत्मा के साथ एकीभूत (एक) करने को समर्थ होता है अर्थात् एकमात्र शुद्ध-चैतन्यस्वरूप आत्मसत्ता ही जब विद्यमान रहती है तथा उसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं की (ध्याता, ध्येय एवं ध्यान तथा ध्यानजनित सुख की) प्रतीति का लोप होता है तभी जीव आत्मसंस्थ होकर कृतकृतार्थ होता है। 'आत्मनि एव' पद के 'एव' शब्द के द्वारा यही सूचित किया गया है कि अखंड, अनन्त सुखस्वरूप आत्मा में ही मन को स्थित रखना चाहिये, विषयसुख अथवा समाधिसुख में नहीं।

[चित्त आत्मा के वश में रहने से अर्थात् आत्मा में समाधिस्थ रहने से क्या होता है ? वह अब कहा जा रहा है—]

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

अन्वय—प्रशान्तमनसं शान्तरजसम् अकल्मषम् ब्रह्मभूतम् एनम् योगिनम् हि उत्तमम् सुखम् उपैति।

अनुवाद—जिस योगी का चित्त प्रशान्त हुआ है, जिसकी रजोवृत्ति शान्त हुई है, जो निष्पाप हुए हैं तथा जो ब्रह्मभूत हुए हैं (अर्थात् "सब ब्रह्म ही है" इस प्रकार निश्चय कर जीवन्मुक्त हुए हैं) ऐसे योगी को परम सुख आश्रय करता है (अर्थात् इस प्रकार योगी जीवन्मुक्त होकर उत्तम सुख का अर्थात् ब्रह्मानन्द (आत्मानन्द) का अनुभव करते हैं)।

भाष्यदीपिका—प्रशान्तमनसम्—आत्मा में स्थितिलाभ कर प्रशान्त (प्रकृष्ट रूप से शान्त) मन हुआ है जिनका (उनको) [योगाभ्यास के द्वारा आत्मा में स्थित मन वृत्तिशून्य होकर निरुद्ध होने से संस्कारमात्र शेष (शुद्ध-सत्त्वभावमात्र) रहता है। तब वह मन प्रशान्त होता है अर्थात् चित्त को वृत्तिशून्य कर जो निर्मनस्क (मन से रहित) अवस्था को प्राप्त होते हैं उन्हे 'प्रशान्तमनसम्' कहा जाता है। यह निर्मनस्कत्व कैसे होता है ? यह अब कहा जा रहा है—] शान्तरजसम्—मोहादि क्लेशरूप रजोगुण जिनका प्रकृष्ट रूप से (अच्छी प्रकार) क्षयप्राप्त हुआ है। [नित्य निरन्तर समाधि के अनुष्ठान द्वारा भौतिक (जागतिक) बाह्य विषयों का तथा मनोरथरूप आन्तरिक

विषयों का त्याग होने से रजोगुण शान्त होता है। यहाँ 'रजः' शब्द से उपलक्षण के द्वारा तमोगुण को भी समझा जा रहा है। इसलिये 'शान्तरजसम्' शब्द का अर्थ है—मन का विक्षेप तथा लय का कारणरूप रजः तथा तमोगुण उनके कार्यसहित (अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि संस्कार भी) सम्पूर्ण रूप से जिनके विनाशप्राप्त हुए हैं वे] अकल्मषम्—तथा अधर्मादि के वर्जित अर्थात् संसार के जन्म मृत्यु के हेतुस्वरूप धर्म-अधर्मरूप दोषों से रहित [कल्मष शब्द का अर्थ है दोष। धर्म-अधर्म या पाप-पुण्य जो ये सभी संसारवृक्ष का बीज हैं, अतः 'कल्मष' है। धर्म या पुण्य रहने से भी उसका फल-भोग करने के लिये जन्म लेना पड़ता है इसलिये आध्यात्मिक दृष्टि में धर्म भी 'कल्मष' ही है।] ब्रह्मभूतम्—जीवनमुक्त। 'ब्रह्म ही सब कुछ है' इस प्रकार निश्चय से अविद्याकृत परिच्छिन्न जीवभाव का परित्याग कर अपनी आत्मा (प्रत्यगात्मा) तथा परमात्मा की एकता का अनुभव कर जिन्होंने परमात्मा में ही स्थितिलाभ किया है उन्हें ब्रह्मभूत कहा जाता है। एनं योगिनम् उत्तमम् सुखम् उपैति हि—ऐसे ब्रह्मविद् यति को निरतिशय सुख आश्रय करता है। [जो किसी साधन की अपेक्षा नहीं करता है अर्थात् अप्रयत्नसिद्ध है उस अक्षय आत्मभूत (अर्थात् केवल आत्मस्वरूप में स्थित होकर ही जिसे जान सकते हैं उस) अनुपम (निरतिशय) सुख (अर्थात् परमानन्द) स्वतः ही प्रशान्तमनाः शान्तरजः ब्रह्मभूत (ब्रह्मस्वरूप में स्थित) यति को आश्रय करता है अर्थात् वह सुख या परमानन्द यति को स्वतः ही प्राप्त होता है। यह प्रसिद्धि है कि सुषुप्ति में भी जब सभी इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि आत्मा में लय होती हैं तब विषयसुख से विलक्षण (तथा विषय-निरपेक्ष) एक अपूर्व सुख का आविर्भाव होता है, मनुष्य के निकट प्रसिद्धि है। 'एषोऽस्य परमानन्दः' (यह आत्मा का ही स्वरूपभूत परमानन्द है) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से भी इसे प्रमाणित करते हैं। इस प्रसिद्धि को सूचित करने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्वश्लोक में कहे गये प्रत्याहार के द्वारा जो पुनः-पुनः मन को वशीभूत करते हैं ऐसे यति के रजोगुण क्षय प्राप्त होने पर योगसुख प्राप्त होता है, यह कहते हैं—] (एवम्) शान्तरजसं प्रशान्त-मनसम्–पूर्वोक्त प्रकार से (पूर्वश्लोक में जिस प्रकार कहा गया है) जिनका रजोगुण शान्त हुआ है, अतः जिनका मन भी प्रशान्त हुआ है अकल्मषं ब्रह्मभूतम् एनम्—[अतः जिनके सभी पाप निवृत्त हुए हैं] उन निष्पाप

ब्रह्मभावप्राप्त योगी को **उत्तमं सुखम् उपैति**—उत्तम समाधि-सुख (निर्विकल्प समाधि से स्वभावतः जो उत्तम सुख अर्थात् परमानन्द प्रकट होता है वह सुख) स्वयं ही प्राप्त होता है।

(२) **शंकरानन्द**—पुनः पुनः जिस-जिस विषय की ओर मन धावित होता है उस उस विषय का दोष दर्शन कर विषय-समूह से मन का आकर्षण कर (निवृत्त कर) आत्मा में ही स्थापन करके अत्यन्त श्रद्धा के साथ चिरकाल (दीर्घ काल) तक नित्य निरन्तर चित् प्रत्यय की ही ('सब चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म ही है') इसप्रकार ब्रह्माकारावृत्ति की आवृत्ति या अभ्यास को ही) जो योगी निरन्तर किया करते हैं उस यति की बाह्य वासनाओं का तथा उन वासनाओं के प्रत्ययों (वृत्तियों) का भी सम्पूर्णरूप से (निःशेष) क्षय होने पर जब मन ब्रह्म में ही प्रशान्ति लाभ करता है तब अनुत्तम ब्रह्मसुख का आविर्भाव होता है—यही अब कह रहें हैं—

शान्तरजसम्—नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठा के द्वारा शान्त (विनष्ट) हुआ है रजोगुण जिनका उन्हें। रजः शब्द के द्वारा तमोगुण का भी (उप-लक्षण के द्वारा) ग्रहण किया गया है। अतः रजोगुण तथा तमोगुण (एवं उन सब के कार्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ममकार इत्यादि भी) जिनका नष्ट हुआ है वे 'शान्तरजाः' हैं। उन्हें अर्थात् केवल शुद्ध-सत्त्व-स्वभाव-सम्पन्न पुरुष को। अतः **अकल्मषम्**—राजसी तथा तामसी भेदवासना जब सत्त्व से मिश्रीभूत भौतिक वस्तु को विषय करती है तब वह भेद-वासना ही अन्तःकरण का कल्मष (दोष) होता है। इस प्रकार भेद-वासना जिनके चित्त में नहीं रहती है (अर्थात् जो सभी प्रकार वासनाओं से रहित हैं) उन अकल्मष पुरुष को। **प्रशान्तमनसम्**—(अतः उन प्रशान्त चित्त पुरुष को) विक्षेप तथा विपरीत भावना के हेतु रजोगुण तथा तमोगुण का तथा उन दोनों के कार्य का सम्पूर्ण रूप से विनाश होने से योगी का चित्त वृत्तिशून्य होता है। इस कारण से उनका चित्त विषयाकारता को प्राप्त न होने के कारण प्रकृष्ट रूप से (सम्पूर्ण रूप से) शान्त हो जाता है। ऐसे यति को 'प्रशान्तमनाः' कहा जाता है। इस प्रकार होते हुए **ब्रह्मभूतम्**—'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार की भावना के द्वारा औपाधिक परिच्छिन्नता का त्याग कर ये योगी पूर्ण ब्रह्म में अर्थात् आत्म स्वरूप में ही स्थित रहने के कारण वे ब्रह्मभूत होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मविद् यति को **अनुत्तमं सुखम्**—जिस सुख से बढ़कर उत्तम और कुछ नहीं है, वही अनुत्तम है अर्थात् अनुपम (अतुलनीय) सुख अर्थात् नित्य, निरतिशय, साधन-निरपेक्ष,

अयत्नसिद्ध (अनायास प्राप्त), अक्षय, आत्मभूत, आत्मैकवेद्य (केवल आत्मा के द्वारा ही जाना जा सकता है ऐसा) ब्रह्मसुख उपैति—प्राप्त होता है हि—साधननिरपेक्ष (तथा विषय-निरपेक्ष) अपार सुख का आविर्भाव सुषुप्ति में सभी को प्रत्यक्ष होता है (अतः समाधिनिष्ठ "जाग्रत् सुषुप्ति" की अवस्थाप्राप्त यति को अपार सुख प्राप्त होगा उसमें फिर संशय कैसे रह सकता है ?) 'एषोऽस्य परमानन्दः' (यह उनका परमानन्द है) इत्यादि श्रुतियों से भी अनुत्तम सुख की (परमानन्द की) प्रसिद्धि है। इस प्रसिद्धि का प्रकाश करने के लिए 'हि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्वश्लोक की टीका में कहा गया है कि लय तथा विक्षेपशून्य योगी समाधिसुख का आस्वादन करते रहने पर उनका चित्त सर्ववृत्तिशून्य होकर प्रशान्त होता है अर्थात् आत्मा में अचल स्थिति प्राप्त होती है। कैसे समझा जाएगा कि योगी प्रशान्तमनाः हुए हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि जब वे शान्तरजः तथा अकल्मष होते हैं तब वे प्रशान्तमनाः हुए हैं ऐसा समझना पड़ेगा। शान्तरजः तथा अकल्मष शब्द का अर्थ यह है—चित्त के विक्षेपकारक रजोगुण तथा लय के हेतुरूप तमोगुण का अभाव होने से चित्त की उस अवस्था को 'शान्तरजः' कहा जाता है। यह अवस्था तभी सम्भव होती है जब द्वैतवस्तुमात्र ही मिथ्या है इस प्रकार निश्चय होता है। इस प्रकार निश्चय होने से ही विषय के प्रति वैराग्य होता है तथा देहात्मबुद्धि भी नष्ट हो जाती है। अतः तब वे 'अकल्मष' होते हैं (सर्वदोषरहित होते हैं) क्योंकि संसार के हेतुस्वरूप धर्म-धर्मादि के प्रति भी तब उनकी कोई आसक्ति नहीं रहती। वे जानते हैं कि धर्म या अधर्म सभी अज्ञान के द्वारा कल्पित हैं, आत्मा में धर्म भी नहीं है अधर्म भी नहीं है। फिर धर्म ही हो और अधर्म ही हो सभी के फलरूप से संसारगति को ही प्राप्त होना पड़ेगा। अतः ये दोनो ही दोषयुक्त होने के कारण उन्हें योगी त्यागकर सर्वप्रकार कल्मष से रहित होते हैं। शान्तरजः, अकल्मष तथा प्रशान्तमनाः होकर योगी ब्रह्मभूत होते हैं अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता को साक्षात् अनुभव कर एवं 'सब कुछ ब्रह्म या आत्मा ही है' ऐसा निश्चय कर अपने स्वरूप ब्रह्मानन्द में ही स्थित रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त योगी ही स्वरूपस्थित उत्तम सुख अर्थात् परमानन्द को प्राप्त होते हैं दूसरे नहीं—यही कहने का अभिप्राय है। मन को आत्मसंस्थ करने से क्या अनुत्तम (सर्वश्रेष्ठ) फल प्राप्त होता है ? यह यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है।

[पूर्व श्लोक में उक्त विषय अब स्पष्ट किया जा रहा है ।]

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

अन्वय—एवं योगी आत्मानम् सदा युञ्जन् विगतकल्मषः सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखम् अश्नुते ।

अनुवाद— इस प्रकार सदा मन को आत्मा में समाहित रखने के फलरूप से योगी पूर्ण रूप से पापरहित होते हैं तथा अनायास ही ब्रह्मानुभव-जनित निरतिशय सुख को प्राप्त होते हैं ।

भाष्यदीपिका—**एवम्**—पहले जो क्रम कहा गया है उस क्रम से **योगी**—लय, विक्षेप इत्यादि योगविषयक विघ्नों से रहित होकर जो आत्मनिष्ठ हुए हैं इस प्रकार योगी **आत्मानं सदा युञ्जन्**—मन को परमात्मा में निरन्तर युक्त या समाहित करते हुए [निरन्तर चिदानन्दैकरस परिपूर्ण अद्वितीय परमात्मा या परब्रह्म का चिन्तन कर अर्थात् 'सर्व दृश्य वस्तु तथा मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अखंड वृत्ति के द्वारा सर्वत्र परब्रह्म के साथ युक्त रहकर] **विगतकल्मषः**—पापमुक्त होकर [संसार के हेतु धर्माधर्म (पुण्य पाप) इत्यादि द्वैतबुद्धि (भेद-दर्शन) जिनकी नष्ट हुई है वही यथार्थ रूप से निष्पाप है क्योंकि द्वैतबुद्धि ही सर्व पाप का मूल है । इसीलिये श्रुति में कहा गया है "द्वितीयाद् वै भयम्" अर्थात् जब तक द्वैतबुद्धि रहेगी तब तक भय भी रहेगा । इस प्रकार रागद्वेषादि के हेतुभूत द्वैतबुद्धिरूप पाप से मुक्त होकर] **सुखेन**—अनायास ही [योग के अन्तराय (विघ्न) पातञ्जलयोगशास्त्र में इस प्रकार कहा गया है:—व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वा-नवस्थितत्त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्व-श्वासप्रश्वास-विक्षेपसहभुवः (पा० १।३०-३१) अर्थात् व्याधि = वायु पित्त कफ की, अन्न-रस की तथा इन्द्रिय-समूह की विषमता, **स्त्यान**—चित्त कर्म करने में इच्छुक होने पर भी कर्म करने की अयोग्यता, **संशय**—शंका, **प्रमाद**—योगाङ्ग के अनुष्ठान में एकाग्रता का अभाव, **आलस्य**—चित्त के गुरुत्व हेतु अप्रवृत्ति, **अविरति**—विषयतृष्णा, **भ्रान्तिदर्शन**—विपरीत ज्ञान (जो है उसे न देखकर अन्य वस्तु का दर्शन), **अलब्धभूमिकत्व**—समाधिभूमि की प्राप्ति में असामर्थ्य, **अनवस्थित्व**—भूमि-लाभ होने पर भी चित्त की अस्थिरता, चित्त पूर्वभूमि में स्थित रहने से ही उत्तरभूमि जय कर सकता है, इसलिए प्राप्त हुई भूमि में अस्थिरता एक महान् दोष है । ये सब चित्त के विक्षेप का

कारण होकर योग के अन्तराय (विघ्न) होते हैं। ये केवल योग के नाशक होते हैं, वैसी बात नहीं, ये दुःख आदि का भी उत्पादन करते हैं। दुःख—आध्यात्मिक दुःख (शारीरिक व्याधि तथा मानसिक कामादि), आधिभौतिक दुःख (व्याघ्र इत्यादि जीवों से उत्पन्न दुःख), आधिदैविक दुःख (ग्रहपीड़ादि से उत्पन्न दुःख), **दौर्मनस्यम्**—इच्छापूर्ति में बाधाएँ आ जाने पर मन में जो क्षोभ (उद्वेग) उत्पन्न होता है वह, **अंगमेजयत्व**—अंगसमूह का कम्पन या चञ्चलता, **श्वास**—इच्छा न रहने पर भी प्राण जो वायु को शरीर के अन्दर प्रवेश करवाता है वह श्वास है। यह रेचक नामक समाधि अंग का विरोधी है, **प्रश्वास**—प्राणी की इच्छा न रहने पर भी कोष्ठ में स्थित वायु के बहिर्गमन को प्रश्वास कहते हैं। यह पूरक नामक समाधि-अंग का विरोधी है। ये सभी चित्त के विक्षेप के साथ ही उत्पन्न होते हैं (सहभुवः) अर्थात् ये विक्षेप प्राणीमात्र को ही होते हैं इन सब विघ्नों का नाश होने पर सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही। **ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तम् सुखम् अश्नुते**—जिसका परब्रह्म के साथ संस्पर्श (सम्बन्ध) है तथा जो अत्यन्त है [अतिक्रम्य अन्त अर्थात् जिसका अन्त नहीं है अर्थात् जो अनन्त है] इस प्रकार (निरतिशय उत्कृष्ट) सुखको प्राप्त होते हैं। समाधि के अभ्यास के द्वारा विषय-संस्पर्श से सम्पूर्ण रूप से रहित होकर ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त कर योगी स्वरूप में स्थित रहते हैं तब उस अवस्था को 'ब्रह्मसंस्पर्श' कहा जाता है। यह ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त होने पर [अर्थात् विषय-संस्पर्शरहित होकर ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होने पर (मधुसूदन)] अन्तरहित, अपार (निरतिशय), अक्षय, नित्य, शाश्वत, ब्रह्मसुख या परमानन्द लय तथा विक्षेपशून्य निर्वृत्तिक (वृत्तिहीन) चित्त को व्याप्त करता है [अश्नुते] अर्थात् योगी जीवितावस्था में ही मुक्त होकर जीवन्मुक्ति के पूर्ण आनन्द में निमग्न रहते हैं। २५वे श्लोक में कहा गया है—"न किंचिदपि चिन्तयेत्" उस सर्वचिन्तारहित अवस्था में योगी को क्या अनुभव होता है ? वही यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्वश्लोक में कही गई अवस्था की प्राप्ति के बाद योगी कृतार्थ हो जाते हैं, यह अब कहते हैं—] **एवम्**—इस प्रकार से **सदा**—निरन्तर **आत्मानं युञ्जन्**—आत्मा अर्थात् मन को वशीभूत कर **विगत-कल्मषः**—विशेष रूप से सर्वप्रकार के पापों से मुक्त होकर योगी **सुखेन**—योगी सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही **ब्रह्मसंस्पर्शम्**—ब्रह्म के संस्पर्श (अर्थात् जिसके द्वारा अविद्या निर्वृत्त होती है वह ब्रह्मसाक्षात्कार) तथा ब्रह्म के

स्वरूपभूतम् अत्यन्तसुखम्—अत्यन्त (सर्वोत्तम) सुख को अश्नुते—प्राप्त होते हैं (भोग करते हैं) अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

(२) शंकरानन्द—योग के अनुष्ठान द्वारा ही यति (कृतार्थ होते हैं अर्थात् सदा अक्षय) ब्रह्मसुख को प्राप्त होते हैं—कभी भी दुःख का लेशमात्र भी प्राप्त नहीं होता है, इसलिए पहले कहे गये योगज (योग से उत्पन्न) सुख की प्राप्ति की प्रशंसा करते हैं। अतः मुमुक्षु को मुक्ति के सुख की सिद्धि के लिए योगानुष्ठान अवश्य कर्तव्य है, यह सूचित करने के लिए कह रहे हैं—

योगी सदा आत्मानम् एवं युञ्जन्—इस प्रकार योगी सदा आत्मा का अनुसन्धान करते हुए। 'सभी दृश्य वस्तु मिथ्या हैं' इस प्रकार दृश्यवस्तुओं में मिथ्यात्व का दृढ़ निश्चय कर सर्वत्र काम, संकल्प का परित्याग कर तथा सभी इन्द्रियों का निग्रह कर बहिरंग तथा अन्तरंग साधनसम्पन्न होकर योगी (अर्थात् समाधिनिष्ठा में प्रवृत्त यति) शास्त्र तथा लक्षण के अनुसार सदा आत्मा का अर्थात् चिदानन्दैकरस परिपूर्ण अद्वितीय परब्रह्म का अनुसन्धान करते हुए अर्थात् ये सब तथा मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अखंडवृत्ति के द्वारा सबको ब्रह्ममात्ररूप से देखते हुए **विगतकल्मशः**—विशेषरूप से विगत अर्थात् सम्पूर्णरूप से नष्ट हुआ है कल्मष (वासनाकृत भेददर्शन) जिनका वे विगतकल्मष हैं। इस प्रकार होकर **सुखेन**—सुख के साथ अर्थात् प्रयत्न के विना सिद्ध (अनायाससिद्ध—साधन निरपेक्ष) **ब्रह्मसंस्पर्शम्**—'ब्रह्मणा ब्रह्मात्मना संस्पृश्यते अवगम्यते इति 'ब्रह्मसंस्पर्शम्' अर्थात् ब्रह्म (ब्रह्मस्वरूप आत्मा) जो जाना जाता है उसे 'ब्रह्मसंस्पर्श' कहा जाता है अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न चिदेकरसस्वरूप। अथवा जिसके द्वारा स्पर्श अर्थात् ग्रहण किया जाता है वह संस्पर्श है अर्थात् स्वरूप। ब्रह्म ही संस्पर्श (स्वरूप) है जिसका उस अर्थात् ब्रह्मात्मक (ब्रह्मस्वरूप में स्थित) **अत्यन्तं सुखम्**—अन्त का (परिमाण का) अतिक्रमण कर जो रहता है वह अत्यन्त (अर्थात् अपार, अक्षय, नित्य, शाश्वत ब्रह्मरूप) सुख को **अश्नुते**—भोग करते हैं अर्थात् जीवितावस्था में ही मुक्त होकर मुक्तिसुख का अनुभव करते रहते हैं।

(३) **नारायणी टीका**—ईश्वर में सर्वकर्मों को अर्पण करने से "सुखेन" अर्थात् अनायास ही योग के पथ के सभी अन्तराय (बाधाओं) से योगी मुक्त हो सकते हैं। पातञ्जल योगशास्त्र में भी ऐसा ही कहा गया है—"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" (पा० यो० १।२९) [ईश्वर का नाम-जप (प्रणवजप), ईश्वर का ध्यान तथा उनमें सर्वकर्म समर्पणरूप प्रणिधान

करने से प्रत्यक् चेतन का अधिगम (साक्षात्कार) होता है। प्रत्यक् चेतन को प्रकृति अर्थात् देहेन्द्रियादि से पृथक् कर अधिगत होना सम्भव है अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा का (ब्रह्म का) संस्पर्श (साक्षात्कार) प्राप्त करना सम्भव है तथा व्याधिस्तान इत्यादि जो योग-पथ के अन्तराय के विषय में कहे गये हैं (पा० यो० १।३०-३१) वे सभी दूरीभूत हो जाते हैं। इन अन्तराय समूह का अभाव तथा 'विगतकल्मषः' (पापमुक्त) होना एक ही बात है। सभी प्रकार से (सदा) आत्मस्वरूप भगवान् के साथ युक्त रहने से योगी इस प्रकार विगतकल्मष होकर ब्रह्मसंस्पर्शजनित अत्यन्त सुख (अर्थात् आत्मा का स्वरूपभूत परमानन्द) को प्राप्त होते हैं, यही श्लोक में कहने का अभिप्राय है। अन्तराय समूह के अभाव के लिये और अनेक उपाय शास्त्र में कहे गये हैं जैसे "तत् प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" (पा० यो० १।३२) अर्थात् अन्तराय समूह के प्रतिषेध के लिये किसी एक अभीष्ट विषय में मन को स्थिर रखने का अभ्यास करना चाहिये। अथवा "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" (पा० यो०१।३३) अर्थात् सुखी जीव में मैत्रीभाव, दुःखी जीव में करुणा, पुण्यवान् को देखकर मुदिता (हर्ष या आनन्द) तथा अपुण्य अर्थात् पापासक्त व्यक्ति के प्रति उपेक्षा का (उदासीन रहने का) अभ्यास करने से चित्त में प्रसन्नता होती है अर्थात् उस प्रकार भावना करते-करते योगी के हृदय में शुक्लधर्म का उदय होता है तथा उस कारण से चित्त अन्तरायरहित तथा विगतकल्मष (रागद्वेषादिमलविहीन) होकर प्रसन्न होकर आत्मा में एकाग्रता प्राप्त करने के योग्य होता है। फिर आसन प्राणायामादि अष्टांग योग से भी अन्तराय समूह का अभाव हो सकता है। परन्तु इन सबों में से ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा ईश्वर की कृपा से जो लोग अन्तरायसमूह से मुक्त हो सकते हैं उन लोगों के लिये आत्मा का स्वरूपगत अत्यन्त सुख (अर्थात् परमानन्द) की प्राप्ति अनायास ही होती है—यही 'सुखेन' शब्द के द्वारा भगवान् ने यहाँ सूचित किया।

[पूर्वश्लोक में उक्त योग का फल है ब्रह्मैकत्वदर्शन (तथा परमानन्दप्राप्ति) जिससे सर्वसंसार का विच्छेद (अर्थात् सर्व दुःखों की निवृत्ति) होता है, वह अब दिखलाया जाता है—]

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

अन्वय—सर्वत्र समदर्शनः योगयुक्तात्मा आत्मानम् सर्वभूतस्थम् ईक्षते (तथा) सर्वभूतानि च आत्मनि (ईक्षते)।

अनुवाद—समाहितचेता योगी सर्व वस्तुओं में समदृष्टि सम्पन्न होकर आत्मा को सर्वभूतों में तथा आत्मा में सर्वभूतों को प्रतिष्ठित देखते हैं।

भाष्यदीपिका—सर्वत्र समदर्शनः—जीव को 'मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ' यह ज्ञान होने से अर्थात् जीवात्मा के साथ परमात्मा (ब्रह्म की) की एकता का ज्ञान होने से ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक विषम (पृथक्-पृथक्) भूतसमूहों को (प्राणियों को) भी सम निर्विशेष आत्मस्वरूप ब्रह्म में एकता प्राप्त हुए देखते हैं अर्थात् सर्वत्र 'समदर्शन' होता है। [जीव तथा जगत् ब्रह्मरूप अधिष्ठान में कल्पित हैं, अतः मिथ्या है; इसलिए अधिष्ठान सत्ता (ब्रह्म या आत्मा) के अतिरिक्त उन दोनों की अन्य कोई पृथक् सत्ता नहीं है—ऐसा निश्चय होने से सर्व वस्तुओं में निर्विशेष (सर्वोपाधिरहित) चिन्मात्र ब्रह्म को ही परिपक्व योगी दर्शन (साक्षात् अनुभव) करते रहते हैं। यही 'समदर्शन' शब्द का तात्पर्य है।] योगयुक्तात्मा—इस प्रकार योग के द्वारा सदा ही जिनकी आत्मा (अन्तःकरण) युक्त अर्थात् समाहित है वे 'योग युक्तात्मा' हैं। [परमात्मा के साथ जीवात्मा का संयोग (मिलन) जिसके द्वारा साधित होता है उसे योग कहा जाता है। इस प्रकार योग से युक्त अर्थात् समाहित (सदा स्थित) आत्मा अर्थात् अन्तःकरण जिनका है, वे "योगयुक्तात्मा" हैं।] इस प्रकार समदर्शी योगयुक्तात्मा यति आत्मानं सर्वभूतस्थम् ईक्षते—अपनी आत्मा को सर्व भूतों में स्थित अर्थात् सर्वभूत की आत्मा के रूप में दर्शन करते हैं। [योगसाधनशील पुरुष की समाधि परिपक्व होने से पहले वे अपनी आत्मा को सर्वात्मरूप से (सर्वभूत की आत्मा के रूप से) अनुभव करते हैं परन्तु अन्त में 'सर्व' का अस्तित्व नहीं रहता है—केवल आत्मा ही भासमान रहती है। बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक में सुरेश्वराचार्य ने भी इन दो अवस्थाओं के विषय में उल्लेख किया है :—

"सोपाधिनिरुपाधिश्च द्वेधा ब्रह्मविदुच्यते। सोपाधिकः स्यात् सर्वात्मा निरुपाख्योऽनुपाधिकः" अर्थात् ब्रह्मविद् पुरुष दो प्रकार के होते हैं :—(क) सोपाधिक ब्रह्मविद्—जो सर्वप्रपंच को अपनी आत्मा के रूप से जानते हैं तथा (ख) निरुपाधिक ब्रह्मविद्—जिनकी दृष्टि में जगत् या अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता है तथा जो केवल आत्मा का ही निरन्तर दर्शन करते हैं। ब्रह्मविद् को सोपाधिक आत्मानुभूति सम्प्रज्ञात समाधि में तथा निरुपाधिक (निर्विशेष) आत्मानुभूति निर्विकल्प समाधि में होती है। जगत् की सभी वस्तुओं के नाम, रूप तथा क्रिया कल्पित हैं अतः अधिष्ठान सत्ता

के अतिरिक्त उन सबकी अन्य कोई पृथक् सत्ता नहीं हैं। हार, वलय तथा कंगन के पृथक्-पृथक् नाम, रूप तथा क्रिया के दर्शन होते हुए भी बुद्धिमान् व्यक्ति जिस प्रकार उन सबको स्वर्ण के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं देखते हैं अथवा घट, शराव, सुराही इत्यादि के कण-कण में मिट्टी के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं देखते हैं अथवा तरंग, फेन, बुलबुलों में जल के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं देखते हैं, उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार होकर समदर्शन होने से सर्वभूतों में आत्मा की सत्ता का ही अनुभव करते हैं क्योंकि ये योगनिष्ठ ज्ञानी दृश्यरूप से भासमान बाह्य नाम तथा रूप को वाक्य का विलासमात्र ही जानते हैं (वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्—छान्दोग्योपनिषद्)] अतः सर्वभूतानि च आत्मनि ईक्षते—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक सर्व भूत को भी (स्थावर जंगम सभी वस्तुओं को भी) आत्मा में ही एकत्वप्राप्त देखते हैं अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं देखते हैं। रज्जु का जब अल्प अन्धकार में ठीक-ठीक ग्रहण नहीं किया जाता है तब सर्प, दण्ड, जल की धारा इत्यादि के रूप से रज्जु प्रतीत होती रहती है अर्थात् रज्जु में विभिन्न प्रकार का भ्रान्तिदर्शन होता है। वस्तुतः इन सबका प्रत्येक अङ्ग अर्थात् प्रति अणु-परमाणु रज्जु के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ये सब रज्जु में ही कल्पना के द्वारा अध्यस्त होते हैं, अतः मिथ्या हैं। रज्जु इन सबका अधिष्ठान है तथा वही सत्य वस्तु है। उसी प्रकार अज्ञानवश नित्य सत्य आत्मा में जो जगत् प्रपञ्च कल्पित होता है वह भी आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। निर्विकल्प समाधि के द्वारा जब अप्रतिबद्ध अद्वैत आत्मज्ञान प्राप्त होता है तब वह ब्रह्मविद् पुरुष जगत् की कोई पृथक् सत्ता नहीं देखते हैं—आधार (अधिष्ठान) आधेय (अध्यस्त) दोनों तब एक हो जाते हैं, तब नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एक अद्वितीय, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, परमानन्दस्वरूप आत्मा का ही दर्शन होता रहता है। यही उपनिषद् की "भूमा" है (छा० उ०)—उनकी साक्षात् अनुभूति होने से ही जीवन का परम पुरुषार्थ सिद्ध होता है।

टिप्पणी (१)—मधुसूदन सरस्वती—मधुसूदन सरस्वती कहते हैं 'योगयुक्तात्मा' तथा 'सर्वत्र समदर्शनः' इन दोनों को स्वतन्त्र तथा पृथक् करके भी श्लोक का अर्थ किया जा सकता है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि योगी तथा समदर्शी उभय प्रकार के व्यक्ति ही आत्मसाक्षात्कार के अधिकारी हैं। क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग जिस प्रकार आत्मसाक्षात्कार का उपाय है उसी प्रकार विवेक ज्ञान भी अर्थात् जड़दृश्य से सर्वत्र अनुगत द्रष्टा का

(आत्मा का) विवेक (पृथक्करण) भी आत्मसाक्षात्कार का अन्य स्वतंत्र उपाय है। इस विवेक ज्ञान के लिये निर्विकल्प समाधिरूप योग की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं है। इसलिये वशिष्ठदेव ने कहा—"द्वौ क्रमौ चित्त-नाशस्य योगो ज्ञानं च राघव, योगो वृत्तिनिरोधश्च ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्। असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचित् तत्त्वनिश्चयः। प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः" अर्थात् हे रघुनन्दन ! चित्तनाश के दो मार्ग हैं—योग तथा ज्ञान। उनमें चित्तवृत्तिनिरोध का नाम योग है तथा आत्मा एवं अनात्मा के विवेक से जो सम्यक् अवेक्षण (दर्शन) होता है अर्थात् स्वरूप का साक्षात्कार होता है वही ज्ञान है। किसी के लिये योग असाध्य है, और किसी के लिये तत्त्व का निश्चय करना असाध्य होता है। इसी से परम शिव दो उपाय का निर्देश किया है। चित्तनाश का अर्थात् साक्षी चैतन्य से उसके उपाधिभूत चित्त को पृथक् करने से चित्त का नाश (अदर्शन) होता है। वह दो उपायों के द्वारा सम्पादित होता है। उनमें एक है सर्वचित्तवृत्तिनिरोध-रूप योग अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि में अन्तःकरण आत्मा के साथ एकाकार हो जाता है तथा साक्षी उस आत्मैकारावृत्तिप्रवाहयुक्त अन्तःकरण-सत्त्व का अनुभव करता रहता है। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में सर्व वृत्तियों का निरोध होने से अन्तःकरण उपशान्त हो जाता है। उसी अवस्था में साक्षी चैतन्य उस अन्तःकरण सत्त्व का अनुभव नहीं करता है, इसलिये वह (असम्प्रज्ञात समाधि) चित्तनाश का एक उपाय है। चित्तनाश का दूसरा उपाय है आत्मवस्तु तथा अनात्मवस्तु के स्वरूप का ज्ञान। चित्-स्वरूप साक्षी में साध्य अर्थात् दृश्य जड़ पदार्थ समूह कल्पित हैं। कल्पित वस्तुओं की वास्तविक कोई सत्ता नहीं है। अतः दृश्य मात्र ही अनृत (मिथ्या) तथा सत्ताहीन है। केवल चित् स्वरूप साक्षी ही (आत्मा ही) एकमात्र परमार्थ सत्य वस्तु है—इस प्रकार विचार के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करने से चित्त का अदर्शन होता है अर्थात् चित्त का नाश होता है। वेदान्ती लोग द्वितीय उपाय का ही अनुवर्त्तन करते हैं। उन लोगों के मत के अनुसार अधिष्ठानरूप परमार्थ सद्वस्तु आत्मा के सम्बन्ध में ज्ञान दृढ़ होने से आत्मा में कल्पित चित्त तथा चित्त के दृश्य का (जड़ प्रपञ्च का) अदर्शन अनायास ही सम्भव होता है। इसलिये ज्ञानमार्ग के अधिकारी के लिये योग की आवश्यकता नहीं होती है। वे विचार के द्वारा ही चित्त के दोषों का निराकरण (नाश) करके स्वयं सिद्ध हो जाते हैं, अतः पूज्यपाद भगवान् शंकराचार्य ने कहीं भी ब्रह्मवेत्ताओं के लिये योग की आवश्यकता का प्रतिपादन नहीं किया।

इसलिये वे वेदान्तनिष्ठ परमहंस गुरु की शरण में जाकर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये वेदान्तवाक्यों के विचार में ही प्रवृत्त होते हैं—योग में नहीं।

(२) श्रीधर—[ब्रह्मसाक्षात्कार किस प्रकार है, वही दिखा रहे हैं—] योगयुक्तात्मा—जो योगाभ्यास के द्वारा समाहित चित्त हुए हैं तथा समदर्शनः—सर्वत्र ब्रह्म को ही समभाव से दर्शन करते हैं ऐसे योगी आत्मानम्—अविद्याकृतदेहादिपरिच्छेदरहित (अर्थात् अज्ञानवश देहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि कर जो अभिमान कर रहे थे, उस अभिमान से शून्य) होकर अपने (शुद्धचैतन्यस्वरूप) आत्मा को सर्वभूतस्थम्—ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सर्वभूतों में अवस्थित पश्यति—देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं तथा सर्वभूतानि च आत्मनि ईक्षते—अपनी आत्मा में सर्वभूतों को अभिन्न रूप से देखते हैं।

(३) शंकरानन्द—योग का फल है ब्रह्म तथा आत्मा का अप्रतिबद्ध (अविच्छिन्न-अखंडित) एकत्वदर्शन तथा आत्मानन्द का अनुभव। उनका क्रम न बताकर उन दोनों में से एक को ही अर्थात् आत्मानन्दानुभूति को ही पूर्वश्लोक में दिखाया गया है। अब सम्पूर्ण संसार-दुःखों के निर्मूलन के कारणभूत दूसरे फल (अर्थात् आत्मैकत्वदर्शन) प्रतिपादित हो रहा है—

योगयुक्तात्मा—पुरुष को परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के साथ जो युक्त (मिलित) कर देता है वही योग है। इस प्रकार योग के द्वारा [अर्थात् अनेक जन्मकृत पुण्यराशि के परिपाक से उत्पन्न हुआ प्रत्यग् दर्शन (ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्वदर्शन) जिनके होने से किसी प्रतिबन्धक के बिना पुरुष मोक्ष-प्राप्त होते हैं इस प्रकार प्रत्यग्दर्शन रूप (आत्मैकत्वदर्शनरूप अथवा सम्यग्-दर्शनरूप) योग के द्वारा] युक्त (सम्पन्न) हुई है आत्मा (मन) जिनका वे 'योगयुक्तात्मा' हैं अर्थात् जिनका अन्तःकरण ब्रह्माकार से आकारित हुआ है वे योगयुक्तात्मा हैं। अतः वे सर्वत्र समदर्शनः—समदर्शी (समभावापन्न अर्थात् भेदग्रहण से रहित) हैं। चिरकाल के अभ्यास के फलस्वरूप सर्वत्र सम को अर्थात् सन्मात्र ब्रह्म का ही दर्शन (ग्रहण) करना जिनका शील (स्वभाव) है वे समदर्शन हैं। इस प्रकार समदर्शन ब्रह्मवित्तम स्वयं सर्वभूतस्थम्—जो होते हैं उन्हें 'भूत' कहा जाता है। अधिष्ठान के अग्रहणरूप दोष के कारण ब्रह्मरूप अधिष्ठान से पृथक् (अलग) सत्ता वाले के रूप से जो कुछ प्रतीत होता है (अर्थात् अव्याकृत आदि तथा ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त जो कुछ प्रतीत होता है) उन सब को भूत कहा जाता है। उन सब भूत में

स्थित अर्थात् ब्रह्माण्ड में सूर्य के समान, घर में दीपक के समान, घटादि में आकाश के समान, सर्वभूत में अविकारस्वरूप से जो स्थित रहते हैं वे 'सर्वभूतस्थम्' हैं। इस प्रकार आत्मानम्—आत्मा को। जैसे इस कार्यकरणसंघात में देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि के तथा उन सबके धर्म, कर्म तथा अवस्थाओं के साक्षी के रूप से तथा सर्वप्रकाशकरूप से सर्वअभिमान से रहित होकर अहं शब्द का अर्थ (शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप) में ही अवस्थान कर रहा हूँ उसी प्रकार (सबका 'अहं' ही सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म होने के कारण) सर्वभूतों में भी (अर्थात् भूतवर्ग, भूतवर्ग की अवस्था, उसका धर्म, उसका कर्म इत्यादि के भी) साक्षी के रूप से तथा प्रकाशक के रूप से अहं शब्द के अर्थ में ही (अविकारी चैतन्यस्वरूप आत्मा ही) एकरूप से स्थित हूँ, इस प्रकार सर्वत्र अपने अस्तित्व के अनुभव के द्वारा अर्थात् वैसी स्थिति के अनुभवकारी के रूप से भी अपना सद्भाव (विद्यमानता) का सर्वप्रकार से विशेष रूप से निश्चय करके सर्वभूतों में प्रत्यग् रूप से वर्तमान आत्मा को (अर्थात् एकमात्र अपने को ही) सम्यग् रूप से (भलीभाँति) अनुभव करते हैं। इस प्रकार सर्वभूतों में आत्मा का एकत्व विशेषरूप से जानकर निर्विकल्प समाधिनिष्ठा के द्वारा अधिष्ठानसत्ता का यथार्थ विज्ञान प्राप्त होता है। उसके बल से आत्मनि—परिपूर्ण सच्चिदानन्द, एकरस, निर्विकल्प, निराकार, निर्विशेष आत्मा में अर्थात् अपने स्वरूप में सर्वभूतानि—सभी भूतों को अर्थात् अव्याकृत से आरम्भ कर स्थूल तक कार्यसहित सभी भूतों को ईक्षते—आत्समात्र ही (सब कुछ एकमात्र आत्मा ही है इस प्रकार) दर्शन करते हैं। जिस प्रकार अधिष्ठान के विवेक-विज्ञान के द्वारा घट शराव इत्यादि को मृत्तिकामात्र (मिट्टी), जिस प्रकार (मरीचिका की भ्रान्ति में) जलतरंग, फेन, बुलबुले आदि को मरुभूमि मात्र, जिस प्रकार (रज्जु-सर्प की भ्रान्ति में) सर्प का सिर, वक्ष (छाती), पूँछ आदि को रस्सीमात्र ही विवेकी पुरुष देखते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मविद् तथा योग के अनुष्ठान से उत्पन्न हुए अप्रतिबद्ध अद्वैतात्मविज्ञान के बल से (ब्रह्मरूप) अधिष्ठान के अज्ञान से प्रतीत होने वाले सर्वभूतों को आत्ममात्र ही देखते हैं अर्थात् 'मैं ही यह सब हूँ' इस प्रकार सभी को आत्म-रूप से ही साक्षात् अनुभव करते हैं—अपने से पृथक् (अलग) उनकी सत्ता नहीं देखते हैं। इस प्रकार आधार तथा आधेय उभय रूप से ही प्रतीत होता है जो अपनी आत्मा, उस आत्मा को अर्थात् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, एक ही अद्वितीय, निष्फल (अंशशून्य), निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, अपार सुख (परमानन्द) स्वरूप तथा सर्वसंसार दुःखों से निर्मुक्त आत्मा को देखते हैं

अतः यह दर्शन ही मुक्ति का परम कारण है, ऐसा सूचित होता है। योग, सांख्य, कर्म, स्तोत्र, मंत्र, जपादि मुक्ति का कारण नहीं हैं। श्रुति ने भी ऐसा ही कहा है—',सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन् ब्रह्म परमं याति नाऽन्येन हेतुना ॥' (सर्वभूतों में आत्मा को तथा आत्मा में सर्वभूतों को सम्यक् रूप से देखकर परब्रह्म को प्राप्त होते हैं—अन्य उपाय के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है)। इससे यह सिद्ध होता है कि संसारसागर में डूबे हुए (निमग्न) आत्मा से उद्धरण के लिये विदेहकैवल्यार्थी मुमुक्षु को समाधि का अभ्यास अवश्य कर्तव्य है।

(४) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में कहा गया ब्रह्मसंपर्श प्राप्त करने से अर्थात् ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व दर्शन करने से क्या फल होता है ? वह अब कहा जा रहा है—

(क) योगयुक्तात्मा (समाहितचित्त) योगी ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त कर अपनी आत्मा को सर्वभूतों की आत्मा के रूप से देखते हैं। जैसे कार्यकरणसंघात रूप देह की आत्मा "मैं" (अहम्) हूँ, क्योंकि -"मैं ही" सभी देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा समस्त चित्तवृत्ति का साक्षी हूँ—जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति के साक्षी, बाल्यकाल से लेकर मृत्यु तक सभी अवस्थाओं के नित्य साक्षी, विकारशील समस्त गुणों के (सत्, रजः तथा तमः गुणों के) अविकारी साक्षी हूँ। "मैं" (आत्मा) सदा ही एक ही रूप से विद्यमान हूँ, इसलिये मैं सत् स्वरूप हूँ। "मैं सदा सर्व वस्तुओं का विज्ञाता तथा प्रकाशक हूँ, इसलिये मैं चित् स्वरूप हूँ। तथा यह "मैं" मेरा सबसे प्रिय है [श्रुति भी कहती है—प्रेयः—पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेय एतस्मात् सर्वस्मात् (बृ० उ०) अर्थात् यह आत्मा पुत्र से प्रिय, वित्त से भी प्रिय तथा पृथ्वी की सभी वस्तुओं से प्रिय है], इसलिये मैं आनन्दरूप भी हूँ। इससे सिद्ध होता है कि "मैं" सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी के "मैं" या आत्मा भी सच्चिदानन्दस्वरूप ही है। वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म भी सच्चिदानन्दस्वरूप है। इसलिये इस देह में स्थित आत्मा जिसको "मैं" · · · "मैं" कहता हूँ, वही सर्वभूत का भी "मैं" है तथा वही निर्विशेष सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म है—वही "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" (गीता २।२४) अर्थात् नित्य सर्वव्यापी, स्थिर, अचल तथा सनातन है— इस प्रकार जो एक ही आत्मा को सर्वभूतों में साक्षात् अनुभव करते हैं वे समदर्शन (समदर्शी) होते हैं।

(ख) फिर सर्वभूत (ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सर्वभूत) उन सच्चि-

दानन्दस्वरूप आत्मा में कल्पित होने के कारण निर्विकल्पसमाधि योग के द्वारा युक्त होने से (चित्त आत्मा में समाहित होने से) योगी (अर्थात् योगयुक्तात्मा योगी) प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है तथा सभी विश्व प्रपंच कल्पित तथा मिथ्या है। उस अवस्था में नामरूपात्मक प्रपंच उन सबकी अधिष्ठानरूप आत्मा में लय प्राप्त होता है। अतः तब वे योगी सर्वभूतों को आत्मा में ही समरूप से दर्शन करते हैं अर्थात् योगयुक्तात्मा (समाहितान्तःकरण) योगी सर्वत्र एकमात्र आत्मा को ही दर्शन (प्रत्यक्ष अनुभव) कर समदर्शी होते हैं।

[पूर्वश्लोक में कहे गये समदर्शन का (आत्मा के एकत्व दर्शन का) फल क्या होता है ? वह अब कहा जा रहा है—]

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

अन्वय—यः सर्वत्र माम् पश्यति, मयि च सर्वं पश्यति अहम् तस्य न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

अनुवाद—जो पुरुष मुझे (ईश्वर या वासुदेव रूपी मुझको) सर्वत्र स्थित देखते हैं और सम्पूर्ण जगत् को मुझ वासुदेव में देखते हैं, उनके लिए मैं कभी अदृश्य नहीं होता हूँ और वे भी मेरे लिए अदृश्य नहीं होते हैं। [अर्थात् वे मुझ से अतिरिक्त अन्य कोई अनात्म पदार्थों में तादात्म्याभिमान (आत्माभिमान) नहीं करते हैं।]

भाष्यदीपिका—यः—जो योगी सर्वत्र—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक सब भूतों में (वस्तुओं में) माम्—मुझे अर्थात् सभी के आत्मस्वरूप वासुदेव को (सर्वोपाधि विनिर्मुक्त सच्चिदानन्दघन शुद्धचैतन्यस्वरूप परब्रह्म को)। पश्यति—योग-साधन के द्वारा अपरोक्ष साक्षात् करते हैं अर्थात् अपनी आत्मा से अभिन्न रूप से देखते हैं। मयि च सर्वं पश्यति—सर्वात्मरूप मुझमें ही ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक सम्पूर्ण भूतवर्गों को देखते हैं अर्थात् सर्वप्रपंच माया के द्वारा मुझमें आरोपित (कल्पित) है अतः मिथ्या है, यह जानकर मुझसे अभिन्नरूप से जो योगी सभी वस्तुओं को देखते हैं (क्योंकि कल्पित या अध्यस्त वस्तु की सत्ता अधिष्ठान से पृथक् नहीं होती है)। [यह विश्व-प्रपञ्च सर्वव्यापी आकाश के समान सच्चिदानन्द परमात्मा में गंधर्व नगरी के समान वस्तुतः सत्ताहीन होने पर भी भ्रान्ति के कारण भासमान है। अतः परमात्मा

ही अविद्यावश जगत्रूप से दीख रहे हैं इसे जो समाधि-योग के द्वारा निश्चयरूप से जान गये तथा मिथ्या वस्तुओं का ग्रहण न कर सर्वत्र अनुस्यूत (व्याप्त) और सभी वस्तुओं के अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा को ही देखते हैं] अहं तस्य न प्रणश्यामि—परमात्मस्वरूप में (अथवा मैं ईश्वर) उन एकात्मदर्शी महात्मा से प्रनष्ट नहीं होता हूँ (अदृश्य नहीं होता हूँ) अर्थात् सदा ही उनके निकट साक्षात् अपरोक्ष रूप से वर्त्तमान रहता हूँ क्योंकि उनकी आत्मा तथा मेरी (परमेश्वर की) आत्मा एक हो जाती है। [समाधि के द्वारा प्रज्ञा (प्रकृष्ट ज्ञान) होने से फिर वह नष्ट नहीं होता है क्योंकि उस अवस्था में मूल अज्ञान का बीज नष्ट होने के कारण अज्ञान का पुनः उदय नहीं होता है। जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता का ज्ञान ही प्रज्ञा है। प्रज्ञा उत्पन्न होने से सदा ही ब्रह्माकारा-वृत्ति का प्रवाह चलता रहता है। इस प्रकार एकात्मदर्शी योगी आहारविहारादि सभी अवस्थाओं में, सदा सर्वत्र एक ही सच्चिदानन्दघन आत्मसत्ता का अनुभव कर ब्रह्मानन्द में मग्न रहते हैं। इसलिए उन योगी से परमात्मा कभी अदृश्य (विच्छिन्न या अलग) नहीं होते हैं।] स च मे न प्रणश्यति—ब्रह्मानन्द में मग्न वह योगी भी मुझसे अर्थात् वासुदेव से अदृश्य (परोक्ष) नहीं होते हैं, क्योंकि उनका तथा मेरा स्वरूप (आत्मा) एक ही है अपनी आत्मा तो स्वतः अत्यन्त प्रिय होती ही है अतः वे अपनी प्रियतम आत्मा से विच्छिन्न कैसे हो सकते हैं ? फिर जो सर्वात्मभाव से सर्वत्र एकता को देखने वाले हैं वे भी तो मैं ही हूँ अतः वे तथा मैं एकात्मक होने के कारण हम सदा ही परस्पर युक्त रहते हैं। [अतः सर्वत्र एकात्मत्व दर्शन के लिये सभी को प्रयत्न करना चाहिये, यही कहने का अभिप्राय है (आनन्दगिरि)।]

टिप्पणी (१)श्रीधर—[मैं सर्वभूतात्मा हूँ अतः समस्त प्राणियों के आत्मरूप से मेरी उपासना ही आत्मज्ञान की प्राप्ति का मुख्य कारण (उपाय) है—यह अब कह रहे हैं—] यः मां सर्वत्र पश्यति—जो परमेश्वररूपी मुझे सर्वत्र अर्थात् सर्व भूत (प्राणी) मात्र में ही देखते हैं सर्वं च मयि पश्यति—तथा मुझमें (परमेश्वर में) समस्त प्राणीमात्र को देखते हैं तस्य अहं न प्रणश्यामि—उनसे मैं अदृश्य (अप्रत्यक्ष) नहीं होता हूँ अर्थात् सदा ही उनके निकट मैं प्रत्यक्षीभूत रहता हूँ। स च मे न प्रणश्यति—और वे भी मेरे अदृश्य नहीं होते हैं अर्थात् मैं उनके प्रत्यक्ष होकर कृपादृष्टि से विलोकन कर (देखकर) उन पर अनुग्रह करता हूँ।

(२) शंकरानन्द—उक्त प्रकार से अपनी आत्मा का सर्वभूतस्थत्व, सर्व-

भूत का आधारत्व (अधिष्ठानत्व) जो ब्रह्मविद् दर्शन करते हैं (साक्षात् अनुभव करते हैं) उनको अपना (जीवात्मा का) तथा स्वरूप का (सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा का) एकत्व अनुभव होता है, यही समझाने के लिये भगवान् पहले अपने में ही सर्वभूतस्थत्व तथा सर्वभूताधिवासत्व पूर्वश्लोक में सूचित करते हुए जो ब्रह्मविद् यति ईश्वर के एवं अपने स्वरूप का एकत्व अप्रतिबद्ध (प्रतिबन्धक रहित अर्थात् अखंडित) वृत्ति के द्वारा दर्शन करते हैं उस ब्रह्मविद् का (अर्थात् उनके उस प्रकार के दर्शन का) क्या फल होता है ? वह अब कह रहे हैं—

यः—उक्त साधनसम्पत्ति युक्त जो योगारूढ़ ब्रह्मविद् यति **माम्**—सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्म मुझको **सर्वत्र**—ब्रह्मादि से लेकर स्तम्ब तक सर्व भूतों में **पश्यति**—प्रत्यगात्मस्वरूप से (अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मरूप से) स्थित देखते हैं। फिर **मयि**—उक्तलक्षण विशिष्ट मुझमें अर्थात् परब्रह्म में **सर्वम्**—अव्याकृत से लेकर स्थूल तक समस्त जगत् को **पश्यति**—देखते हैं अर्थात् आकाश में गंधर्व नगर के समान आभासमात्र सत्ताशून्य देखते हैं **तस्य**—इस प्रकार अपना तथा मेरा (परमात्मा का) सर्वभूतस्थत्व तथा सर्वभूताधारत्वरूप नियत (नियमित) लक्षण के द्वारा तथा श्रुति युक्ति के बल से मेरे तथा अपने स्वरूप का एकत्व जो ब्रह्मवित्तम यति देखते हैं उनके लिये **अहं न प्रणश्यामि**—मैं (सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्म) कभी प्रनष्ट नहीं होता हूँ अर्थात् अदर्शन प्राप्त नहीं होता हूँ उनकी वृत्तियों का अविषय नहीं होता हूँ परन्तु खड़े होते, चलते, बैठते अथवा सोते हुए अथवा चक्षुओं के पलक खोलते हुए, मींचते हुए तथा भोजन करते हुए अथवा इच्छा के अनुसार किसी भी अवस्था में रहते हुए (जैसे कि नेत्र के सम्मुख में रूप भासमान रहता है उसी प्रकार) उनकी बुद्धिवृत्ति को सदा सर्वत्र परमानन्द प्रदान करते हुए उस बुद्धिवृत्ति के विषय के रूप से विद्यमान रहता हूँ [कभी उनका अदर्शन प्राप्त नहीं होता है—यही कहने का अभिप्राय है।] शंका हो सकती है कि जिस प्रकार घट अपने द्रष्टा से भिन्न होकर ही उसका विषय होता है उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वयं भिन्न (पृथक्) होकर ही अपने द्रष्टा (दर्शन करने वाला) ब्रह्मविद् का विषय होता है ? ऐसा होने पर 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' (थोड़ा-सा भी जो भेद मानते हैं उनको भय होता है), इस श्रुति के अनुसार भेद-दृष्टियुक्ति सत् पुरुष का भी मोक्ष के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा इस कारण से भेददृष्टि का परिहार करने के लिये कह रहे हैं—**स च मे न प्रणश्यति**—वह ब्रह्मविद् पुरुष भी मेरा (अर्थात् मुझ चिदैकरस निर्विशेष ब्रह्म का) अदृश्य

नहीं होता है। अनात्मतादात्म्यापत्ति ही [अनात्म देहेन्द्रियादि में तादात्म्य अर्थात् एकत्व बोध की ('मैं', 'मेरे' बोध की) आपत्ति अर्थात् प्राप्ति ही] विद्वान् पुरुष का प्रणाश है। जिस प्रकार वैधर्म्य (धर्म की विपरीत अवस्था) की प्राप्ति पुरुष के नरकादिरूप अनर्थ का हेतु होता है उसी प्रकार अनात्म-तादात्म्यरूप विपरीत भाव की प्राप्ति ही ब्रह्मविद् के जन्मादि अनर्थ का हेतु होता है। इसलिये ब्रह्मविद् यति कभी अनात्म देहादि में आत्मभाव नहीं करते हैं। अतः जिस प्रकार अज्ञानी देवदत्त नाम का कोई पुरुष अपने देहादि में आत्मबुद्धि कर देहादि में ही स्थित रहते हैं उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी अपनी आत्मा के रूप से विषयीकृत निर्विशेष परब्रह्म में ही अहं-वृत्ति के द्वारा ('मैं ब्रह्म ही हूँ', इस प्रकार की वृत्ति के द्वारा) सदा स्थित रहते हैं—यही कहने का तात्पर्य है।

(३) नारायणी टीका—(क) मां सर्वत्र पश्यति इत्यादि—जीवात्मा तथा परमात्मा (ब्रह्म) एक ही है। जीव, देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण इत्यादि में अभिमानशून्य होने पर ही शुद्धचैतन्यस्वरूप में स्थित रहने की योग्यता प्राप्त होती है। यह शुद्धचैतन्यसत्ता ही उनका प्रकृत "मैं (अहं)" है, जिसे आत्मा कहा जाता है। ईश्वर भी सर्वप्रपंचरूप उपाधि से रहित होने से शुद्धचैतन्यसत्ता में ही स्थित होते हैं। इस शुद्धचैतन्यसत्ता को ही उपनिषद् में निर्विशेष ब्रह्म कहा गया है अतः जीव का वास्तविक स्वरूप तथा ब्रह्मस्वरूप एक ही है। इसलिये छान्दोग्य उपनिषद् में (छा० ७।२५।२) सर्वव्यापी ब्रह्म, आत्मा और अहं को एक करके दिखाया गया है तथा कहा गया है कि जो सर्वत्र इस प्रकार एक ही ब्रह्मस्वरूप आत्मा को देखते हैं वे स्वाराज्य प्राप्त होते हैं ('स्वः स्वराट् भवति) ऐसी। अवस्था में ब्रह्मविद् योगी को सर्व वस्तुओं में अपने "मैं" का अर्थात् आत्मा का दर्शन होता है तथा आत्मा में (अपने "मैं" में) सर्ववस्तुओं का दर्शन होता है। विश्व प्रपंच मायाशक्ति का विलास-मात्र है। एक अखंड अद्वय ब्रह्म को मायाशक्ति (कल्पनाशक्ति) ही जादूगर के समान नाना प्रकार से विभक्त कर जगद् रूप से दिखा रही है। अतः समस्त दृश्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता ब्रह्म या आत्मा या 'अहं' से पृथक नहीं है। योगी समाहित-चित्त होकर (निर्विकल्प समाधि से) ब्रह्म के साथ एकत्व का साक्षात् अनुभव कर समस्त विश्वप्रपंच को अपनी आत्मा में तथा अपनी आत्मा को समस्त भूतों में देखते हैं। यही 'पश्यति' शब्द का तात्पर्य है।

(ख) मयि सर्वं पश्यति—जगत् ब्रह्मशक्ति की (आत्मशक्ति के

व्यक्त अवस्था है और निर्विशेष ब्रह्म जगद् की अव्यक्तावस्था है। नानात्व तथा एकत्व (Becoming and being) उभय ही ब्रह्म है, यही पूर्णज्ञान है—यही मोक्ष है। इस कारण उपनिषद् में सत्ता की दृष्टि से कहा गया है—"एकमेवाद्वितीयम्" (एक अद्वितीय ब्रह्म ही है) 'नेह नानास्ति किञ्चन' (विभिन्न अर्थात् पृथक् पृथक् कोई वस्तु नहीं है)। पुःन लीला की दृष्टि से कहा गया है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—दृश्य के रूप से जो कुछ भी है वह सभी ब्रह्म है। चिदात्मा (ब्रह्म) [being सत्तामात्र] और चिद्‌विलास [becoming सत्ता का स्फुरण]—उभय एक ही है, जैसे समुद्र और समुद्र की तरंग में कोई भेद नहीं है। इसलिये परिपक्व योगी जब नित्य, शुद्ध, मुक्त, चित् स्वरूप में अवस्थान करते हैं तब सभी वस्तुओं को अपनी आत्मा में स्थित देखते हैं, पुनः जब (मायायुक्त होकर) लीला में रहते हैं तब सर्व वस्तुओं में अपनी आत्मा को ही विद्यमान देखते हैं।

(ग) **तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति**—सर्व वस्तुओं का नाश होने से भी किसी के "मैं" का नाश नहीं होता है अथवा अदृश्य नहीं होता है, इसलिये जीव का शुद्ध 'अहं' तथा परमात्मा का (ईश्वर) का शुद्ध 'अहं' एक ही सच्चिदानन्दस्वरूप होने के कारण दोनों परस्पर कभी विच्छिन्न (अलग) नहीं होते हैं। प्रणाश (प्रकृष्ट नाश) शब्द का अर्थ है अनात्म वस्तु के साथ तादात्म्य प्राप्ति कर अपने स्वरूप को भूल जाना। किन्तु योग-साधन से परिपक्व योगी अनात्म वस्तुओं में (देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि के धर्म में) आत्मबुद्धि का त्याग कर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चिदानन्दात्मा में ही तादात्म्य प्राप्त करते हैं। इसलिये सबके आत्मस्वरूप से वे पृथक् (अलग) नहीं होते हैं तथा परमात्मा भी उनसे पृथक् (अलग) नहीं होता है।

प्रश्न हो सकता है, आत्मारूपी भगवान् जब सर्वव्यापी हैं तब तो सबके निकट समान रूप से प्रकट रहेंगे। अतः ज्ञानी के निकट आत्मा प्रकट रहती है (न प्रणश्यति) तथा अज्ञानी के निकट अदृश्य रहती है (प्रणश्यति), यह किस प्रकार सम्भव है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आखों में मोतिया (cataract) रहने पर जैसे जगत् का सर्वरूप विद्यमान रहते हुए भी नहीं दीखता है उसी प्रकार अज्ञानी को भी भगवान् ही (परमात्मा ही) यथार्थस्वरूप होने पर भी अज्ञान के द्वारा आवृत रहने के कारण परमात्मा अदृश्य प्रतीत होते हैं अर्थात् भगवान् या आत्मसत्ता प्रत्यक्षरूप से अनुभूत न रहने के कारण उनके निकट नष्टप्राय प्रतीत होते हैं।

[योगानुष्ठान से ब्रह्म के साथ (एकात्मदर्शन होता है, यह पूर्वश्लोक में कहकर उसके फलरूप से संसार के विच्छेद का हेतु मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह अब कहा जा रहा है। [अभिप्राय यह है कि पूर्वश्लोकोक्त लक्षणयुक्त सम्यग्दर्शी ब्रह्मविद् अपने प्रारब्ध के अनुसार देह से विभिन्न कर्मों का अनुष्ठान करने पर भी कभी आत्मस्वरूप से विच्युत नहीं होते हैं। इस प्रकार २९वें श्लोक में त्वम् पद का अर्थ, ३०वे श्लोक में तत् पद का अर्थ तथा ३१वें श्लोक में तत्त्वमसि वाक्य के अर्थ का निरूपण कर जीवनमुक्त की अवस्था का वर्णन श्री भगवान् ने किया। (मधुसूदन)]

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

अन्वय—यः सर्वभूतस्थितम् माम् एकत्वमास्थितः भजति सः योगी सर्वथा वर्त्तमानः अपि मयि वर्तते ।

अनुवाद—सर्वभूतस्थित मुझे जो अपनी आत्मा के साथ एक करते हैं वे योगी किसी भी तरह से वर्तमान क्यों न रहें अर्थात् सांसारिक व्यावहारिक कार्यों का सम्पादन ही क्यों न करें वे मुझमें ही अवस्थित रहते हैं।

भाष्यदीपिका—यः सर्वभूतस्थितं माम् एकत्वमास्थितः भजति—जो योगी सर्वभूतों के अधिष्ठान रूप से स्थित 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ निर्विशेष परमब्रह्मरूपी 'मैं' तथा 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ आत्मा एक ही है, इस प्रकार एकत्व बोध में स्थित रहकर भजना करते हैं। घटाकाश घटरूप उपाधिरहित होकर जिस प्रकार महाकाश ही हो जाता है उसी प्रकार जीव तथा ईश्वर के उपाधिगत भेद का निराकरण (दूर) कर 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जीव तथा ईश्वर की एकता को साक्षात् अनुभव कर जो योगी अद्वैत परमतत्त्व में स्थित रहते हैं अर्थात् ब्रह्मा से स्तम्ब तक सर्वभूतों में बाहर तथा भीतर एक ही सर्वव्यापी सच्चिदानन्द ब्रह्म विराजमान हैं तथा वह ब्रह्म 'मैं' ही हूँ (सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव) इस प्रकार निश्चय कर तथा समाधि के द्वारा उस एकत्व का अपरोक्ष साक्षात्कार कर जो अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को निरन्तर (सदा) भजन करते हैं (अर्थात् ब्रह्म या परमात्मा में सदा स्थित रहते हैं) सः योगी सर्वथा वर्तमानः अपि मयि वर्तते—वे सम्यग्दर्शी योगी सर्व प्रकार से वर्तमान रहकर भी अर्थात् किसी भी अवस्था में वर्तमान क्यों न रहें अथवा किसी भी भाव से व्यवहार क्यों न करें, वे परम वैष्णव पद मुझमें ही अर्थात् परमात्मा में अभिन्न रूप से वर्त्तमान (स्थित) रहते हैं क्योंकि उनकी अविद्या तथा अविद्या

के सभी कार्य निवृत्त होने के कारण वे नित्य (सदा) मुक्त हैं। ऐसे योगी की ब्राह्मी स्थिति या मोक्ष किसी भी वस्तु के द्वारा प्रतिहत नहीं होता है अर्थात् उनके मोक्ष को कोई भी रोक नहीं सकता। ऐसे योगी जीवन्मुक्त होकर कृतकृत्य होते हैं। अतः उनके प्रति शास्त्र की विधि या निषेध प्रयुक्त नहीं हो सकता। [व्युत्थानावस्था में प्रारब्ध के अनुसार लोकानुग्रह के लिये कर्म करें या न करें अर्थात् याज्ञवल्कादि के समान सम्पूर्ण रूप से कर्म का त्याग करें अथवा वशिष्ट जनकादि के समान विहित कर्म करें अथवा दत्तात्रेय के समान निषिद्ध कर्म करें अथवा किसी भी प्रकार से जागतिक कर्म में व्यापृत क्यों न रहें। वे मुझमें ही (परमात्मा में ही) अभिन्नभाव से स्थित रहते हैं—मुझ से कभी च्युत नहीं होते हैं। इसलिये देवतायें भी उनके मोक्ष के पथ में विघ्न (बाधा) उत्पन्न नहीं कर सकते हैं क्योंकि श्रुति में कहा है—"तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति"। (छा० उ० १।४।१०) अर्थात् देवतायें भी उनकी किसी प्रकार अभूति करने अर्थात् मोक्ष के विषय में विघ्न डालने में समर्थ नहीं होती हैं चूँकि वे सभी की आत्मा हो जाते हैं। (मधुसूदन)] इनके लिये शास्त्रों के विधि-निषेध प्रयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि शास्त्र में कहा गया है—"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः" अर्थात् गुणातीत अवस्था में जो विचरण करते हैं उनके लिये विधि या निषेध क्या रह सकता है? इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ पुरुष बाहर की दृष्टि से कर्म करते रहने पर भी उनके सभी कर्म अकर्म ही हो जाते हैं।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[ऐसे योगी विधि-किंकर नहीं होते हैं, वही कह रहे हैं—]

यः सर्वभूतस्थितं माम् एकत्वम् आस्थितः भजति—जो सर्व भूतों में स्थित मुझको (परमेश्वर को) अपने स्वरूप से अभिन्न जानकर उस अभेद भाव को आश्रय कर भजन करते हैं अर्थात् 'ब्रह्म या परमात्मा मैं ही हूँ' इस प्रकार अभिन्न भाव से भजना करते हैं **सः योगी सर्वथा वर्तमानः अपि**—वे योगी ज्ञानी होकर किसी भी अवस्था में व्यापृत रहने पर भी, यहाँ तक कि वैध या कर्त्तव्य कर्म का परित्याग करने पर भी **मयि एव वर्तते**—वे मुझमें ही अवस्थान करते हैं अर्थात् मुझमें ही स्थिति लाभ कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वे योगी किसी भी अवस्था में मुझसे (नित्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा से) भ्रष्ट (पृथक्) नहीं होते हैं।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार योगानुष्ठान से जिसमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है उस ब्रह्मवित्तम को सभी वस्तुओं में ब्रह्ममात्रत्व का ग्रहण करने का

फल है सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन (ब्रह्म में ही आत्मत्वदर्शन और सर्वदा ब्रह्मानन्द का अनुभव), ऐसी सूचना कर अब ऐसा लक्षणयुक्त ब्रह्मवित्तम का अपना देह प्रारब्ध के अनुसार अनेक प्रकार के धर्मों से युक्त होने पर भी वह स्वयं अपनी निष्ठा में स्थित रहने के कारण मुक्ति प्राप्त करता है, यही यहाँ कहा जा रहा है—

यः एकत्वम् आस्थितः—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' (अद्वितीय एक ही ब्रह्म है—यहाँ नानात्व नहीं है), 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' (ये सब ब्रह्म ही हैं), 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि श्रुतियों के अर्थ के विचार से उत्पन्न हुए ज्ञान के बल से तथा योगानुष्ठान से समुत्पन्न अपने आत्मस्वरूप के अनुभव के बल से जो एकत्व में स्थित हुआ है अर्थात् 'ये सब तथा मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार से सदा एकत्व में स्थित हुआ है एवं जो ब्रह्मविद् यति 'सब कुछ ब्रह्म ही है' इस प्रकार दृढ़ निश्चययुक्त होकर सर्वभूतस्थं माम्—महत् से लेकर स्थूल तक सर्वभूतों में बाहर तथा अन्दर लोहे के पिंड में अग्नि के समान सर्वव्यापी निर्विशेष परब्रह्म मुझको भजति—भजना करता है अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार प्रत्यग् दृष्टि से अपने को मुझे ही जो साक्षात् जानकर मद्भाव को (मेरी परिपूर्ण सत्ता को) भजना करता है अर्थात् सः योगी—वह योगी अर्थात् मद्भावापन्न वह ब्रह्मविद् योगी सर्वथा वर्तमानः अपि—अपने प्रारब्ध के अनुसार देह की विभिन्न प्रकार की चेष्टा (प्रवृत्ति) होते रहने पर भी तथा लोक दृष्टि से बालक के समान, मूढ़ के समान, उन्मत्त के समान, शिष्ट के समान अथवा अशिष्ट के समान प्रतीत होने पर भी अपनी दृष्टि से निर्विकार ब्रह्मस्वरूप से स्थित वह ब्रह्मवित्तम पुरुष इस देह का पात होने पर (मृत्यु होने पर) मयि वर्तते—मुझमें ही स्थित रहते हैं अथवा 'मयि' तृतीयार्थ में सप्तमी विभक्ति हुई है इस प्रकार मानने से मुझ ब्रह्मस्वरूप से स्थित रहता है अर्थात् विदेहमुक्ति को प्राप्त होता है।

(३) नारायणी टीका— [सर्वत्र अवस्थित परमात्मा को जो अपनी आत्मा से अभिन्नरूप से भजन करते हैं (नित्य निरन्तर स्मरण करते हैं) उनको उस एकत्वदर्शन के फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह अब कहा जा रहा है।] सर्वथा वर्तमानः अपि इत्यादि—यम नियमादि का अभ्यास न कर कोई निर्विकल्प समाधि के द्वारा ब्रह्मानुभूति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार यम नियमादि-संस्कार-सम्पन्न तथा रागद्वेषादिरहित ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के लिये कोई स्वेच्छाचार साधारणतः सम्भव नहीं है। तथापि प्रारब्ध संस्कार-वश यदि कभी स्वेच्छाचार या शास्त्रविरुद्ध कर्म उनके द्वारा सम्पन्न हो जाय तब

भी वह कर्म उनके मोक्ष के पथ में प्रतिबन्धक नहीं होता, यह कहकर वर्तमान श्लोक में श्री भगवान् ब्रह्मज्ञान की स्तुति (प्रशंसा) कर रहे हैं। ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की देहादि से विलक्षण "अशरीर" (शरीररहित) सर्वव्यापी निर्विकार परमात्मा में आत्मबुद्धि रहने के कारण देह के द्वारा सम्पादित किसी कर्म में कर्तृत्वा-भिमान, काम या संकल्प, अथवा फलाकांक्षा नहीं रहती हैं। अतः पाप अथवा पुण्य अर्थात् शुभाशुभ किसी कर्म का फल उनको स्पर्श नहीं कर सकता है (गीता १८-१७, ४-१९)। श्रुति में भी कहा गया है "अशरीरं वाव सन्तं नैनं पुण्यपापे स्पृशतः" (बृह० उ०) अर्थात् ब्रह्मविद् यति जब शरीर से विलक्षण आकाश के समान सर्वव्यापी आत्मा में स्थित होते हैं, तब उन्हें पुण्य या पाप स्पर्श नहीं कर सकता है। फिर कहा गया है 'न पुण्येन वर्द्धीयान् न पापेन कनीयान्" (बृह० उ०) अर्थात् पूण्य के द्वारा उनकी न तो कोई वृद्धि होती है और न तो पाप के द्वारा उनको कोई हानि पहुँचती है। अतः सम्यग्दर्शी योगी सदा तथा सर्वत्र ब्रह्म के साथ एकत्व बुद्धि से स्थित रहने के कारण किसी भी प्रकार से अपने परमानन्दस्वरूप से च्युत नहीं होते हैं।

[तत्त्वज्ञानी की सभी अवस्थाओं में ब्राह्मी स्थिति रहती है, यह पूर्वश्लोक में कहा गया है। फिर भी तत्त्वज्ञानी दो प्रकार के होते हैं (क)—'अपरम' तथा (ख) 'परम'। 'अपरम योगी' व्युत्थानावस्था में पूर्वसंकारवश कभी-कभी निषिद्ध कर्म भी कर सकता है। परम योगी के लिये वह सम्भव नहीं है। वर्तमान श्लोक में परम योगी के विषय में कहा जा रहा है।]

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अन्वय—यः सर्वत्र आमौत्पम्येन सुखम् वा यदि वा दुःखम् समम् पश्यति सः योगी परमः मतः।

अनुवाद—जो योगी सर्वत्र (आत्मा की अभिन्नता साक्षात् अनुभव कर) अपनी उपमा से (सादृश्य या समानता से) सब प्राणियों में सुख और दुःख को समान देखते हैं अर्थात् जैसा सुख मुझे इष्ट है और दुःख अनिष्ट है वैसे ही सबको सुख इष्ट और दुःख अनिष्ट है, ऐसा जानकर किसी को पीड़ा नही पहुँचाता, वह योगी मेरे मत से 'परम' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है।

भाष्यदीपिका—यः सर्वत्र आत्मौपम्येन सुखं वा यदि वा दुःखम् समम् पश्यति—'आत्मौपम्येन'—जिसके द्वारा कोई वस्तु उपमित होती है अर्थात् किसी

वस्तु का सादृश्य निर्णीत होता है उसे उपमा कहते हैं। उस उपमा भाव का (सादृश्य का) नाम है "औपम्य"। आत्मा स्वयं ही जिसके द्वारा उपमित होती है वह "आत्मौपम" आत्मौपम के भाव को (सादृश्य को) 'आत्मौपम्य' कहा जाता है। सभी आत्माएँ सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, इस प्रकार आत्मा का एकत्व जानकर तत्त्ववित् पुरुष ब्रह्म से स्तम्ब तक सभी भूतो में ही समत्व दर्शन किया करते हैं। समत्वबुद्धि का लक्षण क्या है ? वह कहा जा रहा है— आत्मौपम्येन (अपनी उपमा से)। मुझे जैसा सुख अभिलषित (इष्ट) है अर्थात् मैं जिस प्रकार सुख की इच्छा करता हूँ, उसी प्रकार समस्त प्राणी भी सुख को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं तथा मुझे दुःख जिस प्रकार अप्रिय (अनिष्ट) है अतः प्रतिकूल है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों के लिये दुःख अवांछित (अनिष्ट) है तथा प्रतिकूल है। इस प्रकार "आत्मौपम्य" से अर्थात् अपनी उपमा से दूसरे के सुख तथा दुःख को समान देखते हैं अर्थात् अपने लिये भी जो प्रतिकूल है वह दूसरे के लिये भी प्रतिकूल है तथा जो अपने लिये भी अनुकूल है वह दूसरे के लिये अनुकूल है, ऐसा जो समझते हैं तथा किसी के प्रति प्रतिकूल आचरण नहीं करते हैं अर्थात् वाक्य, मन तथा देह के द्वारा कभी किसी प्रकार से और किसी की भी हिंसा अथवा द्वेष नहीं करते हैं श्लोक में 'सुखं वा' पद का 'वा' शब्द समुच्चयार्थ में अर्थात् 'च' (एवं) अर्थ में प्रयोग किया गया है। सः योगी परमः मतः—ऐसा (इस प्रकार का) अहिंसक [उपशान्तमनाः (मधुसूदन)] सम्यग् ज्ञाननिष्ठ योगी (मेरे मत से समस्त योगियों में 'परम' अर्थात् उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) माना जाता है। [इस प्रकार योगी के अतिरिक्त अन्य योगियों को 'अपरम' योगी कहा जाता है। 'अपरम योगी' केवल तत्त्वज्ञानी हो सकते हैं परन्तु मनोनाश या वासनाक्षय नहीं होने के कारण वे जीवन्मुक्त का पूर्णानन्द अनुभव नहीं कर सकते हैं, यद्यपि देहपात के बाद (मृत्यु के पश्चात्) उनका भी मोक्ष या विदेह कैवल्य की प्राप्ति अवश्यम्भावी है (टिप्पणी देखें)]।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने से भी यदि मनोनाश तथा वासनाक्षय न हो तब ब्रह्मविद् पुरुष जीवन्मुक्ति का सुख अनुभव नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार के योगी को 'अपरम योगी' कहा जाता है। अपरम योगी तत्त्वज्ञानी होने पर भी चित्त-विक्षेप के कारण दृष्ट दुःख का अनुभव करते हैं। यद्यपि देहपात होने पर अर्थात् मृत्यु के पश्चात् वे कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होंगे परन्तु जब तक उनकी देह रहती है तब तक

उन्हें दुःखभोग करना पड़ता है [अर्थात् मनोनाश के अभाव से उनके दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती है]। और तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय एकसाथ अभ्यास करने से दृष्ट दुःख की निवृत्ति होने के कारण ज्ञानी जीवन्मुक्ति का सुख (आनन्द) अनुभव करते रहते हैं। तथापि प्रारब्ध कर्म के प्रभाव से उन यागी का जब समाधि से व्युत्थान होता है तब वह आत्मा के औपम्य (उपमा) के द्वारा अर्थात् आत्मदृष्टान्त के द्वारा सर्वत्र अर्थात् सकल प्राणियों में सुख और दुःख को सम (तुल्य) देखते हैं अर्थात् वे जिस प्रकार अपना अनिष्ट नहीं करते हैं उसी प्रकार दूसरे का भी अनिष्ट नहीं करते हैं क्योंकि समदर्शन के फलस्वरूप वह द्वेषविहीन हुआ करता है। पुनः वे जिस प्रकार अपना इष्टसम्पादन करते हैं उसी प्रकार दूसरे का भी इष्ट साधन करते हैं क्योंकि समदर्शन के फलस्वरूप (अपने देहादि में तथा देह सम्बन्धी स्वजनों के प्रति) उनकी कोई आसक्ति (राग) नहीं रहती है। अतः राग-द्वेष से मुक्त होने के कारण अर्थात् वासनारहित होने के कारण उनका मन (अन्तःकरण) उपशान्त होता है। इस प्रकार (ब्रह्मज्ञ) योगी पूर्वश्लोक में कहे गये योगी की अपेक्षा परम (श्रेष्ठ) माना गया है। अतः तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय—इन तीनों की सिद्धि के लिए मोक्षकामीमात्र को ही प्रयत्न करना चाहिये, यही तात्पर्य है। [तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय किसे कहते हैं ? और उसे प्राप्त करने का साधन क्या है ? वह अब कहा जा रहा है—]

तत्त्वज्ञान—समग्र द्वैतप्रपंच ही अद्वितीय चिदानन्द स्वरूप आत्मा में माया से कल्पित हैं, अतः द्वैत प्रपंच स्वरूपतः मिथ्या ही है—एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप अद्वितीय आत्मा ही परमार्थ सत्य है—और "मैं ही वह परमार्थ सत्य सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय आत्मा हूँ" इस प्रकार जो साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान है वही तत्त्वज्ञान है।

मनोनाश—प्रदीपशिखा की धारा (प्रवाह) के समान वृत्तियों का प्रवाह रूप से परिणत अन्तःकरणरूप द्रव्य मननात्मक है (अर्थात् चिन्तन करना ही इसका स्वभाव है)। इसलिये इसे 'मन' कहा जाता है। अतः मनोनाश शब्द का अर्थ यह है कि वृत्तिरूप जो परिणाम होता है उसे परित्याग कर सर्ववृत्तियों का विरोधी निरोधाकार-परिणाम सम्पादन करना अर्थात् मन सम्पूर्ण रूप से वृत्तिहीन होने पर मन का जो निरोध परिणाम होता है वही मनोनाश है। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने से ही मनोनाश प्राप्त करना

सहज होता है। नरशृङ्ग आदि अलीक पदार्थ विषयों में जैसा किसी की बुद्धिवृत्ति का उदय नहीं होता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा जगत् के मिथ्यात्व का साक्षात् अनुभव करने से जागतिक विषय के सम्बन्ध में किसी बुद्धिवृत्ति का उदय होना सम्भव नहीं होता है। उसके अतिरिक्त आत्मदर्शन होने से फिर मनोवृत्ति के उदय की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः मन सर्व वृत्ति से शून्य होकर काष्ठहीन अग्नि के समान स्वतः ही नाशप्राप्त होता है।

वासनाक्षय—पूर्व पश्चात् चिन्तन न कर अकस्मात् (अचानक) प्राणियों में जो क्रोधादिरूप वृत्तिविशेष का उदय होता है, वह पूर्वसंचित चित्तगत संस्कारविशेष से उत्पन्न होता है। वह चित्तगत (चित्त में संचित) संस्कारविशेष पूर्व-अभ्यास से चित्त में वास्यमान होने के कारण (बसी होने के कारण अर्थात् दृढ़ रूप से स्थित होने के कारण) वासना है। विवेक (तत्त्व-ज्ञान) का उदय होने से चित्त को प्रशमित (प्रशान्त) करने की वासना (संस्कार) दृढ़ होती है और उसके फलस्वरूप क्रोधादि का बाह्य कोई कारण उपस्थित होने पर भी क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होती है। [चित्त में कामक्रोधादि का संस्कार सूक्ष्म रूप से (अप्रकाशित रूप से) विद्यमान रहता है और इसी कारण बाह्य कारण उपस्थित होने पर ही कामक्रोधादि अभिव्यक्त (प्रकट) होते हैं। विवेक के फलरूप से (आत्मा को अनात्मक वस्तु से पृथक् जानने से अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त होने से) चित्त की 'प्रशमवासना' (चित्त को प्रशान्त करने की वासना) दृढ़ होती है, अतः क्रोध का संस्कार शिथिल हो जाता है। ऐसा होने से बाहर के जिन कारणों से क्रोधादि की अभि-व्यक्ति (प्रकाश) होती है, वे कारण पूर्ण रूप से विद्यमान रहने पर भी क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते हैं।] इस प्रकार क्रोधादि के संस्कारसमूह के क्षय (नाश) को वासनाक्षय कहा जाता है। तत्त्वज्ञान कैसे मनोनाश का कारण होता है वह ऊपर कहा गया है। मनोनाश होने से संस्कार के उद्बोधक बाह्य (बाहर स्थित) निमित्त समूह की (पदार्थ समूह की) प्रतीति नहीं होती है [बाहर की वस्तु जब तक मन की वृत्तिओं का विषय नहीं होता है तब तक काम-क्रोधादि उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।] अतः मनोनाश के साथ-साथ संस्कारात्मक वासनाएँ भी क्षयप्राप्त होती हैं, इस प्रकार तत्त्वज्ञान मनोनाश के द्वारा वासनाक्षय का हेतु होता है अर्थात् तत्त्व-ज्ञान से मनोनाश और मनोनाश से वासनाक्षय होता है।

(क) फिर (मनोनाश तथा तत्त्वज्ञान के पहले) यदि वासनाक्षय हो जाय तो क्रोधादि वृत्तियों का उदय न होने के कारण उससे मन का नाश हो जाता है। और मन नाशप्राप्त होने से शम, दम आदि साधनसम्पत्ति से तत्त्वज्ञान का उदय होता है अर्थात् वासनाक्षय से मनोनाश एवं मनोनाश से तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है।

(ख) तत्त्वज्ञान से भी साक्षात् रूप से वासना का क्षय होता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने से रागद्वेषादिरूप वासनाएँ भी नहीं रहती हैं।

(ग) वासनाक्षय होने से भी तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है क्योंकि वासनाक्षय होने से तत्त्वज्ञान का और कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय—इनकी परस्पर कारणता समझनी चाहिए अर्थात् इन तीनों में से कोई भी एक अन्य दो का कारण हो सकता है। इसलिए भगवान् वशिष्ठ जी ने कहा—'तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च। मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि ॥ तस्माद्राघव ! यत्नेन पौरुषेण विवेकिना। भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत् समाश्रय ॥' अर्थात् तत्त्वज्ञान, मनोनाश एवं वासनाक्षय ये परस्पर एक दूसरे के कारण होने से साधारण व्यक्तियों के लिए दुःसाध्य हैं। अतः हे रघुनन्दन ! विवेकयुक्त पौरुष प्रयत्न के द्वारा दूर से ही भोगेच्छा का परित्याग कर इन तीनों का आश्रय लो। 'किसी भी उपाय के द्वारा मैं इसे अवश्य करूँगा' इस प्रकार का उत्साहरूप निर्बन्ध (आग्रह) को 'पौरुष प्रयत्न' कहा जाता है। विचार-पूर्वक निश्चय को अर्थात् मनन द्वारा दूसरे से पृथक् कर किसी विषय के यथार्थ तत्त्व का निश्चय करना 'विवेक' है। आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में श्रवण मननादि तत्त्वज्ञान के साधन होते हैं। योग (अष्टांग योग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) मनोनाश का साधन है; और प्रतिकूल (विपरीत) वासनाओं को उत्पन्न करना वासनाक्षय का साधन है। [प्रतिकूल वासना कैसे उत्पन्न की जाती है ? उसे बाद में कहा जा रहा है।] भोगेच्छा स्वल्प होने पर भी उसे प्रश्रय न देकर उक्त विवेक-युक्त पौरुष प्रयत्न के द्वारा उसे दूर से ही परित्याग करना होगा क्योंकि घृत के संस्पर्श से अग्नि जिस प्रकार अधिक प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार काम्य वस्तु के भोग के द्वारा कामनाएँ भी अधिक मात्रा में बढ़ जाती हैं। अतः थोड़ी सी भोगेच्छा भी उत्पन्न न हो इसलिए सावधान होना चाहिए—यही योगवाशिष्ठ में उक्त 'दूरतः' (दूर से ही) शब्द का तात्पर्य है।

दो प्रकार के व्यक्ति ब्रह्मविद्या के अधिकारी होते हैं—(१) कृतोपास्ति और (२) अकृतोपास्ति। इनमें से जो साधक जब तक उपास्य देवता के साक्षात्कार न हो तब तक उनकी उपासना कर तत्त्वज्ञान के लिए प्रवृत्त रहते हैं, उनका वासनाक्षय तथा मनोनाश दृढ़तर (पुष्ट) होने के कारण ज्ञानोदय के बाद स्वतः ही जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है। परन्तु आधुनिक (आजकल के) व्यक्ति प्रायः अकृतोपास्ति अवस्था में ही मुमुक्षु होकर केवलमात्र उत्सुकता के कारण ही सहसा विद्या में (ज्ञान में) प्रवृत्त होते हैं और इस प्रकार व्यक्ति योगसाधन के बिना ही केवलमात्र जड़ व अजड़ (चेतन) के विवेकज्ञान के द्वारा तात्कालिक मनोनाश और वासनाक्षय का सम्पादन कर शम, दम आदि साधन-सम्पत्तिपूर्वक श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करते हैं और वे श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन दृढ़रूप से अभ्यस्त होने से तत्त्वज्ञान का उदय होता है, जिसके फलस्वरूप उनके सभी प्रकार के बन्धनों का उच्छेद (नाश) हो जाता है।

(क) अविद्याग्रन्थि (ख) अब्रह्मत्व (ग) हृदयग्रन्थि (घ) संशय-जाल (ङ) कर्मकलाप (च) असर्वकामता (छ) मृत्यु तथा पुनर्जन्म इत्यादि रूप अनेक प्रकार के बन्धन भी इस तत्त्वज्ञान से ही निवृत्त हो जाते हैं। श्रुति भी यही कहती है—जैसे, (क) 'यो वेदनिहितं गुहायां सोऽविद्या-ग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य' अर्थात् जो व्यक्ति इस गुहानिहित (हृदयाकाश में निहित) तत्त्व (आत्मतत्त्व) को जानते हैं वे इस लोक में अविद्याग्रन्थि को काट देते हैं अर्थात् उससे मुक्त हो जाते हैं। अतः तत्त्वज्ञान से अविद्याग्रन्थि नष्ट हो जाती है, यही श्रुति कह रही है। (ख) 'ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् जो ब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं। इस श्रुतिवाक्य से तत्त्वज्ञान के द्वारा अब्रह्मत्व की निवृत्ति होती है, यह स्पष्ट हो रहा है। (ग) 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' अर्थात् पर तथा अवर अर्थात् कारण (हिरण्यगर्भ) तथा कार्य के अधिष्ठानभूत आत्मतत्त्व (परमात्मा) का साक्षात्कार होने पर जीव की हृदयग्रन्थि (अविद्या की गाँठ) खुल जाती है (अर्थात् अज्ञान नष्ट हो जाता है), सभी संशय दूर हो जाते हैं और कर्म समूह भी क्षयप्राप्त होते हैं। (तत्त्वज्ञान के द्वारा हृदयग्रन्थि, संशय तथा कर्मराशि का उच्छेद होता है, यह कहा गया)। (घ) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यो वेदनिहितं गुहायां परमे व्योमन्', 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति' अर्थात् ब्रह्म सत्य ज्ञान तथा अनन्तस्वरूप हैं, हृदय गुहा

में स्थित परम व्योम (आकाश) स्वरूप उस ब्रह्म को जो जान सकते हैं वे समस्त कामनाओं को एक ही साथ प्राप्त होते हैं (ऐसे वाक्यों के तत्त्वज्ञान के द्वारा असर्वकामत्व का नाश होता है, वह कहा गया)। (ङ) 'तमेव विदित्वा-तिमृत्युमेति' अर्थात् जीव केवल आत्मा को ही जानकर मृत्यु को अतिक्रम करते हैं अर्थात् पार कर जाते हैं। (इसके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त होने से मृत्युरूप वन्धन की निवृत्ति होती है, यह कहा गया)। (च) 'यस्तु विज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते' अर्थात् जो व्यक्ति विज्ञानवान् (तत्त्वज्ञानी) हुए हैं तथा जिनका मन अमनीभाव हुआ है अर्थात् जिनका मनोनाश हुआ है तथा जो सदा शुचि (भेददृष्टिविहीन) होते हैं वे उस पद को प्राप्त होते हैं। यहाँ से पुनः संसार में जन्म लेना नहीं पड़ता है (इसके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करने से जन्म का उच्छेद होता है, यह कहा गया)। (छ) 'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा जो जानते हैं वे सब हो जाते हैं अर्थात् सर्वात्मता प्राप्त होते हैं। (तत्त्वज्ञान से असर्वत्व की निवृत्ति होती है, यही इस श्रुतिवाक्य के द्वारा प्रतिपादित किया गया)।

ये सभी विदेहमुक्ति के लक्षण हैं अर्थात् देह विद्यमान रहते हुए भी ज्ञानोत्पत्ति के साथ ही विदेह मुक्ति होती है। ऊपर में जो नौ प्रकार के वन्धनों का (अविद्याग्रन्थि, अब्रह्मत्व, हृदयग्रन्थि आदि का) उल्लेख किया गया है, वे सभी अविद्या से ब्रह्म में आरोपित होते हैं। अतः अविद्या का नाश होने से उन वन्धनों की सम्पूर्ण रूप से निवृत्ति होती है और उनकी फिर उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। इसी कारण से जीवन्मुक्त को तत्त्वज्ञान की शिथिलता का कोई कारण न होने से उनका तत्त्वज्ञान आजीवन अनुवर्तन करता है अर्थात् मृत्यु (देहपात) तक वह बराबर रह जाता है। किन्तु यदि मनोनाश और वासनाक्षय का दृढ़ अभ्यास न रहे तो भोगप्रद (भोग देनेवाले) प्रारब्ध कर्मों के द्वारा बाधित होने के कारण वायु बहुलस्थान में रखे हुए दीपक के समान सहसा (अचानक) वे (मनोनाश और वासनाक्षय) निवृत्त हो जाते हैं [अर्थात् समाधि-अवस्था में तत्त्वज्ञानप्राप्ति के समय मनोनाश तथा वासनाक्षय स्वतः ही हो जाते हैं किन्तु उनका दृढ़रूप से दीर्घकाल तक अभ्यास न करने पर प्रारब्ध कर्मों से फिर थोड़ा-सा विषय-भोग उपस्थित होने से वे बाधित होते हैं। परन्तु एकबार तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने से उसका फिर विनाश नहीं होता है क्योंकि ज्ञान का तत्त्व के प्रति

पक्षपातित्व स्वाभाविक है।] इस कारण से तत्त्वज्ञानी को तत्त्वज्ञान के लिये प्रयत्न करना नहीं पड़ता है किन्तु मनोनाश तथा वासनाक्षय के लिये उनको दृढ़रूप से प्रयत्न (अभ्यास) करना आवश्यक है। मनोनाश योग के (असम्प्रज्ञात-समाधि के) अभ्यास से सिद्ध होता है। अब वासनाओं का स्वरूप क्या है ? तथा वासनाक्षय कैसे होता है ? वह कहा जा रहा है। योगवाशिष्ठ में कहा गया है—'दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणं यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता' अर्थात् दृढ़भावनावश अर्थात् पूर्वसंचित-संस्कारवश पूर्वापर (अर्थात् अग्र पश्चात्) न सोचकर जो पदार्थ का ग्रहण अर्थात् विषय का ग्रहण करता है वह 'वासना' कही जाती है। अपने अपने देशाचार, कुलधर्म तथा स्वभावभेद में तथा उनमें रहने वाले अपशब्द और सुशब्द आदि में हैं। प्राणियों का जो अभिनिवेश (स्वाभाविक प्रवृत्ति) रहता है वह सामान्यतया 'वासना' का उदाहरण है। वासना दो प्रकार की है मलिना और शुद्धा। शुद्ध वासना दैवीसम्पत् है—शास्त्र-संस्कार की प्रबलता के कारण वह तत्त्वज्ञान लाभ के साधन रूप से एक प्रकार की ही है। किन्तु मलिना वासना तीन प्रकार की होती है—(क) लोकवासना (ख) शास्त्र-वासना और (ग) देहवासना। (क) 'कोई भी मनुष्य ताकि मेरी निन्दा न कर सके वैसे ही आचरण करूँगा' इस प्रकार असाध्य विषय के लिये अभिनिवेश (आग्रह) को लोक-वासना कहा जाता है। किसी भी व्यक्ति के लिये जगत् के सभी मनुष्यों को प्रसन्न रखना सम्भव नहीं है। अतः उक्तरूप वासना पूर्ण करना सम्भव न होने से तथा वह पुरुषार्थ के लिये अनुपयोगी होने से अर्थात् सम्भव होने पर भी उससे जीवन का कोई भी पुरुषार्थ (विशेष कर परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष) सिद्ध नहीं होने से] उस प्रकार वासना मलिन मानी गयी है। (ख) शास्त्र-वासना तीन प्रकार की होती है (१) पाठव्यसन (२) बहुशास्त्रव्यसन और (३) अनुष्ठान व्यसन। भरद्वाज मुनि का पाठ्यवसन था; दुर्वासा का बहुशास्त्रव्यसन था तथा निदाघमुनि का अनुष्ठानव्यसन (शास्त्रोक्त कर्मों के अनुष्ठान में आग्रह) था। उन तीन प्रकार की शास्त्रवासनाएँ ही मलिन हैं, क्योंकि वे क्लेशकर (कष्टदायक) हैं, पुरुषार्थ के लिये (मोक्ष के लिये) अनुपयोगी हैं, दर्प (अहंकार) का हेतु ('मैं बहुत जानता हूँ' ऐसे अभिमान का हेतु) तथा पुनर्जन्म का कारण है। (ग) देह वासनाएँ भी तीन प्रकार की हैं—आत्मत्व-भ्रान्ति, गुणाधामभ्रान्ति और दोषापनयन भ्रान्ति। अनात्मा में (देहादि में)

आत्मत्वभ्रान्ति विरोचन आदि में जैसा हुआ था (प्रजापति असुराज विरोचन को आत्मत्त्व का उपदेश देने पर उसने देह को ही आत्मा के रूप से जिस प्रकार जाना) उसी प्रकार वह भ्रम सार्वलौकिक है अर्थात् प्रायः सभी लोगों की इस प्रकार की भ्रान्ति देखी जाती है। **गुणाधान** (गुणों का आरोप) दो प्रकार का है लौकिक तथा शास्त्रीय। सुन्दर शब्दादि विषयों का सम्पादन करना (अर्थात् सुन्दर शब्दादि का प्रयोग करना) लौकिक गुणाधान है। और गंगास्नान, शालिग्रामशिला की अर्चना एवं तीर्थादि में भ्रमण इत्यादि शास्त्रीय गुणाधान हैं। गुणाधान भी भ्रान्ति ही है। दोशापनयन भ्रान्ति भी दो प्रकार की है—लौकिक और शास्त्रीय। चिकित्सकों के द्वारा व्यवस्थापित (बतायी हुई) औषधियों के द्वारा व्याधि आदि के दूरीकरण (दूर करना) को लौकिक दोशापनयन कहते हैं। और वेदोक्त स्नान, आचमन आदि से अशुचित्वादि के दूरीकरण को वैदिक यानी शास्त्रीय दोषापनयन कहते हैं। उक्त सभी प्रकार की वासनाएँ मलिन हैं क्योंकि वे प्रमाणसिद्ध नहीं हैं—वे असाध्य हैं अर्थात् उनका पूर्णरूप से अनुष्ठान करना सम्भव नहीं होता है— वे पुरुषार्थ (विशेषकर मोक्षरूप पुरुषार्थ) के लिये अनुपयोगी है और वे पुनर्जन्म के हेतु हैं। उक्त लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना रूप तीनों वासनाएँ अविवेकी व्यक्ति के निकट उपादेय (ग्रहणयोग्य) प्रतीत होने पर भी आत्मजिज्ञासु के लिये आत्मज्ञानोत्पत्ति के विरोधी हैं तथा विद्वान् व्यक्ति की (तत्त्वज्ञानी की) ज्ञाननिष्ठा के परिपन्थी (विरोधी) होने के कारण विवेकियों के लिये तो वे सभी हेय (त्याज्य) ही हैं। इस प्रकार ये तीनों प्रकार की बाह्य विषयवासनाओं का स्वरूप शास्त्र में निरूपण किया गया।

आभ्यन्तरिक काम, क्रोध, दम्भ (अहंकार) दर्पादि जिनको आसुर-सम्पत् कहा जाता है। तथा जो सर्व अनर्थों का मूल हैं उन्हें मानसी वासना कहा जाता है। इस प्रकार की तीनों बाह्य वासनाओं का (लोकवासना, शास्त्रवासना तथा देहवासना) ओर आभ्यन्तरिक मानसी वासना का अर्थात् इन चार प्रकार की मलिन वासनाओं का शुद्ध वासना के द्वारा नाश करना (मोक्षलाभ के लिये) आवश्यक है। इसलिये योगवाशिष्ठ में कहा गया है— मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः। मैत्र्यादिवासना राम ! गृहाणामल-वासनाः॥ अर्थात् हे राम ! पहले मानस-वासनाओं को तथा विषय वासनाओं को त्याग कर मैत्री आदि वासनारूप अमल (शुद्ध) वासनाओं का ग्रहण करो। यहाँ 'विषय-वासना' शब्द के द्वारा पहले कही हुई लोकवासना,

शास्त्रवासना तथा देह वासना इन तीनों को समझाया जा रहा है। 'मानसी-वासना' शब्द से काम, क्रोध, दम्भ, दर्प आदि आसुर सम्पद् को सूचित कर रहे हैं। अथवा विषयवासना शब्द का अर्थ इस प्रकार है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, इन पंच विषयों का जब उपभोग किया जाता है तब उन भोगों से जो संस्कार उत्पन्न होता है, उसे विषयवासना कहते हैं और उन सब विषयों के भोग की प्राप्ति की इच्छा से जो संस्कार उत्पन्न होता है उसे ही 'मानसी वासना' कहते हैं अर्थात् केवल कामना की दशा से होने वाला संस्कार 'मानस वासना' है। इस प्रकार अर्थ करने से पूर्वोक्त चारों मलिन वासनाएँ—इन दोनों में ही (मानस तथा विषयवासनाओं में ही) अन्तर्भुक्त होते हैं क्योंकि बाह्य और आभ्यन्तर वासनाओं के अतिरिक्त और अन्य किन्हीं प्रकार की वासनाओं का होना सम्भव नहीं है। इन सब अशुद्ध वासनाओं का परित्याग उनके विरुद्ध मैत्रादि वासनाओं के उत्पादन से ही किया जा सकता है। मैत्रादि वासनाओं का सम्पादन कैसे हो सकता है? इस विषय पर पातञ्जल योगशास्त्र में इस प्रकार कहा गया है—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तं प्रसादनम्' (पा० द० १।३३) अर्थात् सुखी के प्रति मैत्री, दुःखी के प्रति करुणा, पुण्यवान् के प्रति मुदिता और अपुण्य (पापी) के प्रति उपेक्षा की भावना से चित्त की प्रसन्नता (प्रसाद) उत्पन्न होती है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप इत्यादि के द्वारा ही चित्त कलुषित (मलिन) होता है। इनमें 'सुखानुशयी रागः' अर्थात् पहले किसी सुख का अनुभव होने के पश्चात् उसी प्रकार के अन्य सुख में अथवा वह सुख जिससे उत्पन्न होता है उसके सम्बन्ध में (उसके विषय में) जो तृष्णा होती है उसका नाम है राग। अज्ञानी को जो सुख का अनुभव होता रहता है मोहवश उसे अनुशयित कर अर्थात् उस सुख को विषयीभूत कर 'मेरे लिये सब कुछ सुखस्वरूप हो' इस प्रकार जो राजसीक बुद्धिवृत्तिविशेष का उसके अन्तःकरण में उदय होता है उसे राग कहते हैं। किन्तु उस बुद्धिवृत्ति की पूर्ण तृप्ति सम्पादन करना असम्भव है क्योंकि दृष्ट या अदृष्ट सुख उत्पन्न करने के लिए दृष्ट तथा अदृष्ट सुख की सामग्री भी आवश्यक है किन्तु उन सब सामग्रियों का अभाव रहने के कारण रागवृत्ति को पूर्ण करना सम्भव नहीं होता है। अतः वह राग चित्त को कलुषित करता है अर्थात् आकांक्षित वस्तुओं का अभाव रहने के कारण वह राग (आसक्ति) उस समय चित्त में दुःख, क्षोभ आदि को उत्पन्न कर चित्त को कलुषित (मलिन) कर देता है। किन्तु यह योगी जब सुखी जीवों के प्रति मैत्री भावना रखते हैं—

'ये सब सुखी जीव मेरे ही स्वजन हैं' इस प्रकार चिन्ता करते हैं, तब अन्य प्राणियों के द्वारा प्राप्त सुख से अपने ही सुख की प्राप्ति हुई है, इस प्रकार की भावना का उदय होता है। इस कारण सुख के लिये जो व्यक्तिगत राग या आसक्ति थी, उसकी निवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार अपने राज्य की निवृत्ति होने से भी (अर्थात् अपना राज्य चला जाने पर भी) 'पुत्रादि का राज्य अपना ही राज्य है' ऐसी भावना करने वाले का राज्य में राग नहीं रहता है ऐसा ही यहाँ समझना चाहिये। फिर राग की निवृत्ति होने से वर्षा के बाद जल जिस प्रकार स्वच्छ हो जाता है, चित्त भी उसी प्रकार प्रसन्न होता है। और 'दुःखानुशयी द्वेषः' (पातञ्जल योगशास्त्र) अर्थात् जो दुःखानुशयी है उसका नाम द्वेष है। तमोगुण के अनुगत रजोगुण का परिणामरूप ऐसा कोई चित्तवृत्तिविशेष जो दुःख को अनुशयित करता है अर्थात् 'इस प्रकार जितने भी दुःख हैं वे कभी मुझे न हों' ऐसे चिन्तन से दुःख को अत्यन्त प्रतिकूल समझता है उसका नाम द्वेष है। शत्रु और व्याघ्र आदि हिंस्र प्राणियों के सदा ही रहते हुए सभी प्रकार के दुःखों का उच्छेद (नाश) कभी नहीं किया जा सकता और न तो दुःख के सारे कारणों को नष्ट ही किया जा सकता है। अतः द्वेष से सम्पूर्ण रूप से मुक्त होने की सम्भावना नहीं रहती है अर्थात् द्वेष सदा ही विद्वेष्टा के हृदय को दग्ध करता है (जलाता रहता है), किन्तु जब अपने समान दूसरे के लिये भी 'किसी को कभी दुःख न हो' इस प्रकार दुःखी जीवों के लिये करुणा की भावना होती है तब वैर आदि के प्रति द्वेष की निवृत्ति हो जाने से चित्त प्रसन्न हो जाता है। स्मृति-शास्त्र में भी ऐसा ही कहा गया है—'प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा। आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥' अर्थात् जिस प्रकार अपना प्राण अत्यन्त प्रिय है, उसी प्रकार सभी जीवों के प्राण भी अत्यन्त प्रिय हैं। इसी कारण साधुगण अपने दृष्टान्त के अनुसार सब प्राणियों पर दया करते हैं। गीता में 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' इत्यादि से (गीता ६।३२) यही बात कही गयी है। फिर स्वभाव से ही प्राणी पुण्य कार्य नहीं करते, किन्तु पाप ही करते हैं। इसलिये शास्त्र में कहा गया है—"पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः। न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।" अर्थात् मनुष्य पुण्य की फलप्राप्ति तो चाहते हैं, किन्तु पुण्य करना नहीं चाहते हैं, तथा पाप का फल भोगना नहीं चाहते हैं किन्तु यत्न के साथ पाप ही करते रहते हैं किन्तु पुण्यकर्मों का अनुष्ठान न करने पर

तथा पाप कर्मों का आचरण करने पर पश्चाताप उत्पन्न होता है। श्रुति ने भी इसी का अनुवाद (पुनरुक्ति) किया—'किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' अर्थात् क्यों मैंने सत्कर्मों को नहीं किया, क्यों मैंने पापकर्मों को किया इत्यादि। वह साधक पुण्यवान् पुरुषों के प्रति मुदिता की भावना करें अर्थात् पुण्यात्मा लोगों के पुण्यकर्मों में आनन्द का अनुभव करें तो उस वासना से युक्त होकर वह स्वयं ही सावधान होकर अशुक्लकृष्ण पुण्य में प्रवृत्त होता है। पातञ्जल योगदर्शन में इसलिये कहा गया है—'कर्माशुक्लकृष्णां योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' अर्थात् योगियों के कर्म अशुक्लकृष्णा हैं [शुक्ल (शुभ अर्थात् पुण्य नहीं है, कृष्ण (अशुभ अर्थात् पाप) नहीं है, शुक्ला कृष्णमिश्रित भी नहीं है] फिर अयोगियों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् शुक्ल (शुभ), कृष्ण (अशुभ) और शुक्लकृष्ण (शुभाशुभ मिश्रित)। योगियों के अर्थात् स्थितप्रज्ञों के कर्मसमूह ब्रह्म में ही समर्पित होने के कारण वे किसी प्रकार के कर्मफलों से बद्ध नहीं होते हैं, अतः उनके सभी कर्म अशुक्लकृष्ण अर्थात् अकर्म ही होते हैं। इस प्रकार पापी व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा की भावना करने से योगी स्वयं भी उन पापसमूह के प्रति विरुद्ध वासना से युक्त होकर पापों से निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा होने से पुण्य कर्म न करने से और पाप कर्म करने से होने वाले पश्चाताप का अभाव होने के कारण साधक का चित्त प्रसन्न हो जाता है। इस प्रकार सुखी प्राणियों के प्रति मैत्री भावना करने वाले का केवल [सुखकर वस्तुओं में] राग (आसक्ति) की निवृत्ति ही नहीं होती परन्तु दूसरे के प्रति असूया, ईर्ष्या आदि की भी निवृत्ति हो जाती है। दूसरे के गुण में दोष देखना 'असूया' है और दूसरे के गुणों को सह न सकना 'ईर्ष्या' है। मैत्री की भावना करते हुए जब दूसरे के सुख में अपने ही सुखका अनुभव होता है तब दूसरे के गुणों में असूयादि कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार दुःखी व्यक्तियों के प्रति करुणा की भावना करते रहने पर (शत्रु आदि के प्रति भी करुणा का उदय होता रहता है अतः) शत्रुवध (शत्रुओं की हत्या) आदि रूप के कर्म में जिस द्वेष के द्वारा प्रवृत्ति होती है उस द्वेष की निवृत्ति हो जाती है और साथ साथ दुःखियों के साथ तुलना कर 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार का दर्प भी दूर हो जाता है। इस प्रकार अन्य दोषों की भी निवृत्ति हो जाती है इसी प्रकार योगवाशिष्ठ, रामायण इत्यादि ग्रन्थों में दूसरे दोषों की निवृत्ति का भी वर्णन किया गया है। अतः तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय इन तीनों

का अभ्यास कहना चाहिये। इनमें किसी भी उपाय के द्वारा तत्त्वचिन्ता के पुनः पुनः अभ्यास को 'तत्त्वज्ञानाभ्यास' कहते हैं। शास्त्र में कहा गया है—"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥ सर्गादावेव नोपन्नं दृश्यं नास्त्येव सर्वदा। इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम्॥" अर्थात् ब्रह्म का चिन्तन करना ब्रह्मविषयक आलोचना, परस्पर उस ब्रह्मरूप विषय को समझना तथा समझाना अर्थात् उसी के विषय में प्रश्नोत्तर करना, और एतदेकपरत्व अर्थात् एकमात्र ब्रह्म-परायणता—इसी को ज्ञानीजन ब्रह्माभ्यास या तत्त्वाभ्यास कहते हैं। सृष्टि की आदि में दृश्य पदार्थ उत्पन्न नहीं हुए और वे सदा विद्यमान भी नहीं रहते—यह जगत् है तथा इसका ज्ञाता मैं हूँ—इस प्रकार की भावना भी सत्य नहीं है अर्थात् यह दृश्य जगत् कभी है ही नहीं, इसे पंडितों ने श्रेष्ठ बोधाभ्यास (ज्ञानाभ्यास) कहा है। जिस योगाभ्यास के द्वारा दृश्य की भावनाओं का लोप (नाश) होता है उसे 'मनोनिरोधाभ्यास' कहा जाता है। इसलिये शास्त्र में कहा गया है—'अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः। युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेऽप्यत्राभ्यासिनः स्थिताः॥' अर्थात् जो लोग युक्ति (योग) और शास्त्र के अनुसार ज्ञाता तथा ज्ञेय वस्तु के अत्यन्त अभाव की सम्पत्ति (सिद्धि) के लिए चेष्टा करते हैं (अर्थात् स्वरूपतः ये सत् नहीं हैं, इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं) वे ही अभ्यासी (मनोनिरोधाभ्यासशील) माने गये हैं। ज्ञाता तथा ज्ञेय वस्तुओं में मिथ्यात्व बुद्धि होना 'अभाव-सम्पत्ति' है। और उनके स्वरूप से अप्रतीति 'अत्यन्ताभावसम्पत्ति' है। 'दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे। रतिर्घनोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यास स उच्यते॥ अर्थात् दृश्य पदार्थ रहना असम्भव है इस प्रकार जानकर रागद्वेषादि के क्षय हो जाने पर जो घनोदित रति (घनीभूत प्रेम) अर्थात् अविच्छिन्न रूप से ब्रह्मतत्त्व में आसक्ति प्रकट होती है वह ब्रह्माभ्यास कहा जाता है। रागद्वेषादि की क्षीणता का अभ्यास और वासनाक्षय का अभ्यास दोनों एक ही बात है। अतः तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय के अभ्यास से रागद्वेषरहित होकर जो अपने और पराये सुखदुःखादि में समदर्शी हुए हैं वे परमयोगी माने गये हैं। और जो विषमदृष्टि है अर्थात् अपने के समान दूसरे के दुःखादि में जिनकी समदृष्टि नहीं है वे तत्त्वज्ञानी होने पर भी अपरम योगी हैं।

(२) श्रीधर—[इस प्रकार भगवान का भजन करने वाले योगियों में

जो योगी सर्वभूतों के प्रति अनुकम्पाशील हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं, यह अब श्री भगवान् कह रहे हैं]

यः सर्वत्र—जो सर्वभूतों में आत्मौपम्येन सुखं वा यदि वा दुःखं पश्यति—आत्मा की उपमा से [अपने आपकी सादृश्य (समानता) से]। जिस प्रकार सुख मुझे प्रिय है और दुःख अप्रिय है, उसी प्रकार दूसरों को भी सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। इस प्रकार अपने सदृश सर्वत्र समदृष्टि रखकर जो सभी के लिये सुख की कामना करते हैं, किसी के लिये भी दुःख नहीं चाहते, सः योगी परमः मतः—मेरे मत में (मेरे मतानुसार) वे योगी ही परम अर्थात् श्रेष्ठ हैं।

(३) शंकरानन्द—'सर्वभूतसुहृच्छान्तः' (सर्वभूतों का सुहृत् शान्त) 'ज्ञानमुत्पद्यते पुसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' (पाप कर्मों का क्षय होने पर पुरुषों को ज्ञान उत्पन्न होता है) इस प्रकार स्मृति वाक्य के अनुसार सर्वभूतों के सुहृद् होकर मन, वाणी, शरीर और कर्मों के द्वारा जो प्राणियों के दुःखों के कारण नहीं होते हैं, वे ही (क) श्रवण तथा मनन के अधिकार (ख) उससे उत्पन्न ज्ञान तथा (ग) उसके फल मोक्ष को प्राप्त होते हैं—अन्यथा नहीं। अतः श्रवणादिनिष्ठ मुमुक्षु यति को सभी प्राणियों के सुख तथा दुःख को अपने सुख दुःख के समान जानकर, उन प्राणियों को किसी प्रकार दुःख न देना चाहिए, इसे समझाने के लिए कह रहे हैं—

आत्मौपम्येन—सब प्राणियों के सुख दुःख के वेदनरूप (ज्ञानरूप) क्रिया में आत्मा अर्थात् स्वयं ही जिसकी उपमा (दृष्टान्त) है उसे 'आत्मोपम' कहा जाता है। उसका भाव 'आत्मौपम्य' है। उसके द्वारा अर्थात् अपने साथ समानता के द्वारा (अपने सुख दुःख के समान दूसरे के दुःख को देखकर) सुखं वा यदि वा दुःखं सर्वत्र समं यः पश्यति—वा शब्द का अर्थ है च (एवं) यदि शब्द का अर्थ 'अपि' (भी)। सर्वत्र अर्थात् सर्व प्राणियों में सुख को भी एवं दुःख को भी जो समान रूप से देखते हैं अर्थात् अपने लिये सुख जिस प्रकार इष्ट है और दुःख अनिष्ट है उसी प्रकार सर्व प्राणियों का भी सुख इष्ट है और दुःख अनिष्ट है, ऐसा जानकर वाणी, मन तथा क्रियाओं के द्वारा दूसरे का कभी एवं किसी प्रकार भी विक्षेप का उत्पादन नहीं करते हैं अर्थात् दूसरे को दुःख नहीं पहुँचाते हैं, सः योगी परमः मतः—मेरे मत में (अर्थात् मेरे मतानुसार) ऐसे लक्षणयुक्त योगी को परम (उत्कृष्ट या श्रेष्ठ) माना जाता है। अथवा आत्मौपम्येन—आत्मौपम्य से अर्थात् जिस प्रकार

मैं नित्यमुक्तस्वरूप होने के कारण देह और उसके धर्म, कर्म, सुख-दुःखादि के सम्बन्ध से रहित हूँ, उसी प्रकार सभी देही भी देह तथा उसके धर्म, कर्म सुख-दुःख आदि के सम्बन्ध से रहित ही हैं। इस प्रकार अपनी उपमा के द्वारा प्रत्यग् दृष्टि से (आत्मज्ञान की दृष्टि से) यद्यपि सभी को नित्य मुक्त जानते हैं तथापि बाह्यदृष्टि से **यः सुखं वा यदि वा दुःखं सर्वत्र समं पश्यति**—सुख तथा दुःख को समान रूप से [अर्थात् अपने सुख-दुःख के समान सर्वत्र (अर्थात् सर्वभूतों के) सुख-दुःख को] जो ब्रह्मविद् देखते हैं। 'कीटवद् विचरेन्महीम्' (कीट यानी कीड़े को तरह पृथ्वी में विचरे) इत्यादि स्मृति-प्रमाण के द्वारा 'मैं मुक्त हूँ अतः मेरा पापलेश नहीं है' ऐसे अभिमान का परित्याग कर सर्वत्र आत्मबुद्धि से स्थित रहकर जो किसी भी प्राणी को दुःख देकर उसका विक्षेप उत्पन्न नहीं करते **सः योगी परमः मतः**—सर्वप्राणियों में आत्मबुद्धि रहने के कारण सुखी प्राणियों के अनुकूलवर्ती वे योगी (अर्थात् योगनिष्ठ ब्रह्मविद् यति) परम (अर्थात् सभी ज्ञानियों में सर्वोत्तम) हैं, यही मेरा अभिमत है।

(३) **नारायणी टीका—सः योगी परमः मतः**—'परम' और 'अपरम'—ये उभय प्रकार के योगियों को निर्विकल्प समाधि में कोई भेदज्ञान (द्वैतबुद्धि) नहीं रहता है। अतः सुख अथवा दुःख अथवा अन्य सब कुछ उनके निकट आत्मा के रूप से ही प्रतिभात (ज्ञात) होता है। केवल व्युत्थानावस्था में ही 'परम' तथा 'अपरम' योगी के व्यवहारों में भेद रहता है। रागद्वेषरहित होने से ही व्यवहार में भी समत्व बुद्धि स्थिर रहती है तथा सम्पूर्ण रूप से अहिंसक होना सम्भव है। मनोनाश तथा वासनाक्षय न होने से रागद्वेष का समूल (सम्पूर्ण रूप से) उच्छेद (यानी नाश) सम्भव नहीं होता है। अतः व्युत्थानावस्था में चित्त के रागद्वेषरूप विक्षेप की सम्भावना रहने के कारण जीवन्मुक्ति के आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं होती है। इसलिए तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ योगी को दृढ़ अभ्यास के द्वारा मनोनाश तथा वासनाक्षय भी करना चाहिये जिससे सर्वभूतों में समदर्शी होकर अर्थात् परम योगी होकर जीवन्मुक्ति के आनन्द प्राप्त कर सकें, यही इस श्लोक में कहने का अभिप्राय है। योगवाशिष्ठ रामायण में एवं विद्यारण्य कृत "जीवन्मुक्ति विवेक" ग्रन्थ में इसके सम्बन्ध में जो कहा गया है, वह संक्षेप से नीचे दिया गया है—

(१) **तत्त्वज्ञान**—ये द्वैत दृश्य-पदार्थ जो कि जगत्‌रूप से प्रतीत

(ज्ञात) होते हैं वे सभी अद्वयाखंड चिदानन्द आत्मा में कल्पित हैं, अतः मिथ्या हैं—आत्मा या भगवान् या ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत् वस्तु है एवं "मैं ही वह ब्रह्म हूँ" (स एवाहम्), इस प्रकार साक्षात् अनुभव ही तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का प्रधान उपाय (साधन) है (क) श्रवण (ख) मनन और (ग) निदिध्यासन।

(२) मनोनाश—मन में सर्वदा वृत्तियों का परिणाम चलता रहता है। निरोध समाधि के—अभ्यास के द्वारा चित्त जब सर्व प्रकार वृत्ति से रहित हो जाता है तब मनोनाश होता है। मनोनाश का साधन (उपाय) है योग अर्थात् दृश्य तथा दर्शन का त्याग कर आत्मा में सदा युक्त रहकर मन को चिन्तारहित या संकल्परहित करने से ही मनोनाश होता है। इसलिए गीता के ६।२५ श्लोक में कहा गया है 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' अर्थात् योगी मन को आत्मा में स्थिर रखकर (स्थिर कर) फिर कुछ भी चिन्ता न करे।

(३) वासनाक्षय—पूर्वापर (अग्र पश्चात्) विचार न कर चित्त (अन्तःकरण) के पूर्वकालीन संचित संस्कार से जो कामक्रोधादि वृत्तियों का उदय होता है, वही 'वासना' है। राग तथा द्वेष जब तक रहता है वासनाएँ भी तब तक रहती हैं। विवेक तथा विचारपूर्वक दृढ़ अभ्यास के द्वारा जब चित्त को इस प्रकार शान्त किया जाय कि बाह्य उत्तेजक कारण उपस्थित होने पर भी क्रोधादि का फिर उदय न हो तब उस अवस्था में वासनाक्षय हुआ है, ऐसा समझना पड़ेगा। वासनाक्षय का साधन है—(क) पूर्व संस्कारजात वासना की प्रतिकूल वासना का उत्पादन करना और (ख) भगवान् की आराधना के लिये निष्काम कर्म का अनुष्ठान। वासनाएँ दो प्रकार की हैं।

(क) मलिन वासना और (ख) शुद्ध वासना। मलिन वासना का शुद्ध वासना के द्वारा नाश करना चाहिये। योगशास्त्र में कहा गया है :— "वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्" (पा० यो० २।३१) अर्थात् हिंसा, असत्य, अस्तेय इत्यादि यमनियमों के अङ्गसमूह जब हिंसादि के संकल्पों के द्वारा बाधाप्राप्त होते हैं अर्थात् मैं अपकारी की हत्या करूँगा, झूठी बातें कहूँगा, परधन (दूसरे का धन) हरण करूँगा, इस प्रकार संकल्पों से बाधाप्राप्त होते हैं, तब समाधि के लिये प्रयत्नशील योगी प्रतिपक्ष भावना करें। संसाररूप घोर ज्वलन्त अग्नि में मैं दग्ध हो रहा हूँ, इस घोर अग्नि से अपने को मुक्त

करने के लिये सर्वभूत को अभय प्रदान कर मैं यम, नियम इत्यादि धर्मों का आश्रय किया हूँ, अब मैं यदि अहिंसादि धर्मों का परित्याग कर फिर हिंसादि अधर्मों का आश्रय लूँ तो मेरा आचरण कुकुर (कुत्ते) के समान ही होगा। कुत्ता जिस प्रकार वमन (उलटी) कर उसे फिर भोजन करता है, मैं भी उसी प्रकार हिंसादि का संन्यास (सम्यक् प्रकार से त्याग) कर फिर उसे ग्रहण करके कुत्ते के समान ही आचरण करूँगा। अशुभ भावनाओं को इस प्रकार प्रतिपक्ष भावना अर्थात् शुभ वासनाओं के द्वारा नष्ट (नाश) करना चाहिये। सुखी प्राणियों के प्रति मैत्री या मित्रता, दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा या दया, पुण्यवृत्ति सम्पन्न प्राणियों के प्रति मुदिता या हर्ष और अपुण्यवृत्ति युक्त अर्थात् पापकर्मों में लिप्त प्राणियों के प्रति उपेक्षा या उदासीनता रूप भावनाओं के द्वारा सात्विक धर्म उत्पन्न होने से ईर्ष्या, अपकार करने की इच्छा, असूया (दूसरे के गुणों में दोष दर्शन करना) तथा द्वेष इत्यादि रूप मन्त्रों का नाश होने के कारण चित्त (अन्तःकरण) प्रसन्न होता है (पातञ्जल २।३३)। चित्त प्रसन्न होने से एकाग्र होकर आत्मा में स्थितिलाभ करता है और मनोनाश तथा वासनाक्षय (रागद्वेषशून्यता) भी होते हैं। जब तक ऐसा नहीं होता है तब तक चित्त में विक्षेप का हेतु रहने के कारण जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त होना असम्भव है। तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय होने से ही समाधि तथा व्युत्थान इन दोनों अवस्थाओं में ही सर्वत्र समदर्शन (एक ही आत्मा का दर्शन) होता रहता है। इस अवस्था में ज्ञानी की कोई भेददृष्टि नहीं रहती है अर्थात् दूसरे के सुख में अपना सुख और दूसरे के दुःख में अपना दुःख— ज्ञानी ऐसा अनुभव करते हैं। इसलिए उन्हें परम योगी (योगियों में श्रेष्ठ योगी) कहा जाता है।

[मन जबतक पूर्णरूप से स्थिर न हो तब तक पूर्ववर्ती श्लोकों में उक्त आत्मसंस्थता, समत्वदर्शन इत्यादि की प्राप्ति असम्भव है। किन्तु मन स्वभावतः ही अत्यन्त चंचल है, उसे निर्विशेष परमात्मा में कैसे स्थिर किया जा सकता है ? अर्जुन अब यह प्रश्न कर रहे हैं अथवा उपर्युक्त पूर्ण ज्ञानरूप योग को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है ऐसा समझ कर अर्जुन ने उसकी प्राप्ति के निश्चित उपाय को सुनने की इच्छा कर कहा—]

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अन्वय—अर्जुन उवाच हे मधुसूदन ! त्वया साम्येन अयम् यः योगः प्रोक्तः चञ्चलत्वात् एतस्य स्थिराम् स्थितिम् अहम् न पश्यामि ॥

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन ! आपने जो सर्व समत्वदर्शन रूप योग (तत्त्व) के विषय में कहा, मन की चञ्चलता के कारण मैं उसकी स्थिर (निश्चल) स्थिति को नहीं देख पाता हूँ।

भाष्यदीपिका—**अर्जुनः उवाच**—अर्जुन ने कहा—**हे मधुसूदन !** मधु दैत्य का विनाशक ! मेरे अन्तःकरण के तमः रजः रूप मधुदैत्य को हनन कर (वध कर) एक मात्र सर्वशक्तिमान् तुम्हीं इसे चंचलतारहित करने में समर्थ हो, मेरी अपनी शक्ति से यह सम्भव नहीं है, 'मधुसूदन' सम्बोधन के द्वारा इसी भाव को अर्जुन प्रकाश कर रहे हैं। [अथवा मधुसूदन—हे सकल वैदिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक ! (मधुसूदन)] **त्वया साम्येन अयं यः योगः प्रोक्तः**—आपने जो समत्वरूप योग कहा है अर्थात् चित्त रागद्वेषादि रहित एवं लय-विक्षेपशून्य होकर केवल आत्माकारा वृत्ति के द्वारा सदा अवस्थान करने से जो समदर्शन रूप योग प्राप्त होता है **चञ्चलत्वात् एतस्य स्थिराम् स्थितिम् अहम् न पश्यामि** मन की चञ्चलता के कारण मैं इस योग की अचल स्थिति नहीं देखता हूँ अर्थात् इस प्रकार चञ्चल मन की आत्मा में कैसी स्थिर रूप से स्थिति हो सकती है वह मैं नहीं समझता हूँ। यह बात (अर्थात् मन की चञ्चलता) तो प्रसिद्ध ही है। [मन स्वभावतः अत्यन्त चञ्चल है अतः इस सर्व मनोवृत्ति निरोधरूप योग की जिससे समत्वभावरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सका है उस याग की) निश्चल स्थिति (निष्ठा) मेरे लिए अथवा मेरे समान अन्य किसी योगाभ्यासकारी के लिए असम्भव है ऐसी ही मुझे प्रतीति हो रही है।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[उक्त प्रकार लक्षण युक्त योग सिद्ध होना असम्भव है, ऐसा सोचकर] अर्जुन ने कहा—**हे मधुसूदन ! साम्येन यः अयं योगः**—समत्व भाव के द्वारा मन लय तथा विक्षेप से शून्य होकर केवल आत्माकार से अवस्थान के द्वारा जो यह योग **त्वया उक्तः**—आपके द्वारा कहा गया अर्थात् आपने बताया **चञ्चलत्वात्**—मन की (चित्त की) चञ्चलता के कारण **एतस्य स्थिरां स्थितिं न पश्यामि**—इस योग की स्थिरा स्थिति मैं नहीं देख रहा हूँ [अर्थात् मन स्वभावतः चंचल है अतः इस योग की स्थिरा (दीर्घकाल तक रहनेवाली) स्थिति कैसी सम्भव है ? वह मैं नहीं समझ पाता हूँ]।

(२) शंकरानन्द—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' (मन का आत्मा में सम्यक् प्रकार से स्थित कर कुछ भी चिन्तन न करें—गीता ६।२५), 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता' (जिस प्रकार वायु-शून्य स्थान में स्थित दीपक कम्पित नहीं होता है, वही योगनिष्ठ पुरुष की उपमा मानी जाती है—गीता ६।१९) इत्यादि वाक्यों से योग सिद्धि के लिए योगियों को मन का आत्मसंस्थत्व, निवात (वायुशून्य स्थान में स्थित) प्रदीप के समान निश्चलत्व का सम्पादन करना होगा, यह सुनकर अन्तःकरण की आत्मसंस्थता तथा स्थिरता की सिद्धि के उपाय को जानने की इच्छा कर अर्जुन ने कहा—

यः अयं योगः—'योगी युञ्जीत सततम्' (योगी सदा योग करें—गीता ६।१०) इत्यादि वाक्यों के द्वारा कैवल्यार्थी मुमुक्षु यति के कर्तव्य के रूप से यह योग अर्थात् ध्यानयोग साम्येन त्वया प्रोक्तः—साम्य अर्थात् साधारण रूप से आपने कहा है, किन्तु मन का निरोध करने का साधन निरूपणपूर्वक आपने विशेषरूप से नहीं कहा अतः चञ्चलत्वात्—मन की चंचलता के कारण एतस्य—आपके द्वारा प्रतिपादित योग की स्थिराम्—निश्चला स्थितिं—स्थिति या निष्ठा अहं न पश्यामि—मैं नहीं देख रहा हूँ अर्थात् ब्रह्म में अन्तःकरण के स्थिर करने का साधन मैं नहीं जानता हूँ [क्योंकि आपने अब तक उसके सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से मुझे उपदेश नहीं दिया]।

(३) नारायणी टीका—साम्येन—साम्येन शब्द का अर्थ समत्वरूप योग कहा गया है किन्तु इसका अन्य प्रकार अर्थ भी किया जा सकता है (शंकरानन्दी टीका द्रष्टव्य)। साम्येन—साधारण्येन अर्थात् मुमुक्षु यति के कर्तव्य के रूप से साधारण रूप से इस योग का वर्णन आपने किया, किन्तु मन का निरोध करने का साधन निरूपण कर विशेषरूप से उसकी क्रम-पद्धति का विस्तार नहीं किया। स्थिराम् स्थितिम्—२९ श्लोक से ३२ श्लोक तक जो समत्व-दर्शनरूप योग कहा गया है उसमें स्थित होने से शत्रु-मित्र, अच्छाई-बुराई, सुन्दर-कुत्सित सब एक हो जाते हैं। सब ही आत्मा या भगवान् हैं, ऐसा प्रतीत होने से धार्मिक युधिष्ठिर तथा दुष्ट स्वभाव वाले दुर्योधन के प्रति कोई भेददृष्टि नहीं रह सकती है। चीनी से प्रस्तुत खिलौना (चाहे कुत्ता, बिल्ली, साधु, चोर या राजा हो) सभी के बाहर तथा अन्दर चीनी ही रहती है—इनके नाम और रूप में भेद रहने पर भ, इनके प्रत्येक कण में (कण-कण में) चीनी ही विद्यमान रहती है। किन्तु जब तक मन

को निश्चल कर आत्मदर्शन नहीं होता है तब तक इस प्रकार समत्व भाव सम्भव नहीं होता है। सम्यग् ज्ञान प्राप्ति के पहले कुछ समय के लिये परोक्ष ज्ञान की सहायता से इस प्रकार भाव की रक्षा करना सम्भव होने पर भी स्थायी रूप से इस प्रकार साम्य भाव में स्थिति कैसे प्राप्त हो सकती है, उसे ही जानने की इच्छा कर अर्जुन ने पूछा।

[पूर्व श्लोक में अर्जुन ने मन का स्वभाव साधारणरूप से कहा है। अब मन की चंचलता को विशेषरूप से प्रतिपादन कर योगसिद्धि का निश्चित उपाय क्या है ? वह पूछ रहे हैं—]

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

अन्वय—हे कृष्ण मनः हि चञ्चलम् प्रमाथि बलवत् दृढम्, अहं तस्य निग्रहं वायोः इव सुदुष्करं मन्ये।

अनुवाद—हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चंचल है। मन केवल अत्यन्त चंचल ही नहीं, किन्तु [अनेक दस्यु यानी लुटेरा जिस प्रकार एक पथिक को 'प्रमथन' (लूट) करते हैं उसी प्रकार] मन, शरीर और इन्द्रियादि के भी प्रमाथि (प्रमथनशील) अर्थात् अत्यन्त विक्षेपकर होता है। फिर यह मन [प्रबल व्याधि जिस प्रकार औषधियों के वश नहीं होती है उसी प्रकार] बलवान् तथा [नागपाश के बन्धन को जिस प्रकार तोड़ा नहीं जा सकता है उसी प्रकार] दृढ़ है। [जिस प्रकार प्रतिकूल] वायु को निरोध करना (रोकना) अत्यन्त दुष्कर है उसी प्रकार इस मन को निग्रह करना भी अत्यन्त दुष्कर (कठिन) है, ऐसा मैं मानता हूँ।

भाष्यदीपिका—हे कृष्ण !—'कृष् विलेखने' अर्थात् कृष् धातु का अर्थ है विलेखन (निवारण) या कर्षण (आकर्षण) करना। भक्तजनों के पापादि दोषों को निवृत्त करते हैं (रोकते हैं, दूर करते हैं या मिटाते हैं), इसीलिए भगवान् का नाम है कृष्ण। पापादि दोषों से चित्त की चंचलता उपस्थित होती है। भक्तलोग जब पापादि दोषों का निवारण करने में असमर्थ होते हैं तब जो उन पापादि दोषों का कर्षण अर्थात् निवारण करते हैं तथा पापादि दोषों के प्राप्त होने से जब भक्तलोग पुरुषार्थों को प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं तब जो भक्तों के लिये पुरुषार्थों का आकर्षण करते हैं अर्थात् प्राप्ति करा देते हैं उसे 'कृष्ण' कहते हैं। इस प्रकार सम्बोधन करके अर्जुन

सूचित कर रहे हैं कि—चित्त की चंचलता के हेतु पापादि दोषों को दूर करके (निवारण करके) दुष्प्राप्य समाधि-सुख को तुम ही प्राप्त करा सकते हो (मधुसूदन)। मनः हि चञ्चलम्—मन स्वभावतः अत्यन्त चंचल है, यह तो प्रसिद्ध है [हि शब्द प्रसिद्धार्थ में व्यवहार किया गया है।] प्रमाथि—मन केवल अत्यन्त चंचल है इतना ही नहीं किन्तु वह प्रमथनशील भी है अर्थात् विषयवासना एवं उससे उत्पन्न रागद्वेषलोभादि दोषों के द्वारा धीर तथा विचारशील पुरुष का भी शरीर को क्षुब्ध एवं इन्द्रियादि को विक्षिप्त अर्थात् परवश कर देता है। फिर वह (मन) बलवत्—(प्रबल) है अर्थात् बड़ा बलवान् है अर्थात् किसी से भी वश में नहीं किया जा सकता है। अतः उसे नियन्त्रण करना (रोकना यानी विषयों से निवृत्त करना) अत्यन्त दुष्कर (कठिन) है। ऐसा प्रतीत होता है कि मन आत्मा से भी बलशाली है क्योंकि व्यावहारिक जगत् में निर्विकार आत्मा को भी विकृत कर नासिकाबद्ध पशु की तरह इतस्ततः आकर्षण कर भ्रमण कराता है।

दृढम्—साथ ही यह बड़ा दृढ़ भी है अर्थात् तन्तुनाग (गोह) नामक जलचर प्राणी की भाँति अच्छेद्य है। प्रत्येक क्षण में सैकड़ों विषय वासनाएँ वृद्धि प्राप्त होकर इस मन को नित्य सरस तथा बलवान् कर रही हैं। अतः करोड़ों जन्म तक कोशिश करके भी इसे कृष् नहीं किया जा सकता है या छेदन नहीं किया जा सकता है। अहम् तस्य निग्रहम् वायोः इव सुदुष्करम् मन्ये—वायु को निग्रह (दमन) करना अत्यन्त दुष्कर है। आकाश में प्रवाहित वायु को निश्चल करना या उसकी तीव्र गति को निरुद्ध करना (रोकना) किसी के लिये सम्भव नहीं है, उसी प्रकार मैं (वायु के समान) इस मन को निग्रह (निरोध) कर वृत्तिहीन करके आत्मा में स्थित करना भी अत्यन्त दुष्कर (कठिन) मानता हूँ। (मन को निग्रह करना यानी रोकना एक प्रकार असम्भव है, यही मेरा मत है।)

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—(१) दृढम् इत्यादि—भाष्य में कहा है—'तन्तुनागवदच्छेद्यम्' (तन्तुनाग के समान अच्छेद्य)। तन्तुनाग का अर्थ नागपाश है अथवा गुजरात आदि देशों में प्रसिद्ध गम्भीर ताल में रहने वाला 'तान्तनी' नाम का एक जीवविशेष है। मन तन्तुनाग के समान दृढ़ होने के कारण बलवान्, बलवान् होने के कारण प्रमाथि (प्रमथनशील) और प्रमाथि होने के कारण अत्यन्त चञ्चल है। अतः वन में रहने वाला महामदोन्मत्त गजराज के समान मन का निग्रह (निरोध) अर्थात् वृत्तिशून्य

कर मन को स्थिर करना मैं दुष्कर (सर्वथा अशक्य) मानता हूँ। वायु के समान (अर्थात् जिस प्रकार आकाश में वहते हुए वायु को निश्चल कर उसे रोकना असम्भव है ऐसा ही) मन को रोकना (चित्तवृत्ति का निरोध करना) भी असम्भव मानता हूँ।

(२) मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार इस श्लोक का भावार्थ इस प्रकार है—तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के फलभोग के लिये जीवन धारण कर रहे हैं, ऐसा पुरुष का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख एवं रागद्वेषादिरूप चित्त के धर्मसमूह बाधितानुवृत्ति के रूप से विद्यमान रहने पर भी (अर्थात् प्रारब्ध के अनुसार भोग होते रहने पर भी) वे सब चित्तधर्म क्लेश के हेतु होते हैं, अतः वे भी बन्धनरूप ही हैं। चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग के द्वारा जो उन सबकी निवृत्ति कर सकते हैं उन्हें 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। ऐसी जीवन्मुक्ति का सम्पादन करने वाले योगी को लक्ष्य करके ही कहा गया है—"स योगी परमः मतः" अर्थात् वह ही परम (श्रेष्ठ) योगी है। अब प्रश्न होगा—परम योगी होने से बन्धन की निवृत्ति होगी ऐसा कहा गया। उस बन्धन की निवृत्ति चैतन्य से होती है या चित्त से ? इनमें से पहला पक्ष तो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि तत्त्वज्ञान से ही साक्षी के बन्धन की निवृत्ति होती है। और दूसरा पक्ष भी संगत नहीं है क्योंकि स्वभाव का विपर्यय (व्यक्तिक्रम यानी विपरीत) होना सम्भव नहीं है, (जिस प्रकार जल की आर्द्रता (गीलापन) अथवा अग्नि की उष्णता की निवृत्ति नहीं की जा सकती)। "चित्शक्ति (शुद्ध चैतन्य) के अतिरिक्त समस्त भाव हो (पदार्थ ही) प्रत्येक क्षण में परिणामशील है" इस नियम के अनुसार प्रत्येक क्षण में परिणाम प्राप्त होना ही चित्त का स्वभाव है। इसलिये चित्त के परिणामित्व को निरोध कर (रोक कर) चित्त को स्थिर करना असम्भव है। द्वितीयतः तत्त्वज्ञान समस्त अविद्या तथा अविधा के कार्य के विनाश के लिये प्रवृत्त होता है किन्तु प्रारब्धभोग के लिये जो कार्य आरब्ध हुआ है वह तत्त्वज्ञान की भी प्रतिबन्धकता कर (तत्त्वज्ञान की स्थिति को बाधा प्रदान कर) अपना फल देने के लिये देह, इन्द्रिय आदि को नियुक्त करता है। कर्म चित्तवृत्तियों के विना अपने फल को (सुख-दुःखादि भोग को) पूरा नहीं कर सकता। [प्रारब्ध कर्म के लिये सुख दुःखादि का भोग अवश्य ही रहेगा। अतः उसके लिये चित्तवृत्ति भी रहेगी। और चित्तवृत्ति रहने से राग-द्वेषादि क्लेशरूप बन्धन भी रहेगा। ऐसी अवस्था में जीवन्मुक्ति कैसे सम्भव होगी ?] अतः यद्यपि चित्त के

स्वाभाविक परिणामों को योग-साधन के द्वारा अभिभूत किया जा सकता है तथापि जिस प्रारब्ध कर्म का फल भोग प्रारम्भ हो गया है वह कर्म जिस प्रकार तत्त्वज्ञान से भी बलवत् (प्रबल) है (क्योंकि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर भी प्रारब्ध कर्मों की फलभोगरूप क्रिया एवं उससे उत्पन्न चित्तवृत्ति चलती रहती है), उसी प्रकार उस फलभोगरूप कर्म वृत्ति निरोधरूप योग से भी प्रबल है। अतः चित्त की चंचलता अवश्यम्भावी होने के कारण योग-साधन के द्वारा उसकी निवृत्ति असम्भव है, यह मैं अपनी बुद्धि से समझ पाता हूँ। ऐसा ही यदि हो तो "आत्मौपम्येन सर्वत्र समदर्शी परमो योगी मतः" अपने दृष्टान्त से सर्वत्र समान देखनेवाले योगी परम माने जाते हैं), यह कहना ठीक नहीं है— यही अर्जुन का आक्षेप (शंका) है।

(२) **श्रीधर**—[पूर्वश्लोक में जो कहा गया है, उसी को स्पष्ट करते हैं-] हे कृष्ण ! हि—चूँकि **मनः चञ्चलम्**—मन स्वभाव से ही अत्यन्त चञ्चल है फिर **प्रमाथि**—प्रमथनशील है अर्थात् देह तथा इन्द्रियों को क्षुब्ध (विक्षिप्त यानी परवश) कर देता है फिर **बलवत्**—वह बड़ा बलवान् है। विचार के द्वारा भी मन को जय करना (वशीभूत करना) असाध्य है। तथा **दृढम्**—दृढ़ भी है विषय-वासनाओं से अनुबद्ध होने के कारण यह दुर्भेद्य है यानी इसे छेदन करना दुष्कर (कठिन) है। **तस्य निग्रहं वायोः इव सुदुष्करम् अहं मन्ये**—अतः आकाश में वेगपूर्वक चलने वाली वायु को घड़े आदि में रोक रखना जिस प्रकार असम्भव है, उसी प्रकार मन का भी निरोध करना (रोकना) सर्वथा (सर्व प्रकार से) दुष्कर (अशक्य) है—यह मैं मानता हूँ।

(३) **शंकरानन्द**—पूर्वश्लोक में जो कहा, उसी को अब विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं—

कृष्ण—'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निवृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥' अर्थात् 'कृषि' भू (सत्ता) वाचक शब्द है, और 'ण' निवृत्तिवाचक (आनन्दवाचक) है। उन दोनों को एक कर (अर्थात् सत्+आनन्द=सदानन्द) जो परब्रह्म हैं, वह कृष्ण कहा जाता है। इस प्रकार सदानन्दरूप परमात्मा कृष्ण के सम्बोधन में 'हे कृष्ण' कहा गया है। **मनः चञ्चलम्**—मन चंचल (चपल) है। यद्यपि नेत्र के पलक भी चञ्चल है, तो भी उसके द्वारा कोई हानि नहीं पहुँचती है, परन्तु मन की चंचलता में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि मन **प्रमाथि**—जिन जिन विषयों के लिये वासनाएँ रहती हैं, तत् तत् विषयों की वासनाओं के द्वारा तथा वासनाओं के कार्य राग-

द्वेष, लोभादि दोषों के द्वारा यह चंचल मन धीर (स्थिर) पुरुष को भी पूर्ण रूप से मथित (विक्षुब्ध यानी विक्षिप्त) कर देता है अर्थात् विवेकी पुरुष को भी अत्यन्त विक्षेप उत्पन्न कर देता है। इसलिये मन प्रमथनशील है अर्थात् पंडित पुरुषों को भी परवश (काम, क्रोध, लोभ आदि का वशीभूत) कर देता है। यद्यपि विष आदि भी प्रमथनशील है तथापि मंत्रादि से विष आदि की क्रियाओं को निगृहीत (दमन) किया जा सकता है किन्तु मन ऐसा नहीं है क्योंकि वह बलवत्—महावेगशाली है। अपनी स्वाभाविक शक्ति के द्वारा वेगशाली होने के कारण मंत्रादि साधनों के द्वारा मन का निरोध (दमन) नहीं किया जा सकता है। जिस प्रकार महावेगशाली बाण को अन्य (दूसरे) साधनों से काट दिया जा सकता है उस प्रकार मन के वेग को काटना सम्भव नहीं है। क्यों नहीं है ? ऐसा यदि कहो तो इसके उत्तर में कहा जायगा दृढम्—वज्रसार (वज्र के समान कठिन) एवं सूक्ष्म होने के कारण मन का भेद नहीं किया जा सकता है तथा उसके वेग का भी छेदन नहीं किया जा सकता है। यतः (चूँकि) मन इस प्रकार लक्षणविशिष्ट है अतः तस्य निग्रहं वायोः इव सुदुष्करं मन्ये—वायु का निग्रह करना (रोकना) जिस प्रकार असम्भव है, उसी प्रकार इस मन का निग्रह करना (निरोध करना या रोकना) सुदुष्कर (अत्यन्त कठिन) है, यह मैं समझता हूँ अर्थात् करोड़ों उपायों के द्वारा भी मन का निरोध करना असम्भव है, यही मेरा अभिमत है। हि—'अप्यब्धिपानान् महतः सुमेरून्मूलनादपि। अपि वह्न्यशनात् साधो विषमश्चित्त-निग्रहः ॥' [समुद्र के पान से भी, महान् सुमेरु के उन्मूलन (उखाड़ने) से भी, अग्नि के भक्षण से भी हे साधो ! चित्त का (मन का) निग्रह करना (रोकना) कठिन है, इत्यादि वाक्य शास्त्र में प्रसिद्ध हैं, यह सूचित करने के लिये 'हि' शब्द का प्रयोग किया है।

(४) नारायणी टीका— [परवर्ती श्लोक की 'नारायणी' टीका द्रष्टव्य]

[पूर्वश्लोक में मन का निग्रह करना असम्भव है, यह सोचकर अर्जुन आत्मस्थिति प्राप्ति के सम्बन्ध में हताश हो गया। श्री भगवान् उसके उत्तर में मन का निग्रह करना कठिन है स्वीकार कर मुमुक्षु के मन को वश करने के लिये किन-किन साधनों का अवलम्बन करना चाहिये यह अब प्रतिपादन कररहे हैं-]

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अन्वय—श्री भगवान् उवाच—हे महाबाहो मनः दुर्निग्रहं चलम् (एतत्) असंशयम् तु हे कौन्तेय अभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते ॥

अनुवाद—श्री भगवान् ने कहा, हे महाबाहो ! मन चञ्चल है, अतः इसे निग्रह करना (दमन करना) अत्यन्त कठिन है, इसमें कोई संशय नहीं है परन्तु हे कुन्ती पुत्र (कौन्तेय) अर्जुन ! अभ्यास से (अर्थात् मन की स्थिति के लिये बारम्बार यत्न करने से) और वैराग्य से इसका निरोध किया जा सकता है। अतः इसके लिये यत्न अवश्य करना चाहिये।

भाष्यदीपिका—**श्रीभगवानुवाच**--श्री भगवान् ने कहा, **हे महाबाहो !**—तुम्हारे अत्यन्त बलशाली बाहुयुगल द्वारा सर्वेश्वर महादेव को एवं निवात कवचादि बड़े-बड़े असुरों का भी तुमने पराजय किया। तुम अतुलनीय पराक्रमशाली होकर भी जब मन को वश करना दुःसाध्य कहते हो तब अवश्य ही उसका निग्रह करना कठिन है (अर्थात् मन का दमन करना अत्यन्त कष्टदायक है), यह सूचित करने के लिए श्री भगवान् ने "महाबाहो" (हे अत्यन्त पराक्रमशाली बाहुयुगलधारी) इस शब्द से सम्बोधन किया। **मनः दुर्निग्रहं चलम् (एतत्) असंशयम्**—मन चंचल है और कठिनता से वशीभूत होने वाला है अर्थात् मन चंचल होने के कारण मन को अचानक (हठपूर्वक) वश में लाना (मन का निग्रह करना) अत्यन्त कठिन है, इस विषय में कोई संशय नहीं है। अतः तुमने जो कहा वह ठीक ही है। [पूर्वश्लोक में उक्त 'प्रमाथि', 'बलवत्' और 'दृढ़' इन तीनों विशेषणों के अर्थ (तात्पर्य) एक साथ प्रकाश करने के लिए यहाँ 'दुर्निग्रह' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् मन दुर्निग्रह है क्योंकि वह केवल चञ्चल ही नहीं है परन्तु 'प्रमाथि, बलवत् तथा दृढ़' भी है—यह ही कहने का अभिप्राय है। (मधुसूदन)] **तु**-परन्तु **हे कौन्तेय !** हे 'कुन्तीपुत्र' इस सम्बोधन के द्वारा श्री भगवान् अर्जुन को स्मरण करा रहे हैं (याद दिला रहे हैं) कि दुर्वासा मुनी अत्यन्त वैराग्यशील और क्रोधी थे। उन्हें कोई वशीभूत कर न सके। अत्यन्त प्रबल राजा लोग भी उन्हें कभी अपने ग्रह में रखकर सेवा न कर सकें, किन्तु तुम्हारी माता-कुन्ती ने निष्कपट सेवा से ऐसे क्रोधी दुर्वासा मुनि को भी अपने ग्रह में रखा तथा उन्हें प्रसन्न (खुश) किया। तुम उसी कुन्ती के पुत्र हो। अतः मन दुर्निग्रह होने पर भी जो उपाय मैं बता रहा हूँ, उसके द्वारा तुम तुम्हारी माता की तरह दृढ़ प्रयत्न से मन को अवश्य ही वश में ला सकोगे। **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**—[प्रारब्ध कर्म बलवान् होने के कारण असंयतात्मा

के लिये मन दुर्निग्रह है (अत्यन्त कष्टकर साधन से भी उसका निग्रह नहीं किया जा सकता है) परन्तु जो योगी संयतात्मा (संयतचित्त) हैं और जिसने केवल मात्र समाधिरूप उपाय का अवलम्बन किया है वही अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को निगृहीत (सर्ववृत्ति से रहित) कर सकता है। असंयतात्मा से संयतात्मा योगी की विशेषता सूचित करने के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है (मधुसूदन)] किसी चित्तभूमि में एक समान प्रत्यय की (वृत्ति की) पुनः-पुनः आवृत्ति करना अभ्यास है अथवा समान चित्तवृत्ति की किसी एक विषय में स्थिति के लिए वारंवार यत्न (प्रयत्न) करने को अभ्यास कहा जाता है। यहाँ आत्मकारा-वृत्ति से आत्मा में स्थितिलाभ करने के लिये पुनः-पुनः (वारंवार) प्रयत्न को ही अभ्यास कहा गया है [पातञ्जल योगशास्त्र भी कहते हैं—"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" (पा० यो० १।१३)]। अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर (सदा) श्रद्धा के साथ अनुष्ठित होने से दृढ़भूमिः (अर्थात् स्थिर) होता है ["स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमिः" (पा० यो० १।१४)]। फिर दृष्टादृष्ट (इहकाल तथा परकाल सम्बन्धी) प्रिय भोगों में वारम्वार दोषदर्शन के अभ्यास से उन भोगों के प्रति जो वितृष्णा उत्पन्न होती है उसे वैराग्य कहा जाता है। ["दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" (पा० यो० १।१५)]। 'च' समुच्चयार्थ में व्यवहार किया गया है अर्थात् अभ्यास और वैराग्य इन दोनों के द्वारा ही मन का निग्रह (निरोध) किया जा सकता है (केवल अभ्यास अथवा केवल वैराग्य के द्वारा नहीं), यह सूचित करने के लिये 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'गृह्यते' शब्द के द्वारा यही निर्देश किया जा रहा है कि उक्त अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त के विक्षेपरूप प्रचार का (अर्थात् चित्त का चारों ओर विचरण करने की प्रवृत्ति का) निग्रह (निरोध) हो सकता है। [पातञ्जल योगशास्त्र में भी कहा गया है 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (पा० यो० १।१२)]। तीव्र (अत्यन्त) वेग से प्रवाहित नदी की धारा को जिस प्रकार सेतुबन्ध के द्वारा निरोध कर (रोक कर) छोटी छोटी नहरों से खेत की ओर प्रवाहित कर (चालित कर) नदी के वेग को शान्त किया जाता है उसी प्रकार वैराग्य के द्वारा चित्त नदी के विषयाभिमुखी प्रवाह को रोककर ध्यान के अभ्यास से उसके प्रवाह को आत्माभिमुखी कर शान्त किया जा सकता है [अर्थात् निरोध किया जा सकता है। चित्त की बहिर्मुखी वृत्ति का निरोध करने से ही चित्त विषयों से विमुख होता है और अन्तर्मुखी होकर आत्मा में स्थितिलाभ करता है (आनन्दगिरि)]।

टिप्पणी। (१) मधुसूदन—मन का निग्रह दो प्रकार से हो सकता है (क) हठ से और (ख) क्रम से। जैसे चक्षु, कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों को तथा वाक्, पाणि आदि कर्मेन्द्रियों को अपने अपने-गोलक में (अधिष्ठान में) ही निरुद्ध करने से (रोक देने से) वे हठपूर्वक वश में हो जाती हैं परन्तु उसी प्रकार 'मन को भी मैं हठपूर्वक अपने वश में कर लूँगा', ऐसी कल्पना मूढ व्यक्ति ही किया करते हैं क्योंकि मन का गोलक (अधिष्ठान) जो हृदय-कमल है उसे हठ से (अकस्मात्) निरुद्ध नहीं किया जा सकता। इसी कारण मन के निरोध क्रम से ही (शनैः शनैः यानी धीरे धीरे) होना सम्भव है। [कहने का अभिप्राय यह है कि चंचल मन को वश में लाना अत्यन्त कठिन है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। फिर भी वह असम्भव नहीं है। हठ से अर्थात् बलपूर्वक किसी प्रक्रिया के द्वारा इसे दमन नहीं किया जा सकता है यह सत्य है, तथापि बड़ी मछलियों को जिस प्रकार बन्सी से गूँथ कर अकस्मात् पकड़ा नहीं जाता है, क्योंकि तब बन्सी के साथ मछली भी चली जायगी और मछलियाँ भी पकड़ीं नहीं जायेंगी, किन्तु यदि धैर्य के साथ जल के अन्दर ही गुँथी हुई मछलियों को नचाकर धीरे-धीरे किनारे में लाया जा सके, तब अनायास मछलियाँ पकड़ी जा सकती हैं। उसी प्रकार स्वभाव से चञ्चल मन को धैर्य के साथ उपयुक्त उपाय के द्वारा क्रमशः (शनैः शनैः) वश में लाना सम्भव है।] योगवाशिष्ठ रामायण में वसिष्ठ ने भी यही बात कही है—

उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम्॥
अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च॥
वासना संपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः॥

अर्थात् अंकुश विना मतवाले और दुष्ट हस्ती को जिस प्रकार वशीभूत नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार चित्त के स्वरूप को जानने वाले पुरुष के निकट पुनः पुनः (बारम्बार) बैठने से भी अनिन्दित युक्ति के विना (अर्थात् उनके द्वारा उपदिष्ट उत्कृष्ट साधन के विना) मन को जीता नहीं जा सकता। अध्यात्मविद्यालाभ, साधुसंग, वासनाओं का परित्याग और प्राणस्पन्द का

निरोध, ये समस्त युक्तियाँ (उपायों) जब पुष्ट होती हैं तब इन सबके द्वारा चित्तजय (मन पर विजय प्राप्त करना) सम्भव होता है। इन सब उपायों के रहते हुए भी जो हठपूर्वक चित्त को वश में लाने का प्रयत्न करते हैं, वे मानो दीपक को परित्याग कर केवल अंजन के द्वारा (कज्जल से) अन्धकार को नष्ट करना चाहते हैं।

(२) क्रमनिग्रह—क्रमनिग्रह में एक उपाय तो अध्यात्मविद्या की प्राप्ति है। शास्त्र का श्रवण तथा उसका मनन और विचार के द्वारा जब सभी दृश्य पदार्थ मिथ्या (मायिक) प्रतीत होते हैं तथा एकमात्र स्वप्रकाशस्वरूप द्रष्टा ही (आत्मचैतन्य ही) परमार्थ सत्य है—यह ज्ञान जब होता है, तब उसे अध्यात्म विद्या या परोक्ष तत्त्वज्ञान कहा जाता है। इस अध्यात्मविद्या की प्राप्ति से विषयरूप दृश्य वस्तुओं में योगी अपनी कोई आवश्यकता नहीं देखते हैं, क्योंकि वे सभी मिथ्या (मायिक) हैं। फिर प्रयोजनवाली परमार्थ-सत्य परमानन्दस्वरूप जो दृक् वस्तु (द्रष्टा) है उसे मन अपना विषय नहीं कर सकता है क्योंकि वह स्वप्रकाश होने के कारण किसी का विषय नहीं होता है। अतः (आत्मा के प्रकाश के लिए) मन की कोई क्रिया (कार्य) नहीं रहने के कारण काष्ठहीन (इन्धनविहीन) अग्नि के समान मन स्वयं ही उपशम को प्राप्त होता है (शान्त हो जाता है)। [मन उपशान्त होने से ही (निरुद्ध होने से ही) स्वयं-प्रकाश आत्मा प्रकट होती है।] और जो व्यक्ति उपदिष्ट तत्त्व को सम्यक् रूप से (सम्पूर्ण रूप से) समझ नहीं पाता है अथवा समझ कर भी विस्मृत हो जाता है (भूल जाता है) उन दोनों के लिए साधुसंग ही मोक्षलाभ का एकमात्र उपाय है क्योंकि साधुजन तत्त्व के विषय को पुनः-पुनः समझाते तथा स्मरण कराते रहते हैं और जो विद्या का गर्व आदि दुर्वासनाओं से ग्रस्त (वशीभूत) रहने के कारण साधुओं के उपदेशों को मानना नहीं चाहते हैं, उनके लिये पूर्वोक्त विवेक के द्वारा वासनाओं का परित्याग ही मन के निरोध का एकमात्र उपाय है। और जो अपनी वासनाओं की अत्यधिक प्रबलता के कारण वासनाओं का परित्याग नहीं कर सकते हैं, उनके लिये प्राणस्पंदन का निरोध ही (प्राण की गति को रोकना ही) मन के निग्रह का उपाय है क्योंकि प्राणस्पंदन और वासना ये दोनों चित्त के प्रेरक होने के कारण उनका निरोध होने पर मन (चित्त) की शान्ति (चित्तवृत्ति की निवृत्ति) सम्भव होती है। [वासनाओं से प्राणस्पंदन की वृद्धि होती है और प्राणस्पंदन की वृद्धि के साथ-साथ मन की चञ्चलता आ जाती है अतः

प्राणस्पंदन और वासनाओं का निरोध होने से मन की स्थिरता सम्पादित होती है।] इस लिये वशिष्ठ जी ने कहा है—

"द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥
असंगव्यवहारित्वाद् भवभावनवर्ज्जनात्।
शरीरनाशदर्शित्वाद् वासना न प्रवर्तते॥
वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम्।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव।
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च॥
यदा न भाव्यते किंचिद् हेयोपादेयरूपि यत्।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते॥
अवासनत्वात् सततं यदा न मनुते मनः।
अमनस्ता तदोदेति परमात्मपदप्रदा॥

अर्थात् चित् वृक्ष के दो बीज हैं :—

(१) प्राणस्पन्द और (२) वासना। इन दोनों में से कोई एक का क्षय (नाश) हो जाने पर दोनों ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं [इसलिए वासनाओं का परित्याग करने के लिए सहायक रूप से प्राणायाम के द्वारा प्राणस्पन्द का निरोध आवश्यक है।] दृढ़रूप से गुरुदत्त उपाय का अवलम्बन कर प्राणायाम के दृढ अभ्यास से तथा आसन, योग और अशन योग (संयत भोजन का अभ्यास) से प्राणस्पन्द का निरोध होता है। और असंग व्यवहार से (सभी वस्तु या व्यक्ति के प्रति आसक्तिहीन होकर लौकिक व्यवहार करने से) संसार की भावनाओं का त्याग होता है और शरीर का विनाशत्व (नश्वरत्व) दर्शन करने से वासनाओं की प्रवृत्ति नहीं होती। वासनाओं के सम्यक्रूप से परित्याग तथा प्राणस्पन्द का निरोध होने से चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है अर्थात् मनोनाश होता है। अतः इनमें से जिसे करना चाहो वही करो। हे राम ! मन में वस्तु की वस्तुरूप से और रसरूप से जो भावना करनी है इसी को मैं चित्तका स्वरूप समझता हूँ। जब चित्त में हेय (परित्याज्य) और उपादेय (ग्रहण योग्य) किसी भी वस्तु की

चिन्ता नही रहती है अर्थात् चित्त जब सर्व चिन्ता से रहित होकर स्थित हो जाता है तब फिर चित्त उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् चित्तवृत्तिका उदय नहीं होता है। इस प्रकार मन जब निरन्तर वासनारहित हो जाता है अर्थात् फिर मनन (अर्थात् विषय के चिन्तन) नही करता है तव परमात्मपद को देनेवाली (अचित्तता) का उदय होता है अर्थात् तव निर्विकल्प मन में परमात्मा का प्रकाश होता है। अतः संक्षेप में मन के निरोध का दो उपाय हैं—(१) प्राणस्पन्द का निरोध (२) वासनाओं का परित्याग। प्राणस्पन्द के निरोध के लिये अभ्यास और वासनाओं के परित्याग के लिये वैराग्य ये दो ही उपाय निश्चित हुए हैं। अर्थात् अभ्यास तथा वैराग्य ही मन निरोध का प्रधान उपाय है। साधु-संग और अध्यात्म विद्यालाभ अभ्यास तथा वैराग्य इन दोनों का साधक (सहायक) होने से अन्यथासिद्ध हैं। (अतः वह मन निरोध का स्वतन्त्र कारण नही हैं क्योंकि वह अभ्यास तथा वैराग्य के ही अन्तर्गत हैं।) [इस प्रकार शनैः शनैः इन सव उपायों के द्वारा चित्त का जय करना चाहिये—इसको हठपूर्वक निरोध करना सम्भव नहीं होता है। श्लोक के प्रथम पद में "असंशयम्" इत्यादि वाक्य का यही तात्पर्यार्थ है।]

इसलिये श्रीभगवान् ने कहा—'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' अर्थात् श्रीभगवान् ने मन का निरोध करने के लिये अभ्यास और वैराग्य इन दोनों उपायों का निर्देश किया। पातञ्जल योगशास्त्र में भी कहा गया है—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करना चाहिये। चित्तवृत्तियाँ अनन्त हैं, किन्तु फिर भी पातंजल योगशास्त्र में इन्हें पाँच भागों में विभक्त किया गया—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। कुछ वृत्तियाँ आसुरी होने के कारण क्लिष्ट अर्थात् क्लेशदायक हैं तथा कुछ दैव हैं, अतः अक्लिष्ट हैं (ये अक्लिष्ट वृत्तियाँ ही मोक्ष प्राप्ति के लिये सहायक होती हैं)। अभ्यास और वैराग्य से ही सभी चित्तवृत्तियों का अर्थात् आसुरी और दैवी सभी प्रकार की चित्तवृत्तियों का निरोध होता है (अर्थात् इन्धनविहीन अग्नि के समान वे वृत्तियाँ उपशम को प्राप्त होती हैं)। इसलिये योगदर्शन के व्यासभाष्य में कहा गया है कि चित्तरूप नदी की धारा (प्रवाह) दोनों ओर प्रवाहित होती है—पुरुष के कल्याण के लिये बहती है और पाप के लिये भी। जब चित्त नदी कैवल्यप्राग्भारा होती है अर्थात् चित्तवृत्तियों का उत्पत्ति स्थान जब कैवल्य ही होता है (अर्थात् वृत्तियाँ कैवल्य या मोक्ष का ही आश्रय कर उदित होती हैं) तथा विवेकनिम्ना होती हैं (उनमें विवेक पूर्णमात्रा

में गम्भीर रूप से विद्यमान रहता है) तब वह (चित्तनदी) कल्याणवहा होती है अर्थात् वह कल्याण (मोक्ष) के लिये ही बहती है। और चित्तनदी का प्राग्भार (उत्पत्ति स्थान) जब संसार होता है अर्थात् चित्त में जब सांसारिक विषय की वृत्तियों का प्रवाह चलता रहता है और वह नदी अविवेकनिम्ना होती है अर्थात् चित्त में जब अविवेक पूर्ण मात्रा से विद्यमान रहता है तब वह चित्तनदी पापवहा होती है अर्थात् वह पाप (संसारगति) के लिये ही बहती है। विषयरूप स्रोत (धारा) वैराग्य के द्वारा क्षीण (नष्ट) होता है और विवेक दर्शन के अभ्यास के द्वारा कल्याण स्रोत खोल दिया जाता है। इसलिये चित्तवृत्तियों का निरोध वैराग्य तथा अभ्यास इन दोनों ही के अधीन है अर्थात् अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा ही चित्तवृत्तियों का निरोध सम्भव होता है। जिस प्रकार तीव्र वेगवाली नदी के प्रवाह को सेतु या बाँध के द्वारा रोक कर उसमें से नहर काट कर (निकाल कर) खेतों की ओर जाने वाला दूसरा तिर्यक्गामी (तिरछा) प्रवाह उत्पन्न कर दिया जाता है उसी प्रकार वैराग्य के द्वारा चित्तनदी के विषयरूप प्रवाह को रोककर समाधि के अभ्यास से चित्त की प्रशान्तवाहिता सम्पन्न कर दी जाती है अर्थात् चित्त में प्रशान्ति (पूर्णशान्ति) का प्रवाह उत्पन्न कर दिया जाता है। [इस प्रकार चित्त की विषयाभिमुखी वृत्तियों के निरोध का उपाय है वैराग्य और प्रशान्ति का उपाय है समाधि का अभ्यास।] अतः द्वारभेद होने के कारण वैराग्य और अभ्यास इन दोनों का समुच्चय ही (एक साथ अनुष्ठान ही) मन के निरोध का उपाय है। और इन दोनों का कार्य यदि एक ही होता, अर्थात् वैराग्य के द्वारा जो कार्य सिद्ध होता है वही अभ्यास के द्वारा भी सिद्ध होता तो व्रीहियववत् (व्रीहि तथा यव के समान) उनका विकल्प होता। ['व्रीहि-भिर्यजेत यवैर्वा' इस शास्त्र में व्रीहि के द्वारा अथवा यव के द्वारा पुरोडाश प्रस्तुत करने का विधान है अर्थात् व्रीहि से भी पुरोडाश होता है तथा यव से भी होता है। परन्तु मन के निरोध के लिये अभ्यास तथा वैराग्य का प्रयोजन भिन्न होने के कारण इनमें विकल्प नहीं है। अतः इन दोनों का समुच्चय ही (दोनों के एकत्र अर्थात् एक साथ अनुष्ठान को ही) स्वीकार करना होगा।] अब प्रश्न होगा—मन्त्र, जप तथा देवता का ध्यान इत्यादि क्रियारूप साधनों की तो आवृत्तिरूप (पुनः-पुनः अनुष्ठान रूप) अभ्यास सम्भव हो सकता है किन्तु सर्व व्यापारों (क्रियाओं) का उपराम ही (निवृत्ति ही) जब समाधि का स्वरूप है (अर्थात् समाधि में जब कोई क्रिया ही नहीं

रहती है) तब उसका अभ्यास कैसे सम्भव होता है ? इसके उत्तर में अभ्यास किसको कहते हैं ? वह पहले कहा जा रहा है। पातञ्जल योगशास्त्र में कहा गया है—'तत्र स्थितौ यत्नाऽभ्यासः' अर्थात् जहाँ जीव का स्वरूप जो शुद्ध चिदात्मा द्रष्टा है उसमें वृत्तिविहीन (वृत्ति रहित) चित्त की जो प्रशान्तवाहिता रूप निश्चलता होती है उसका नाम 'स्थिति' है। उसके लिये जो यत्न किया जाता है, उसको 'अभ्यास' कहते हैं अर्थात् 'स्वाभाविक, चंचल तथा बहिःप्रवण स्वभाव (बाहर की ओर आने के स्वभाव वाले) चित्त को मैं किसी भी प्रकार से निरोध करूँगा (रोक दूँगा), ऐसा जो मन का उत्साह है वह पुनः-पुनः किये जाने पर अभ्यास कहा जाता है। दीर्घकाल तक उस अभ्यास का यदि अविच्छिन्न रूप से निरन्तर सत्कारपूर्वक (अत्यन्त श्रद्धा के साथ) अनुष्ठान किया जाय तो वह अभ्यास दृढ़भूमि को प्राप्त होता है अर्थात् विषय वासनाओं के द्वारा वह चालित होने के अयोग्य होता है (अर्थात् चालित नहीं हो सकता)। ['स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमिः पा० यो०]। किन्तु दीर्घकाल तक उस अभ्यास का यदि सेवन (अनुष्ठान) न किया जाय अथवा दीर्घकाल तक उसका (उस अभ्यास का) यदि विच्छिन्न रूप से (छोड़-छोड़ कर) अनुष्ठान किया जाय अथवा अभ्यास करने के समय यदि सत्कारभाव (अत्यधिक श्रद्धा) न रहे तो लयविक्षेपरूप दोष तथा समाधि का रस (सुख) आस्वादन रहने के कारण व्युत्थानसंस्कार बलवान् रहता है। अतः वह अभ्यास दृढ़भूमि प्राप्त नहीं होता है और इस कारण से उस अभ्यास से विशेष कोई फल प्राप्त नहीं होता है। इसलिये पातञ्जल योगसूत्र में (क) दीर्घकाल (ख) नैरन्तर्य और (ग) सत्कार तीनों का ही ग्रहण किया गया है। वैराग्येण च गृह्यते—वैराग्य दो प्रकार के हैं—पर तथा अपर। पुनः अपर वैराग्य चार प्रकार का है—(१) यतमान संज्ञा, (२) व्यतिरेक संज्ञा, (३) एकेन्द्रियसंज्ञा तथा (४) वशीकार संज्ञा। उनमें पूर्व-पूर्व भूमि को जय कर पर भूमि को प्राप्त करना पड़ता है, यह कहने के उद्धेश्य से पातञ्जल योगशास्त्र में केवल चतुर्थ प्रकार के अपर वैराग्य का अर्थात् वशीकार संज्ञक अपर वैराग्य का लक्षण बताया गया है—"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार-संज्ञा वैराग्यम्"। स्त्री, अन्न, पानीय, ऐश्वर्य इत्यादि दृष्टविषय हैं तथा स्वर्ग, विदेहता और प्रकृतिलय इत्यादि वैदिक होने से आनुश्रविक हैं। इन दोनों ही प्रकार के विषयों में तृष्णा रहने पर विवेक के तारतम्य से यतमान आदि तीन प्रकार के ही वैराग्य होते हैं। इस जगत् में क्या सार (तत्त्व) है

और क्या असार है ? यह मैं गुरु तथा शास्त्रों से जानूँ—इस प्रकार का उद्योग यतमान वैराग्य है। अपने चित्त में पहले जो दोष विद्यमान थे उनमें से विवेक के अभ्यास के फलरूप से इतना तो पक गया (नष्ट हो गया) है और इतना बाकी है—इस प्रकार चिकित्सक के समान पक्क और अपक्क दोनों का विवेचन करना व्यतिरेक वैराग्य है। दृष्ट (जागतिक) और आनुश्रविक (स्वर्गादि सम्बन्धी) विषयों की प्रवृत्ति की दुःखरूपता के ज्ञान से बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति न रहने पर भी उत्सुकतामात्र से मन में तृष्णा रहने से उस अवस्था को एकेन्द्रिय वैराग्य कहा जाता है। तथा मन का भी तृष्णाशून्य होने पर सर्वप्रकार से वैतृष्ण्य हो जाना अर्थात् ज्ञान की प्रसादरूपा (ज्ञान की प्रसन्नता से उत्पन्न हुई) तृष्णाविरोधिनी वृत्ति वशीकारसंज्ञा वैराग्य है। वह सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरंग साधन और असम्प्रज्ञात समाधि का बहिरंग साधन है। असम्प्रज्ञात समाधि का अंतरंग साधन तो पर वैराग्य है। पर-वैराग्य का लक्षण पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार इस प्रकार का है—'तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि की कुशलता से त्रिगुणात्मक प्रभाव से पुरुष को पृथक् (अलग) कर उस पुरुष की (शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा की) ख्याति (साक्षात् अनुभूति) होती है। उससे गुणत्रय के (प्रकृति के) समस्त व्यापारों में जो तृष्णाहीनता हो जाती है वही पर (श्रेष्ठ-फलभूत) वैराग्य है। उसके परिपाक होने से चित्त की शान्ति का परिपाक होने पर शीघ्र ही कैवल्य की प्राप्ति होती है।

(२) श्रीधर—[अर्जुन ने मन की चंचलता आदि जिन दोषों का वर्णन किया उन्हें भगवान् स्वीकार करके ही मन के निग्रह का उपाय कह रहे हैं—]

असंशयं मनः दुर्निग्रहं चलम्—मन की चंचलता आदि के कारण मन का निरोध करना अशक्य है—यह बात जो तुमने कही, यह निस्सन्देह ठीक ही है तथापि हे कौन्तेय ! **अभ्यासेन तु वैराग्येण**—विषयों का चिन्तन न करते हुए अभ्यास के द्वारा तथा परमात्माकार (ब्रह्माकारा) वृत्ति के द्वारा और विषयतृष्णा के अभावरूप वैराग्य के द्वारा **गृह्यते**—इस मन का निग्रह (निरोध) किया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि अभ्यास द्वारा लय दोष का और वैराग्य द्वारा विक्षेप दोष का प्रतिबन्ध होने से (नाश होने से) उपरतवृत्तिसम्पन्न व्यक्ति का मन परमात्माकार में परिणत होकर स्थित हो जाता है। यह बात योगशास्त्र में इस प्रकार कही गयी है कि 'मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। या सम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते ॥' अर्थात् वृत्तिशून्य मन की जो ब्रह्माकारा स्थिति है, उसे सम्प्रज्ञात नामक समाधि कहते हैं।

(३) शंकरानन्द—मन का जो दुर्निग्रहत्व कहा गया है वह लोक में तथा शास्त्र में प्रसिद्ध है, उसे स्वीकार करके उसका अनुवाद करते हुए मुमुक्षु को कैसे मन का निग्रह करना चाहिए उसके साधन का अब श्री भगवान् प्रतिपादन कर रहे हैं—

चलं मनः दुर्निग्रहम् असंशयम्—यद्यपि चंचल (प्रमाथी) एवं बलवान् तथा दृढ़ होने के कारण मन दुर्निग्रह है अर्थात् मन का निग्रह करना (रोकना) अत्यन्त कठिन है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है तथापि उस मन के निग्रह का उपाय इस प्रकार कहा जा रहा है, उसको तुम सुनो—वैराग्येण तु गृह्यते—वैराग्य के द्वारा किन्तु निगृहीत होता है। श्रुति, स्मृति तथा युक्तियों के द्वारा जैसी रीति (नियम) कही गई है उस रीति के अनुसार समस्त विश्व का मिथ्यात्व (झूठापन) पूर्णरूप से जो विद्वान् देखे हैं (जाने हैं), उनकी सभी विषयों में ही असत्त्व, तुच्छत्व तथा बन्धकत्व बुद्धि का सम्यक् प्रकार से उदय होता है। ऐसी बुद्धि से तथा तीव्र मोक्षेच्छा से जो विषयवैराग्य (अर्थात् विषय के प्रति आसक्तिहीनता या उदासीनता) उत्पन्न होता है उसे वैराग्य कहा जाता है उस वैराग्य के द्वारा मन निगृहीत किया जाता है (रोका जाता है)। पदार्थों के मिथ्यात्वज्ञान द्वारा रागद्वेषादि दोष और उनके वेग के कारण निवृत्त हो जाते हैं। उनकी निवृत्ति होने से ही मन वशवर्त्ती तथा निश्चल होता है। रागद्वेषादि दोपरहित बालक आदि में मन की चञ्चलता मात्र देखने में आती है, अतः रागद्वेपादिदोपरहित वैराग्य से मन की निश्चलता कैसे सिद्ध होती है? ऐसी आशंका यदि हो तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि बालकों में पदार्थ के सम्बन्ध में (वस्तुओं के सम्बन्ध में) मिथ्यात्व ज्ञान तथा रागादि के अभाव का होना सम्भव नहीं है। अतः उन लोगों का मन निश्चल नहीं हो सकता है। अब शंका हो सकती है कि यद्यपि उक्त वैराग्य के द्वारा मन निगृहीत हो सकता है तो भी अङ्गी का अभाव होने से केवल अंगमात्र से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये अंगी के साथ अंग का रहना आवश्यक है, इस आशंका के उत्तर में कह रहे हैं—अभ्यासेन च—विजातीय प्रत्यय को तिरस्कार कर स्वजातीय प्रत्यय की आवृत्ति को अभ्यास कहा जाता है। तीव्र मोक्षेच्छा और तीव्र वैराग्यरूप मुख्य साधनों के द्वारा तथा दीर्घकाल तक नित्य, निरन्तर अनुष्ठित ब्रह्मप्रत्यय (ब्रह्माकारावृत्ति) के अभ्यास के द्वारा विजातीय (अनात्म) प्रत्ययों का सम्पूर्णरूप से विनाश होने पर तथा तत् तत् (अनात्मवस्तुविषयक) वासनाओं का सम्पूर्णरूप से नाश (क्षय) हो जाने से 'निमित्तापाये

नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' (कारण का नाश होने से कार्य का भी नाश होता है) इस न्याय के अनुसार बाह्य वासनाएँ , जो कि मन की चञ्चलता की कारण हैं) नष्ट हो जाने से मन स्वयं निश्चल हो जाता है। अतः तीव्र मोक्षेच्छा और वैराग्य द्वारा पुष्ट सत्प्रत्यय का (एकमात्र सत् ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है, ऐसी भावना का) अभ्यास ही मन के निग्रह का तथा मन की निश्चलता का सम्पादन करने में श्रेष्ठ उपाय (परम कारण) होता है अर्थात् उसी का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करने से मन निश्चल होता है।

[यहाँ तीव्र मोक्षेच्छा तथा वैराग्य को अंग और सत् ब्रह्म के (ब्रह्माकारा वृत्ति के) अभ्यास को अंगी कहा गया।]

(३) नारायणी टीका—अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते—अभ्यास एवं वैराग्य एक दिन में नहीं होता है। उसका भी क्रम है, यथा—(क) श्रुति, स्मृति तथा युक्ति के द्वारा सम्पूर्ण विश्व प्रपंच का मिथ्यात्व सम्यक् प्रकार से निश्चय होने से विचारशील व्यक्ति को स्वतः ही (१) विषयों का असत्त्व बोध होता है (अर्थात् विषयों का वास्तविक कोई अस्तित्व नहीं है, परन्तु जादूगर के खेल के समान केवल प्रतीत हो रहा है ऐसा बोध होता है), (२) तुच्छत्वबोध (विषयों के सभी भोग अतिक्षण स्थायी हैं तथा अति क्षुद्र हैं इस प्रकार का बोध होता है), (३) बन्धकत्व बोध होता है (विषयमात्र ही संसाररूप बन्धन का कारण है तथा सभी वस्तुएँ अन्त में दुःखदायक हैं, ऐसी बुद्धि का उदय होता है)। पुनः (ख) जागतिक पदार्थों में मिथ्यात्व ज्ञान दृढ़ होने से किसी वस्तु के प्रति राग-द्वेष अर्थात् किसी वस्तु के प्रति आसक्ति या घृणा नहीं रहती है, क्योंकि मरुभूमि में मरीचिका के सरोवर में मिथ्यात्व-बुद्धि निश्चय होने से तीव्र पिपासा से अति (कातर) होने पर भी कोई जल का पात्र (घड़ा आदि) लेकर जल भरने के लिये नहीं जाता है अथवा स्वप्न में कोई व्यक्ति अपने पुत्र को मरते हुए देखकर जाग्रत होकर फिर नहीं रोता है। विषयों के प्रति रागद्वेष के अभाव को ही वैराग्य कहा जाता है यह रागद्वेष ही चित्त की चंचलता का मुख्य कारण है। विषयों के प्रति जब किसी प्रकार का रागद्वेष नहीं रहता है, तब ही मन को वश करके निश्चल करना सम्भव है, अन्यथा नहीं। मन निश्चल होने से ही आत्मदर्शन सम्भव है। इसलिये विषय-वैराग्य ही मन के निग्रह का तथा आत्मस्थिति का प्रधान उपाय है। अब प्रश्न हो सकता है कि रागद्वेषादि दोषशून्य होकर एकमात्र वैराग्य के द्वारा ही यदि मन का निश्चलत्व सिद्ध हो सकता है तो बालकों के चित्त सदा निश्चल

क्यों नहीं रहते हैं क्योंकि विषयों के प्रति प्रत्यक्षरूप से बालकों में रागद्वेषादि देखने में नहीं आते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि–नहीं, उन लोगों के चित्त में रागद्वेष का अभाव रहने पर भी वैराग्य नहीं है क्योंकि उन लोगों में जागतिक वस्तुओं का मिथ्यात्व ज्ञान नहीं है। यद्यपि वैराग्य ही चित्त की स्थिरता का मुख्य उपाय है तथापि पूर्वसंस्कारवश यह वैराग्य कभी-कभी शिथिल होने पर आत्मस्थिति से मन विच्युत (च्युत) हो जाता है। वैराग्य को दृढ़ करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। किसी विषय के (अर्थात् ध्येय वस्तु के) विजातीय (प्रतिकूल) प्रत्यय को तिरस्कार (परित्याग) कर सजातीय प्रत्यय (वृत्ति) का प्रवाह जिससे निरन्तर मन में चल सके उसके लिए पुनः पुनः प्रयत्न करना अभ्यास है। यहाँ "विजातीय प्रत्यय" शब्द का अर्थ है "विषयाकारा वृत्ति" एवं "सजातीय प्रत्यय" शब्द का अर्थ है "ब्रह्माकारावृत्ति"। जिस प्रकार चिड़ियाँ दोनों पंख की सहायता के विना आकाश में उड़ नहीं सकती हैं, उसी प्रकार अभ्यास तथा वैराग्य इन दोनों की सहायता के विना मन को वश कर चिदाकाश में विचरण नहीं करा सकता है। अभ्यास के द्वारा वैराग्य परिपक्व होने से (दृढ़ होने से) त्रिगुणात्मिका प्रकृति या माया से विलक्षण (पृथक्) चिदानन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होने पर परवैराग्य की अवस्था प्राप्त होती है (पातञ्जल योगशास्त्र १।६)। उसी अवस्था में समस्त जगत् के मूल कारण गुणत्रय—सत्त्व, रजः तमः) के प्रति भी आसक्ति से रहित होकर चित्त पूर्णरूप से उपशान्त होता है, अतः आत्मसंस्थ होकर सम्पूर्ण रूप से मन चिन्तारहित हो जाता है (गीता ६।२५)। यह जीवन्मुक्ति की अवस्था भी कही जाती है। अतः मन स्वभावतः चंचल होने से भी वैराग्य तथा अभ्यास के द्वारा वशीभूत (निश्चल) होकर आत्मा में स्थितिलाभ कर सकता है, यह ही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

[पूर्वश्लोक में अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध कर मन को स्थिर करना सम्भव है, यह कहा गया है। अब अन्वय-व्यतिरेक द्वारा उसी विषय को दृढ़ कर रहे हैं अर्थात् अभ्यास तथा वैराग्य नहीं रहने से चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग सम्भव नहीं है और उनके रहने से (अभ्यास तथा वैराग्य रहने से) वैसा योग (चित्तवृत्ति-निरोधरूप योग) सम्भव है, यही स्पष्ट रूप से कह रहे हैं—]

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अन्वय—असंयतात्मना योगः दुष्प्रापः इति मे मतिः, उपायतः यतता वश्यात्मना तु अवाप्तुम् शक्यः ॥

अनुवाद—अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा जिनका मन वशीभूत नहीं हुआ है, वैसे पुरुष के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग दुष्प्राप्य (दुर्लभ) है, अर्थात् प्राप्त होना कठिन है, यह मेरा मत है। किन्तु अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा जिनका चित्त वशीभूत हुआ है एवं जो फिर भी पुनः पुनः प्रयत्न करते हैं वे पूर्वोक्त उपायों से (वैराग्य एवं अभ्यास द्वारा) उस योग में प्रतिष्ठालाभ (स्थितिलाभ) करने में समर्थ होते हैं।

भाष्यदीपिका—**असंयतात्मना**—अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा जिनकी आत्मा (अन्तःकरण) संयत अर्थात् वशीभूत नहीं हुआ है ऐसे व्यक्ति के द्वारा [तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर भी वेदान्त की व्याख्या आदि के व्यसन से अथवा आलस्यादि दोषों से जो आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा संयत (निरुद्ध) नहीं किये हैं उन असंयतात्मा के लिये तत्त्वसाक्षात्कारवान् होने पर भी (मधूसूदन)]

योगः—निरोध-समाधि के द्वारा जीवात्मा के साथ परमात्मा का निरन्तर योग (एकता) **दुष्प्रापः**—अत्यन्त कष्ट से भी प्राप्त नहीं होता है अर्थात् (प्रारब्धकर्मजनित चित्त की चंचलता के कारण) वह योग प्राप्त होना असम्भव है। **इति मे मतिः**—यही मेरा मत (अभिमत) है।

नारायणी टीका—शास्त्रादि के श्रवण तथा मनन (विचार) के द्वारा परोक्षरूप से तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर भी जिनको तीव्र मोक्षेच्छा तथा वैराग्य उत्पन्न नहीं हुए हैं अर्थात् वेदान्त की व्याख्यादि के द्वारा संसार में मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने की वासनाएँ हैं परन्तु आलस्य के कारण आत्मस्थिति प्राप्त करने के लिये प्रयत्न (अभ्यास) नहीं करते हैं—

(क) उनका तीव्र वैराग्य न रहने के कारण चित्त प्रारब्ध संस्कार के अनुसार विषयों की वासनाओं से ही चलित होकर बाह्य विषयों में इधर-उधर घूमता रहता है एवं इसलिये आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में परोक्षज्ञान रहने पर भी चित्तवृत्तियों का निरोध संस्कारप्राप्त न होने के कारण दीर्घकाल तक वे आत्मा में स्थितिलाभ नहीं कर सकते हैं।

(ख) चित्त का निरोध-संस्कार अभ्यास के बिना प्राप्त नहीं होता है। चित्त की पाँच अवस्थाएँ हैं :—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरोध। इन अवस्थाओं का वर्णन पहले ही किया गया है। साधन करते हुए चित्त में

पहले एकाग्र-परिणाम, वाद में समाधि-परिणाम तथा अन्त में निरोध-परिणाम होता है। एकाग्रता-परिणाम—"शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः" (पा० यो०) अर्थात् अतीत (शान्त) प्रत्यय तथा वर्तमान (उदित) प्रत्यय एकाकार होने से अर्थात् चित्त के पूर्वापर दोनों वृत्तियाँ जब निरन्तर एक विषयक (एक ही विषय का आश्रय कर) होती रहती हैं तब उसे एकाग्रता परिणाम कहा जाता है। यह एकाग्रता संस्कार परिपुष्ट होने से चित्त का समाधि परिणाम होता है।

"सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः।" (पा० यो० ३।११) अर्थात् चित्त का सर्वविषयतारूप धर्म के क्षय तथा एकाग्रतारूप धर्म के उदय को ही चित्त का समाधि-परिणाम कहा जाता है अर्थात् चित्त जब अभ्यास के द्वारा सभी विषयों से प्रत्यावृत होकर विक्षेपरहित होता है एवं एकाग्रता प्राप्त कर स्थितिलाभ करता है तब उसे (सम्प्रज्ञात) समाधि परिणाम—कहा जाता है। यह समाधि संस्कार दृढ़ होने से चित्त का निरोध-समाधि अर्थात् असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि-परिणाम होता है। "व्युत्थाननिरोध-संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः" (पा० यो०) अर्थात् व्युत्थान संस्कार का (सम्प्रज्ञात संस्कार का) अभिभव तथा निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होने से निरोध संस्काररूप असम्प्रज्ञात योग का क्षण या समय के साथ चित्त का जो अन्वय होता है अर्थात् निरन्तर योग का धारावाहिक प्रवाह चलता रहता है उसे निर्वीज या निरोध परिणाम कहा जाता है। यह संस्कार पूर्वश्लोक में उक्त पर वैराग्य के द्वारा ही प्राप्त होता है तथा निरोध परिणाम में परवैराग्य संस्कार ही अभिव्यक्त (प्रकट) रहता है। इसलिए चित्त में एक प्रशान्त प्रवाह निर्विकार रूप से चलता रहता है। योगशास्त्र में भी कहा गया है—"तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्" (पा० यो० ३।१०) चित्त की यह प्रशान्त अवस्था ही संयतात्मा का लक्षण है इस प्रकार प्रशान्त (प्रकृष्टरूप से) शान्त चित्त में ही शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा का निरन्तर स्फुरण होता रहता है अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा का निरन्तर योग सम्पादित होता है इस प्रकार से जिसका चित्त संयत नहीं हुआ है उसे असंयतात्मा (अजित चित्त) कहा जाता है। संयत चित्त व्यक्ति का ही सर्वत्र अप्रतिबद्ध ब्रह्ममात्रदर्शनरूप योग प्राप्त होना सम्भव है, अन्यथा सहस्र वार शास्त्रादि का श्रवण, मनन या अन्य उपायों के द्वारा इस योग को प्राप्त करना सम्भव नहीं है, यही श्री भगवान् का कहने का अभिप्राय है।] उपायतः यतता वश्यात्मना तु अवाप्तुं शक्यः—परन्तु

जिनका मन अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा वश में किया हुआ है और जो फिर भी वारम्वार प्रयत्न करते ही रहते हैं, ऐसे पुरुष द्वारा पूर्वोक्त उपायों से यह योग प्राप्त किया जा सकता है। [वैराग्य परिपक्व होने से वासना का नाश (क्षय) होने पर आत्मा अर्थात् मन विषयों की अधीनता से मुक्त होकर अपने वश में आने से उसे वश्य कहा जाता है। अतः 'वश्यात्मना' शब्द का अर्थ है आत्मा (मन) वश्य (वशीभूत) हुआ है जिनका उनके द्वारा। केवल वैराग्य होने से ही मन को वश में लाना सम्भव नहीं है। इसके अभ्यास का भी (प्रयत्न का भी) प्रयोजन है। चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए वारम्वार श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक प्रयत्न करने से ही मन वश में आता है, इसलिये कहा गया "यतता"। जो पुनः पुनः प्रयत्न (अभ्यास) के द्वारा मन को वशीभूत किये हैं उन वशीभूत मन वाले से ही उक्त योग प्राप्त होना सम्भव होता है अन्य से नहीं। "तु" शब्द दूसरों से (असंयतात्मा पुरुषों से) यत्नशील वश्यात्मा योगी की विलक्षणता का प्रकाश करने के लिये व्यवहार किया गया है। अथवा "तु" शब्द अवधारणार्थ में (अर्थात् निश्चयता बोध कराने के लिये) व्यवहार किया गया है, ऐसा भी कहा जा सकता है अर्थात् यत्नशील वश्यात्मा यति ही उस योग को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं—अन्य नहीं। किन्तु किस साधन के द्वारा वह सम्भव है? इसलिये कहा गया 'उपायतः' अर्थात् तीव्र मोक्षेच्छा के साथ कहे हुए अभ्यास तथा वैराग्यरूप उपाय के द्वारा नारायणी टीका।] मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार 'उपाय' शब्द का अर्थ है—पुरुषकार। क्योंकि पुरुषकार लौकिक विषय में ही हो अथवा वैदिक विषय में ही हो वह प्रारब्ध कर्म की अपेक्षा प्रवल होता है और इसीलिये पुरुषकार के द्वारा चित्त की चंचलता के हेतुभूत प्रारब्ध कर्मों को अभिभूत कर चित्त का निरोध करना सम्भव होता है। [विस्तार टिप्पणी में देखा जाय। अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा चित्त का 'निरोध-परिणाम' प्राप्त कर किस प्रकार से आत्मस्थितरूप योग सम्पन्न होता है वह ऊपर कहा गया है।]

टिप्पणी (१) मधुसूदन—अगर प्रश्न हो कि प्रारब्ध भोगरूप कर्म तो अत्यन्त वलशाली होते हैं—उन्हें कैसे अभिभूत किया जा सकता है? उसके उत्तर में श्री भगवान् कह रहे हैं—उपायतः—उपायात् अर्थात् पुरुषकार द्वारा। [प्रारब्ध संस्कारों के अनुसार साधारण प्राणी कर्म करता है और उन कर्मों का फल-भोग करता है। कर्म और वासना से संस्कार (कर्माशय) उत्पन्न होते हैं एवं संस्कार से जन्म और भोग होता है—फिर भोग करते हुए

नूतन वासनाएँ तथा कर्म होते हैं। उनसे पुनः नूतन संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार बीज और अंकुर के समान (बीज से अंकुर तथा अंकुर से बीज की तरह) जन्म, भोग, कर्म और मृत्यु का प्रवाह चलता रहता है, पुरुषकार से ही पूर्व-पूर्व जन्म के कर्मों एवं उन कर्मों से ही वर्तमान जन्म के प्रारब्ध की सृष्टि हुई है। इसलिये पुरुषकार द्वारा प्रारब्ध संस्कार को अभिभूत अर्थात् जय करना सम्भव होता है क्योंकि कार्य से कारण सदा बलवान् होता है।] अतः यहाँ उपाय शब्द से पुरुषकार को ही सूचित किया गया है क्योंकि लौकिक या वैदिक पुरुषकार प्रारब्ध कर्म की अपेक्षा प्रबल है। यदि ऐसा नहीं होता तो लौकिक कर्मादि (जैसे कृषि इत्यादि) के लिये प्रयत्न की तथा वैदिक कर्मादि (जैसे ज्योतिष्टोमादि कर्म) के लिये प्रयत्न की व्यर्थता सिद्ध होगी। [इसीलिये पूर्व संस्कारों से (प्रारब्ध से) प्राप्त (क) क्षिप्त, (ख) मूढ़ एवं (ग) विक्षिप्त चित्त दृढ़ योग के अभ्यास के द्वारा क्रमशः एकाग्र, समाधि और निरोध (निर्विकल्प समाधि) अवस्था प्राप्त हो सकती है। अतः अभ्यास और वैराग्य का आश्रय कर प्रबल पुरुषार्थ प्रयोग करना चाहिए। इसलिये योगवाशिष्ठ में कहा गया है।

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥

अर्थात् हाथ से हाथ, दाँत से दाँत, अंग के द्वारा अंग का आक्रमण कर मन को जय करना चाहिए।

प्रारब्ध कर्मों को सत् मानने से (अर्थात् प्रारब्ध कर्म है और वही बलवान् है ऐसा मानने से) तो उसी से फल की प्राप्ति हो सकती है, अतः पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती है। फिर प्रारब्ध कर्म असत् है (नहीं है) इसे स्वीकार करने से फलभोग की प्राप्ति तो सर्वथा असम्भव होती है, अतः पुरुषकार की (पुरुष के प्रयत्न की) कोई सार्थकता नहीं रहती है (क्योंकि पुरुषकार ही प्रारब्ध सृष्टि कर फल प्रदान करता है, अतः प्रारब्ध नहीं रहने से पुरुषकार भी फल प्रदान करने में असमर्थ होगा)। और यदि ऐसा कहा जाय कि कर्म स्वयं अदृष्ट स्वरूप है वह दृष्ट (लौकिक) साधन सम्पत्ति (चेष्टादि उपाय) के बिना फल-प्रदान में असमर्थ होने के कारण कृषि आदि में फलोत्पत्ति के लिये पुरुषकार की अपेक्षा है ही, तो कहेंगे कि योगाभ्यास के विषय में भी यह समाधान ऐसा ही होगा क्योंकि योगाभ्यास से होनेवाली 'जीवन्मुक्ति' भी अत्यन्त सुखस्वरूप होने के कारण प्रारब्ध कर्म

फल के ही अन्तर्गत है (अर्थात् शुभ प्रारब्ध कर्म नहीं रहने से अत्यन्त सुखानुभवरूप जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि मोक्ष का हेतुस्वरूप चरम देह मोक्ष के अनुकूल अत्यन्त शुभ प्रारब्ध कर्मों के फलरूप से ही प्राप्त होता है)।

अथवा यदि कहा जाय कि प्रारब्ध कर्मफल तत्त्वज्ञान से प्रबल होता है क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर भी प्रारब्ध के अनुसार शरीरादि का भोग चलता ही रहता है, यह देखा जाता है—उसकी निवृत्ति नहीं देखी जाती है, उसी प्रकार योगाभ्यास प्रारब्ध कर्म से भी प्रबल हो सकता है क्योंकि शास्त्रीय प्रयत्न की अर्थात् शास्त्र के अनुकूल पुरुषकार की सर्वत्र प्रारब्ध कर्मों की अपेक्षा प्रबलता देखी गयी है। इस विषय में वशिष्ठ-देव ने कहा है—

सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन।
सम्यक् प्रयुक्तात् सर्वेण पौरुषात् समवाप्यते ॥
उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥
"शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय।
स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥
द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम्।
तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन ॥
संदिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर।
शुभायां वासनावृद्धौ तात दोषो न कश्चन ॥
अव्युत्पन्नमना यावद् भवानज्ञाततत्पदः।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्त्वं निर्णीतं तावदाचर ॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निरोधिना ॥"

अर्थात् हे राम ! सभी व्यक्ति द्वारा संसार में सम्यक् प्रकार के प्रयुक्त पुरुषकार से सर्वदा सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है। पुरुषकार दो प्रकार के होते हैं :—(क) शास्त्रविरुद्ध पुरुषकार, इसका फल है अनर्थरूप नरकप्राप्ति और (ख) शास्त्रविहित अन्तःकरणशुद्धि द्वारा पुरुषकार का फल है परम

कल्याणरूप परमार्थ प्राप्ति (मोक्ष)। इस कारण से शुभ और अशुभ दोनों ओर बहने वाली वासनारूपी नदी को पौरुष (पुरुष से साध्य) प्रयत्न के द्वारा (पुरुषकार द्वारा) शुभ मार्ग की ओर प्रवाहित करना चाहिये। "हे बलवानों में श्रेष्ठ! अशुभों में लगे हुए अपने मन को पुरुषार्थ द्वारा शुभों में बलपूर्वक जोड़ दो। हे शत्रुदमन! जिस समय अभ्यास के कारण तुम्हारी (शुभ) वासना अनायास उदित होने लगे उस समय तुम अभ्यास की सफलता समझो। जहाँ शुभ और अशुभ वासनाओं के विषयों में सन्देह हो वहाँ शुभ को ही स्वीकार करो, क्योंकि हे तात! शुभ वासना की वृद्धि होने से कोई दोष नहीं है। जब तक तुम्हारा मन अविवेकी है और तुम्हें उस परमार्थ पद का ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक तुम गुरु और शास्त्र प्रमाणों से निर्णय किये हुए व्यवहार का ही आचरण करो"। फिर जब कषायों का पाक (चित्तगत मलिनता की शुद्धि) तथा परमार्थ वस्तु का ज्ञान हो जाय तो अवश्य ही शुभ वासनाओं के समूह का भी तुम निरोध समाधि के अभ्यास के द्वारा त्याग दो।

[इस श्लोक में श्री भगवान् "उपायतः" शब्द के द्वारा कह रहे हैं "प्रारब्ध भोग करना ही होगा" ऐसी बुद्धि के द्वारा चित्त को अवसन्न मत करो। प्रारब्ध कितना ही बलवान् हो, तुम उससे भी बलवान् वैराग्य और अभ्यास से युक्त पुरुषार्थ का बल प्रयोग करो। प्रारब्ध संस्कार के द्वारा मन अत्यन्त चञ्चल रहने से ऐसे पुरुषार्थ के द्वारा मन को क्रमशः (धीरे-धीरे) वशीभूत कर "संयतात्मा" या "वश्यात्मा" होंगे और ऐसा होने से ही परमात्मा के साथ योग अथवा एकता सम्पादन कर ब्रह्मानन्द में निमग्न होकर समस्त संसार के दुःखों से अपने को मुक्त कर सकोगे।]

विवेकजनित साक्षात्कार से (देहेन्द्रियादि से शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को विवेक अर्थात् पृथक् कर उनका अभिन्न रूप से साक्षात्कार करने से) अविवेक के कारण साक्षी में प्रतीत होनेवाले संसाररूप बन्धन की निवृत्ति होती है यह सत्य है। परन्तु प्रारब्ध कर्मों के प्रभाव से उपस्थित किये हुए चित्त की स्वाभाविक वृत्तियों का योगाभ्यास रूप प्रयत्न से निरोध किया जा सकता है। उस अवस्था में स्थित जीवन्मुक्त पुरुष को 'परमयोगी' कहा जाता है। और यदि चित्त की वृत्तियों के निरोध का अभाव हो तो तत्त्वज्ञान सम्पन्न होने पर भी वह 'अपरमयोगी' ही होता है [इसके द्वारा ३४ वें श्लोक में अर्जुन से की हुई शंका को दूरीभूत किया गया]।

(२) श्रीधर—मनोनिग्रह के सम्बन्ध में जो पूर्वश्लोक में कहा गया है वही भगवान् का निश्चय है, वह अब स्पष्ट करके कह रहे हैं—असंयतात्मना—उक्त प्रकार से अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा जिनकी आत्मा (चित्त) संयत नहीं हुआ है उनके द्वारा योगः दुष्प्रापः—यह योग प्राप्त करना दुःसाध्य (अशक्य) है इति मे मतिः—यही मेरा मत है। वश्यात्मना तु उपायतः यतता—परन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा जिनकी आत्मा (चित्त) वश्य (वशवर्ती) हुआ है वे पुरुष यदि इस प्रकार उपाय से (वैराग्य तथा अभ्यास से) प्रयत्न करते रहे हैं तो शक्यः अवाप्तुम्—इस योग को प्राप्त कर सकते हैं।

(३) शंकरानन्द—पुनः असंयतात्मना—तीव्र मोक्षेच्छा तथा वैराग्य के अभाव के कारण जिनकी आत्मा (चित्त) संयत नहीं हुई है इस प्रकार पुरुष के द्वारा। आत्मा को जानने से भी विषयों के प्रति वासना रहने के कारण तत्-तत् वासनाओं से बाह्य प्रवृत्ति होती रहती है और ऐसा होने से दीर्घकाल तक नित्य, निरन्तर अत्यन्त आस्था (विश्वास) के साथ जिनकी आत्मा (मन) ब्रह्म में संयत (पूर्णरूप से स्थित) नहीं हुआ है उन्हें असंयतात्मा कहा जाता है। उन असंयतात्मा के द्वारा अर्थात् समाधि का अभ्यास न करने वाले यति के द्वारा योगः—योग (ज्ञानयोग) अर्थात् सदा सर्वत्र अप्रतिबद्ध ब्रह्ममात्रदर्शनरूप योग [शुक्ति में रजतभ्रम निवृत्त होने पर] शुक्ति (सीप) के दर्शन से शुक्ति के प्रत्यय के समान अधिष्ठान ब्रह्म के दर्शन से उत्पन्न हुआ निरन्तर ब्रह्म प्रत्ययरूप योग दुष्प्रापः—दुष्प्राप्य है। अर्थात् नित्य निरन्तर अभ्यास करने में जो श्रम होता है उस श्रमजनित दुःख के बिना वह योग प्राप्त होना सम्भव नहीं है। इति मे मतिः—यही मेरी (मुझ ईश्वर की) मति (अभिमत अथवा निश्चय) है। करोड़ों बार श्रवण करने पर भी समाधि के बिना यति को सम्यग् दर्शन सिद्ध नहीं होता है—यही कहने का अभिप्राय है। मुमुक्षु यति को समाधि के द्वारा ही सम्यग् ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त होता है। अतः समाधि ही कर्तव्य है, यह सूचित करने के लिये कह रहे हैं—वश्यात्मना तु—पूर्वोक्त असंयतात्मा से विलक्षणता दिखलाने के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् वश्यात्मा के द्वारा किन्तु, यह अर्थ है वश्य (स्वाधीन अर्थात् तीव्र मोक्षेच्छा तथा तीव्र वैराग्य से विषयों में से बिल्कुल प्रवृत्त नहीं होता है [अर्थात् सर्व प्रकार से सदा वशीभूत (अपने अधीन) रहता है]। आत्मा (मन तथा इन्द्रिय समूह

जिनकी वे वश्यात्मा हैं। ऐसे यति के द्वारा तथा यतता—प्रयत्न करने वाले के द्वारा अर्थात् अत्यन्त श्रद्धा के साथ जब तक आवश्यक है तब तक और जैसा लक्षण युक्त होना चाहिये वैसा लक्षण युक्त होकर योगसिद्धि के लिये उक्त वश्यात्मा यति यदि प्रयत्न करते रहें तो उनके द्वारा योगः—पूर्वोक्त लक्षणयुक्त योग (समाधि) उपायतः (उपायेन)—इस उपाय से अवाप्तुं शक्यः—प्राप्त किया जा सकता है—अन्य किसी उपाय से उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

(४) नारायणी टीका—[भाष्यदीपिका द्रष्टव्य] पूर्ण वैराग्य होने पर इहकाल और परकाल के सुख और उस सुख के हेतुभूत (साधनरूप) श्रौत (वैदिक) एवं स्मार्त (स्मृतिशास्त्रानुमोदित) सर्व कर्मों का त्याग कर दृढ़रूप से समाधि के अभ्यास द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार तथा ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है, यह पहले कहा गया है। परन्तु यदि कोई मुमुक्षु योगाभ्यास का स्वीकार कर के सर्व कर्मों को परित्याग कर चित्त की चंचलता के कारण योगसिद्धि एवं उसके फल मोक्ष का साधन सम्यग् दर्शन (अर्थात् आत्मसाक्षात्कार) प्राप्त न करके ही इहलोक का त्याग करते हैं तो एक ओर सर्व कर्मों का त्याग करने के कारण उनका इहकाल तथा परकाल के सुख का कोई साधन नहीं रहता है एवं दूसरी ओर मृत्यु के समय योगमार्ग से भ्रष्ट (चालित) होने के कारण परम-पुरुषार्थ जो मोक्ष है, वह भी प्राप्त नहीं होता है। ऐसी अवस्था में उन यति की गति कैसी होगी (यानी यति कौन सी गति प्राप्त होंगे) उसे जानने के लिये अर्थात् उन योगी के नाश की आशंका करके अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं—]

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अन्वय—अर्जुन उवाच–हे कृष्ण ! श्रद्धया उपेतः अयतिः योगात् चलितमानसः (सन्) योगसंसिद्धिम् अप्राप्य काम् गतिम् गच्छति ॥

अनुवाद—अर्जुन ने कहा हे कृष्ण ! जो साधक (पहले) श्रद्धा से युक्त होकर योगाभ्यास में प्रवृत्त हुए हैं परन्तु योगमार्ग में यत्न करने वाले नहीं हैं, अतः अभ्यास और वैराग्य के अभाव के कारण जिनका मन अन्तकाल में (अर्थात् मृत्यु के समय) योगपथ से चलायमान (आत्मस्मृति से भ्रष्ट) हो गया है वे चञ्चल-चित्त भ्रष्ट स्मृति वाले योगी योग की सिद्धि को (योगफलरूप सम्यग्दर्शनरूप को) न पाकर किस गति को प्राप्त होते हैं ?

भाष्यदीपिका—श्रद्धया उपेतः अयतिः—आस्तिक्य बुद्धियुक्त अर्थात् गुरु तथा वेदान्त वाक्यों में श्रद्धा एवं विश्वासयुक्त अयति (दृढ़ अभ्यास या दृढ़ प्रयत्न से रहित योगी) [आयु की अल्पता के कारण अथवा दुर्बल वैराग्य के कारण जो योगी अल्प प्रयत्नशील हैं उन्हें 'अयति' कहा जाता है।] **योगात् चलितमानसः**—योग से अर्थात् "ब्रह्मैवाहमिति" ("मैं ही ब्रह्म हूँ") इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप आत्मा में बुद्धि निश्चल होने से जो योग (समाधि) प्राप्त होता है उससे अन्तिम समय में (मृत्यु के समय) बाह्य वासनाओं के या दुष्ट कर्मों के संस्कार बल से विपरीत भावापन्न होकर जिनका मन विचलित हुआ है अर्थात् जिनकी आत्मस्मृति विनष्ट हुई है, वे योगी **योगसंसिद्धिम् अप्राप्य**—योग का फलस्वरूप सम्यग्दर्शन (पूर्णज्ञान) को प्राप्त न कर। योग (समाधि) के द्वारा सम्यग्दर्शन या तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से अज्ञान और उसका कार्य जन्ममृत्यु का प्रवाह नष्ट हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। यही योग की संसिद्धि अर्थात् सम्यक् (पूर्ण) सिद्धि है। इस मोक्षरूप संसिद्धि को प्राप्त न कर **कां गतिं गच्छति**—किस गति को प्राप्त करते हैं ? आश्रम विहित कर्मों का त्याग करने के कारण इहकाल के विषयसुख से तथा परकाल के स्वर्गादि सुख से वे योगी वंचित रहते हैं। फिर प्रयत्न के अभाव से (अर्थात् दृढ़ अभ्यास न करने के कारण) निरन्तर समाधि भी उनके लिये सम्भव नहीं है अतः अविच्छिन्न रूप से 'सभी दृश्य पदार्थ और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार तत्त्वज्ञान उनके चित्त में स्थितिलाभ न करने के कारण समाधि के फल मोक्ष से भी वंचित होते हैं, अतः वे उभयविभ्रष्ट हो जाते हैं ऐसे योगी मृत्यु के पश्चात् किस गति को प्राप्त होते हैं ? यही अर्जुन के प्रश्न का आशय है।

टिप्पणी (१)—मधुसूदन सरस्वती—पूर्ववर्ती कई श्लोकों का तात्पर्य यह है कि जो तत्त्वज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त किये हैं, वह परम योगी हैं और जिनको तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई है परन्तु जीवन्मुक्ति-अवस्था प्राप्त नहीं हुई है वे अपरम योगी हैं। दोनों प्रकार के योगी के ही तत्त्वज्ञान से अज्ञान का नाश होने पर भी देह और इन्द्रियों के संघात की स्थिति के कारण प्रारब्ध कर्म बलवान् रहते हैं और इसलिये जब तक प्रारब्ध कर्मों के भोग का अन्त न हो तब तक उन लोगों के देहादि तथा इन्द्रियादि का संघात विद्यमान रहता है अर्थात् तब तक वे शरीर धारण करके जीवित रहते हैं। जब उन प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने पर वर्तमान देह और इन्द्रियादि

के संघात नाशप्राप्त होता है तब पुनः शरीर उत्पादन करने वाला निमित्त (अज्ञान निमित्त कर्म बीज) न रहने से इन दोनों प्रकार के ज्ञानी को ही मृत्यु के पश्चात् विदेहकैवल्य प्राप्त होने में कोई शंका नहीं है। किन्तु पहले विहित शुभ कर्मों द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर जिसकी विविदिषा (आत्मतत्त्व-जिज्ञासा) उत्पन्न हुई है अतः जो सर्व कर्मों का परित्याग कर परमहंस परि-व्राजकभाव को प्राप्त होकर (क) परमहंस परिव्राजक, (ख) आत्मसाक्षात्कार के द्वारा जीवन्मुक्त और (ग) दूसरों को आत्मतत्त्व का ज्ञान देने को कुशल है, ऐसे गुरु की शरण में जाकर उनसे वेदान्तों के 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश प्राप्त किये हैं और उसके बाद वेदान्त वाक्यों के सम्बन्ध में असम्भावना और विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धों की निवृत्ति (दूरीभूत) करने के लिए जो गुरु की कृपा लाभ कर "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र से लेकर "अनावृत्तिः शब्दात्" इस सूत्र में जिसकी समाप्ति हुई है उस चतुर्लक्षणी (समन्वय, अविरोध, साधन और फल इन चारों लक्षणविशिष्ट चतुरध्यायी) उत्तर मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के द्वारा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना आरम्भ किये हैं, किन्तु वे इस विषय में श्रद्धायुक्त होने पर भी उनकी आयु की अल्पता अथवा अपने प्रयत्न की शिथिलता के कारण (दीर्घ-दिन तक योग-साधन सेवित न होने के कारण) उनका ज्ञान का परिपाक न होते हुए ही अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए बीच ही में यदि उनकी मृत्यु हो तो (क) उनके ज्ञान का परिपाक न होने के कारण अज्ञान का नाश न होने से वे मुक्त नहीं हो सकते हैं, पुनः चूँकि वह संन्यास ग्रहण कर सर्व कर्मों का परित्याग किये हैं अतः उपासनासहित (शास्त्रीय) कर्मों के अनुष्ठान द्वारा जिस अर्चिरादि मार्ग से देवलोकप्राप्तिरूप फल होता है उसे भी वे प्राप्त नहीं होते हैं और (ग) केवल (शास्त्रीय) कर्मों से जिस धूमादि मार्ग द्वारा पितृ-लोक प्राप्तिरूप फल होता है उसे भी वे प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अतः देवयान और पितृयान मार्गों से असम्बद्ध (संबंधहीन) तथा तत्त्वज्ञान से रहित इस प्रकार योगभ्रष्ट योगी वर्णाश्रमों के आचारों से भ्रष्ट व्यक्ति जैसी दुर्दशा प्राप्त होता है वैसी ही कीटादि के समान कष्टदायक गति प्राप्त होंगे ? अथवा शास्त्रनिन्दित कर्मों से रहित होने के कारण वामदेव के समान किसी कष्टपूर्ण गति को प्राप्त नहीं होते हैं ? अभिप्राय यह है कि इस प्रकार योगभ्रष्ट यति सर्व कर्मों का त्याग करने के कारण कोई शास्त्रनिन्दित कर्म नहीं करते हैं, अतः वे अधोगति को प्राप्ति नहीं हो सकते हैं, फिर उद्र्ध्वगति को भी

(मोक्ष भी) प्राप्त नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हुए हैं। अतः एतादृश योगी की गति किस प्रकार होती है ?, ऐसे संशय से व्याकुल-चित्त होकर अर्जुन ने पूछा (प्रश्न किया)—अयतिः यति शब्द का अर्थ है यत्नशील [अल्पार्थे नञ् उपसर्ग 'अलवणा यवागूरित्यादिवत्' अर्थात् 'अल्प लवणयुक्त यवागू (अन्न विशेष)'—इस स्थान में जिस प्रकार नञ् उपसर्ग (अर्थात् अ शब्द) अल्पार्थ में व्यवहृत हुआ है उसी प्रकार 'अयति' शब्द का 'यति नहीं है' ऐसा अर्थ न कर अल्प प्रयत्न वाले योगी को 'अयति' कहा गया, ऐसा समझना चाहिये। श्रद्धया उपेतः—'श्रद्धा' का अर्थ है गुरुवाक्य और वेदान्त वाक्यों में विश्वास एवं 'उपेतः' शब्द का अर्थ है युक्त अर्थात् गुरु और वेदान्त वाक्यों में विश्वासयुक्त। यहाँ 'श्रद्धा' शब्द श्रद्धा के सहचारी (साथ रहनेवाले) शम, दम, उपरति और तितिक्षा—इन सब के उपलक्षण है। अतः "श्रद्धया उपेतः" पद का अर्थ है श्रद्धायुक्त, शमयुक्त, दमसम्पन्न, उपरति-विशिष्ट और तितिक्षापरायण योगी, क्योंकि श्रुति कहती है "शान्तो दान्त उपर-तस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वाऽत्मन्येवाऽत्मानं पश्यति" अर्थात् शान्त (अन्तःकरण की शमता से युक्त), दान्त (बहिरिन्द्रियों को दमन करने में समर्थ), उपरत (विषयों से उपरतिविशिष्ट), तितिक्षु (प्रतिकार न कर सहन करने में शक्ति-सम्पन्न) और श्रद्धान्वित होकर आत्मा में ही (अपने में ही) आत्मा का दर्शन करते हैं। अतः यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि (१) नित्यानित्यवस्तु-विवेक (२) इहामुत्रफलभोगविराग (लौकिक और पारलौकिक फलों के भोग से वैराग्य) (३) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधानरूप षट्सम्पत्ति एवं (४) मुमुक्षुत्व—इन साधनचतुष्टय से सम्पन्न होकर गुरु की शरण में जाकर वेदान्त वाक्यों के श्रवणादि करते रहने पर भी योगात् चलितमानसः—आयु की अल्पता अथवा मरणकाल में इन्द्रियों की व्याकुलता के कारण साधनों का अनुष्ठान न हो सकने से जिनका मन योग से अर्थात् तत्त्व साक्षात्कार से विचलित हो गया है अर्थात् श्रवण, मनन निदिध्यासन परिपक्व होने से जो तत्त्व साक्षात्काररूप योग प्राप्त होता है उससे जिनका चित्त चलित हुआ है (उस योग के फल को विना प्राप्त किये रह गया है), इस प्रकार योग से चलितमानस यति योग की निष्पत्ति न होने के कारण योगसंसिद्धिम् अप्राप्य—योग अर्थात् तत्त्वज्ञान और उसकी सम्यक् सिद्धि [अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त करने पर (क) अज्ञान और अज्ञान के कार्य की निवृत्ति एवं (ख) संसार में अपुनरा-वृत्ति (लौटकर न आना) रूप जो योगसंसिद्धि प्राप्त होती है उसे] प्राप्त न

कर अतत्त्वज्ञ (अज्ञानी) की अवस्था में ही यदि प्राणत्याग करें तो वे कां गतिं कृष्ण गच्छति ? हे कृष्ण ! सुगति या दुर्गति किस प्रकार की गति को प्राप्त होते हैं ? क्योंकि वे कर्मों का तो त्याग किये हैं किन्तु उनमें ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है, तथा वे शास्त्रोक्त मोक्षसाधनों में व्यापृत रहने के कारण शास्त्रविगर्हित (निन्दित) कर्म भी नहीं किये हैं—ऐसी अवस्था में उनकी क्या सुगति होगी या दुर्गति होगी ? यही अर्जुन का प्रश्न है।

(२) श्रीधर— [अभ्यास और वैराग्य के अभाव से जिनका सम्यग् (पूर्ण) ज्ञान नहीं हुआ है, उनको क्या फल प्राप्त होगा उसे जानने के लिये] अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! श्रद्धया उपेतः अयतिः—जो व्यक्ति मिथ्याचार के वशीभूत होकर नहीं किन्तु पहले श्रद्धायुक्त होकर ही योग में प्रवृत्त हुए थे परतु बाद में सम्यक् रूप से प्रयत्न न करने के कारण 'अयति' हुए हैं (अयति शब्द का अर्थ है अल्प प्रयत्नशील अर्थात् जिनका अभ्यास शिथिल हो गया है वे) एवं योगात् चलितमानसः—इस प्रकार शिथिलाभ्यास के कारण जिनका विषयप्रवण चित्त योग से विचलित (भ्रष्ट) हो गया है अर्थात् जो अल्प (मन्द) वैराग्ययुक्त योगी हैं योगं संसिद्धिम् अप्राप्य—वे वैराग्य और अभ्यास इन दोनों की शिथिलता के कारण योग की संसिद्धि (अर्थात् ज्ञानरूप फल) न पा कर कां गतिं गच्छति—किस गति को प्राप्त होते हैं ?

(३) शंकरानन्द—इस प्रकार योग की (समाधि की) प्राप्ति का उपाय जानकर इहलोक और परलोक के सुख के साधन श्रौत-स्मार्तादि सभी कर्मों का त्याग कर योगनिष्ठा में प्रवृत्त हुए यति योगसिद्धि को प्राप्त न कर ही यदि प्राणत्याग करें तो वे स्वर्ग और मोक्ष के साधनों से रहित होने के कारण किस गति को प्राप्त होते हैं ? इसे जानने की इच्छा वाले अर्जुन ने कहा—

श्रद्धयोपेतः—योगानुष्ठान के द्वारा ही सम्यग् ज्ञान होता है और उस ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है—इस प्रकार श्रद्धा से अर्थात् निश्चयपूर्विका आस्तिक्य बुद्धि से उपेत (युक्त या सम्पन्न) होकर भी अयतिः—योगसिद्धि के लिये जो यत्न करते हैं अर्थात् योग (समाधि) के अनुष्ठान के लिये जो प्रयत्नवान् हैं वे यति हैं। और जो इस प्रकार प्रयत्नवान् नहीं हो सकते हैं वे अयति हैं। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि' अर्थात् श्रेयः कार्य में महान् पुरुषों को भी अनेक बाधाएँ (विपत्ति) उपस्थित होती हैं, इस न्याय के अनुसार प्रतिबन्धकरूप कर्मों के वश से जो विभिन्न प्रकार की विशेष बाधाएँ प्राप्त होकर समाधि के अनुष्ठान में प्रमत्त (असावधान) अतः योगात्

चलितमानसः—योग से चलित मन वाले होते हैं। 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार ब्रह्म में ही आत्मबुद्धि का निश्चय होना योग है। उस योग से अन्तिम समय में (मृत्यु के समय में) अथवा अन्य प्रकार से चालित होता है (बाह्य वासनाएँ तथा दुष्कर्मों के द्वारा विपरीत भाव प्राप्त होता है) मन जिनका, उनको 'चलितमानस' अर्थात् विनष्ट आत्मस्मृति कहा जाता है। **योगी**—ऐसे लक्षण-युक्त योगी **योगसंसिद्धिम् अप्राप्य**—जो विदेहमुक्ति से पुरुष को युक्त करता है (जोड़ता है) उसे योग अर्थात् सम्यग् ज्ञान कहा जाता है। उसकी संसिद्धि अर्थात् निरन्तर समाधि के अनुष्ठान के द्वारा 'ये सब तथा मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अप्रतिबद्ध (अविच्छिन्न) सम्यग् दर्शन ही 'योगसंसिद्धि' है। उस संसिद्धि को प्राप्त न कर अर्थात् समाधि का फल (सम्यग् दर्शन और उसके द्वारा मोक्ष) प्राप्त न कर ही यदि योगी की मृत्यु हो तो वे **कां गतिं गच्छति**—किस गति को प्राप्त होते हैं? यहां 'किम्' शब्द अविज्ञात पदार्थ के ज्ञान के लिये अर्थात् जो ज्ञात नहीं है, उसे जानने के लिये प्रयुक्त है—यहां 'किम्' शब्द आक्षेपादि के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। 'गम्यते इति गतिः' (जो कुछ प्राप्त होता है, वही गति है)। अतः 'कां गतिं' शब्द का अर्थ है उस योगी के द्वारा प्राप्तव्य (प्राप्त होने के योग्य) अर्थ (विषय) क्या है? स्वर्गसम्पादक (श्रौतादि) कर्मों के अनुष्ठान के अभाव से स्वर्गप्राप्ति का अभाव होता है; विष्णु आदि देवताओं की उपासना के अभाव से उस-उस लोकप्राप्ति का (विष्णुलोकादि की प्राप्ति का) अभाव होता है; (समाधि का अनुष्ठान न करने से) समाधि से उत्पन्न सम्यग् दर्शन के अभाव के कारण मुक्तिप्राप्ति का अभाव होता है और पाप-कर्मों के अनुष्ठान के अभाव से दुष्ट योनि का अर्थात् दुर्गति का अभाव होता है। अतः अप्राप्त है योगसंसिद्धि जिनको ऐसे यति को कौन सी गति प्राप्त होती है उसे मुझे बताओ—यही अभिप्राय है।

शंका— यहाँ 'कां गतिं कृष्ण गच्छति' अर्थात् हे कृष्ण! किस गति को प्राप्त होता है— अर्जुन का यह प्रश्न युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि योग-संसिद्धि के न होने पर भी यति के पूर्व जन्मकृत पुण्य कर्म संचित रह सकते हैं तथा उन पुण्य कर्मों के अनुसार स्वर्गादि की प्राप्ति संगत ही है—ऐसा यदि कहूँ?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि चित्त-शुद्धि उत्पन्न होने में ही पूर्व जन्मों के पुण्य कर्मों का क्षय (नाश) हो गया। शास्त्र में कहा

गया है—'जन्मान्तरसहस्रेषु यज्ञदानतपोऽध्वरैः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥ स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्। साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥ नित्यनैमित्तिकैरेव नियमेनेश्वरार्पितैः वहुजन्मकृतैर्विप्रः सत्त्वशुद्धिं समश्नुते ॥' (पिछले सहस्र जन्मों में किये गये यज्ञ, दान, तपस्या के द्वारा पापरहित (पापशून्य) होकर मनुष्यों की कृष्ण के प्रति भक्ति होती है। पुरुषों को अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के धर्मपालन, तपस्या और श्री हरि (परमात्मा) के तोषण (भजन) से वैराग्यादि साधन-चतुष्टय प्राप्त होते हैं। अनेक जन्मों में नियमपूर्वक नित्यनैमित्तिक कर्मों का ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करने से ब्राह्मण चित्तशुद्धि को प्राप्त होते हैं।) 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता १८।४६) अर्थात् स्व-कर्मों के द्वारा भगवान् की अर्चना (पूजा) कर मानव सिद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार स्मृति-वाक्यों के द्वारा यही सिद्ध होता है कि ईश्वर में अर्पण की बुद्धि से जो कुछ भी पुण्य कर्म पूर्व में किये गये हैं उनका एकमात्र फल है चित्तशुद्धि।

शंका—'संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्' (संन्यास से ब्रह्मा का स्थान प्राप्त होता है) इत्यादि स्मृति के प्रसिद्ध वचनों के अनुसार यह सिद्ध होता है कि संन्यासरूप क्रियामात्र से ब्रह्मलोक में गति होती है—ऐसा यदि कहूँ ?

समाधान—नहीं, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि वैसा संन्यास अन्यथासिद्ध है। 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' अर्थात् इसी लोक को ही (मोक्ष को ही) इच्छा कर संन्यासी संन्यास ग्रहण करते हैं, 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' (संन्यास ग्रहण करके श्रवण करे), इत्यादि श्रुतिस्मृति आदि से यह ज्ञात होता है कि संन्यास का श्रवण अंग होने के कारण संन्यास की अपनी शक्ति श्रवणादि अर्थ की सिद्धि में ही क्षय प्राप्त हो जाने से उसका (संन्यास का) ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वाला फल होता है ऐसा कहना उपपन्न (युक्तिसंगत) नहीं है। जिस प्रकार 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' (जो स्वर्ग की कामना करता है वह ज्योतिष्टोम याग करें इस वाक्य के द्वारा विहित ज्योतिष्टोम याग की स्वर्ग-प्राप्ति के लिये संकल्प होने से स्वर्ग की प्राप्ति कराने में ही उसका सामर्थ्य रहता है—ब्रह्मलोकादि प्राप्त कराने में नहीं, उसी प्रकार श्रवण आदि अर्थ की (अर्थात् श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की) सिद्धि के लिये संकल्पित विविदिषासंन्यास का श्रवणादि अर्थ को प्राप्त कराने में ही सामर्थ्य है, अन्य किसी प्रकार फल प्राप्त कराने में नहीं। श्रुति में भी कहा गया है—'स यथाकामो भवति तत् क्रतुर्भवति यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते

तदभिसम्पद्यते' (अर्थात् वह जैसी कामनाएँ करता है वैसा ही निश्चय करता है, जैसा निश्चयवाला होता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है। श्रुति के इस नियम के अनुसार श्रवणादि के अंग के रूप से किये गये विविदिषासंन्यास के श्रवणादि में ही उपक्षीण होने के कारण यति को उस संन्यास से श्रवणादि के अतिरिक्त दूसरा कोई पुण्य कर्म उपलब्ध नहीं होता है अतः अर्जुन का प्रश्न युक्तिसंगत ही है, यह सिद्ध हुआ।

शंका—तब क्या 'संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्' (संन्यास से ब्रह्मा का स्थान) इत्यादि स्मृतिवाक्यसमूह व्यर्थ हो जायँगे !

समाधान—नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्' इस स्मृति वाक्य के द्वारा जो संन्यास का फल ब्रह्मा का स्थान कहा गया है, वह क्या विद्वत् संन्यास का फल है या विविदिषा संन्यास का अथवा आपत् संन्यास का है ! प्रथम पक्ष नहीं हो सकता है क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति' (उसका प्राण उत्क्रमण नहीं करता है)। इस वाक्य के द्वारा विद्वान् के (ब्रह्मज्ञ पुरुष के) प्राणों के उत्क्रमण का अभाव प्रतिपादित हुआ है अतः विद्वान् का लोकान्तरगमन असम्भव होने के कारण उनके द्वारा कृत संन्यास के फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं हो सकती। और दूसरा पक्ष भी अर्थात् विविदिषा संन्यास का फल स्वर्गप्राप्ति—वह भी युक्त नहीं है क्योंकि विविदिषा संन्यास का एकमात्र फल है श्रवणादिरूप अर्थ (विषय) की सिद्धि, अतः उससे फिर दूसरे फल की प्राप्ति की कल्पना संगत नहीं है। अन्त में आपत् संन्यास का ही ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप फल होता है, ऐसा निश्चित होता है। इस विषय में स्मृति भी यही कहती है—'आपद्यपि च कुर्वीत संन्यासं ब्राह्मणोत्तमः। यदनुष्ठानमात्रेण प्रयाति ब्रह्मणः पदम्' ॥ (उत्तम ब्राह्मण आपत् में भी संन्यास करे, क्योंकि आपत् संन्यास के अनुष्ठानमात्र से ब्रह्मा के पद को प्राप्त किया जा सकता है)। अतः 'संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्' इत्यादि स्मृति-वाक्य समूह का विषय आपत्संन्यास होने के कारण उन सब वाक्यों की सार्थकता है। इस कारण से उन सब शास्त्रवाक्यों में कभी युक्तिहीनता (अनुपपत्ति) नहीं है।

प्रश्न—अच्छा, आपत् में संन्यास का ग्रहण करके फिर जीवित होकर विवेकी पुरुष यदि श्रवणादि के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाये तो आपत्

संन्यास का एकमात्र फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति ही है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—जन्मान्तर में (पिछले जन्म में) मोक्ष की इच्छा से संन्यास ग्रहण कर श्रवण करते हुए यदि प्रतिबन्धकता के कारण उनमें ज्ञान की उत्पत्ति न हुई हो तो फिर इस जन्म में भी 'आपत्काल में संन्यास ग्रहण करे' ऐसा उपदेश प्राप्त कर पूर्व संस्कारवश संन्यास का ग्रहण करके श्रवण तथा मनन से ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो सकते हैं। इस विषय को ही श्री भगवान् भी 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' (पवित्र श्रीमानों के गृह में योगभ्रष्ट जन्म लेते हैं इत्यादि वाक्यों के द्वारा) कहेंगे। अतः यहाँ कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न--अच्छा, जो योगसिद्धि प्राप्त नहीं किये हैं, ऐसे योगी यति का संन्यास यद्यपि श्रवणादि में उपक्षीण हो जाता है (श्रवणादि के द्वारा ही क्षय प्राप्त होता है), तथापि 'भिक्षाटनं जपः शौचं स्नानं ध्यानं सुरार्चनम्। कर्तव्यानि षडेतानि यतीनां नृपदंडवत्॥' (भिक्षाटन, जप, शौच, स्नान, ध्यान, देवपूजन—ये छः कर्तव्य यति के राजदंड के समान हैं अर्थात् यति के लिये अवश्यकर्तव्य हैं—शास्त्र में ऐसा विधान किया गया है)। "स्वशाखोपनिषद् गीता को" इत्यादि स्मृति से कहे गये मन्त्र, जप, स्तोत्र, देवार्चन आदि पुण्यकर्म स्वर्गप्राप्ति के लिये किये जाते हैं। अतः यति से उन सब पुण्य कर्मों का अनुष्ठान होने से पुण्यलोक (ब्रह्मलोक आदि) ही प्राप्त हो सकता है, ऐसा यदि कहूँ ?

समाधान—नहीं, ऐसी शंका युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि स्तोत्र, मन्त्र, जपादि भेदप्रत्यय से (द्वैतबुद्धि से) किये जाते हैं तथा वे विपरीत भावनाओं के (अनात्म देहादि में आत्मबुद्धि के) हेतु होने के कारण ब्रह्मविद् उन स्तोत्र मंत्रादि का विषय (आश्रय) नहीं हो सकते हैं। 'नैतादृशं ब्राह्मणस्याऽस्ति-वित्तम्' (इसके समान अर्थात् एकमात्र ब्राह्मी स्थिति के समान ब्राह्मण का अन्य कोई धन नहीं है), 'उपरमः क्रियाभ्यः' (क्रियाओं से उपराम), 'नैव धर्मी न चाधर्मी' (ब्रह्मवित् पुरुष न तो धर्मी है और न तो अधर्मी है), 'तूष्णीं किंचिदचिन्तयन्' (चुपचाप स्थित रहे—कुछ भी चिन्तन न करे) इत्यादि शास्त्रों के वाक्यों से सर्व कर्मों से उपराम ही योगी यति का लक्षण है। गीता में भी 'ध्यानयोगपरो नित्यम्' (सदा ध्यानयोगपरायण) इत्यादि वाक्यों के द्वारा यह ज्ञात होता है कि निदिध्यासन करने के इच्छुक यति को ध्यान के

अतिरिक्त और अन्य किसी भी क्रिया के लिये अवकाश नहीं रहता है, यही सूचित करने के लिये 'नित्यम्' इस पद का प्रयोग हुआ है, इस प्रकार भाष्यकार शंकराचार्य ने व्याख्या की है। अतः निरन्तर योगनिष्ठापरायण यति के लिये मन्त्र, जपादि पुण्यकर्मों का अनुष्ठान सम्भव (उपपन्न) नहीं होने के कारण पुण्यकर्मों के फलस्वरूप पुण्यलोक में अर्थात् ब्रह्मलोक में उनकी गति का सम्भव ही नहीं है। इसलिये अर्जुन ने प्रश्न किया 'हे कृष्ण ! (जिनको इस जन्म में योगसंसिद्धि प्राप्त नहीं हुई है) वे कौनसी गति को प्राप्त होते हैं' ?

(४) **नारायणी टीका**—श्रुति में मृत्यु के पश्चात् पाँच प्रकार की गति के विषय में कहा गया है। (१) जो लोग इष्ट पूर्तादि शास्त्रविहित पुण्य-कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, उनकी पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक में (स्वर्ग में) गति होती है। उस लोक में पुण्यकर्मों का फलभोग कर पुण्य क्षय होने से फिर वे इस लोक में अर्थात् मर्त्य धाम में जन्मग्रहण करते हैं (छा० उ०, बृ० उ०)। इसे पितृयान मार्ग कहा जाता है। (२) जो सदा पापकर्मों में लिप्त रहते हैं, वे अत्यन्त नीच योनि को प्राप्त होते हैं अर्थात् शूकर, सर्प, मच्छड़ इत्यादि के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं (छा० उ०)। (३) जो पापकर्म तथा पुण्यकर्म, दोनों का अनुष्ठान करते हैं, वे मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं और पाप पुण्य के अनुपात से चांडाल, ब्राह्मण इत्यादि वर्णों में जन्म ग्रहण करते हैं। (४) जो भक्तलोग सगुण ब्रह्म में (भगवान् की उपासना में) रत रहते हैं और मृत्यु के समय भगवान् को ही स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करते हैं, वे देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में गति प्राप्त कर ब्रह्मलोक का सुखभोग करते हैं तथा ब्रह्मा का द्विपरार्ध आयु का अवसान (शेष) होने पर ब्रह्मा के साथ ज्ञान प्राप्त कर मुक्त होते हैं। इसे क्रममुक्ति कहा जाता है। इस ब्रह्मलोक को ही वैकुण्ठ लोक, शिवलोक भी कहा जाता है। (५) जिनका तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय हुआ है तथा निरवच्छिन्न रूप से आत्मस्थिति प्राप्त हुई है, वे मृत्यु के साथ ही ब्रह्म में लीन होकर जन्म मृत्यु के प्रवाह से मुक्त हो जाते हैं। इसे 'सद्योमुक्ति' कहते हैं।

उक्त पाँच प्रकार की गतियों में योगभ्रष्ट योगी की (१) नं० गति नहीं हो सकती है, क्योंकि वे शास्त्रविहित पुण्यकर्मों का त्याग किये हैं (२) नं० गति भी सम्भव नहीं है क्योंकि किन्हीं पापकर्मों का अनुष्ठान भी वे नहीं करते हैं; (३) नं० गति भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्व कर्मों को

परित्याग करने के कारण, पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करना उनके द्वारा सम्भव नहीं है; (४) नं० तथा (५) नं० गतियाँ भी सम्भव नहीं हैं क्योंकि चित्त की चंचलता के कारण उनकी संसिद्धि (भगवान् के ध्यान में ब्राह्मी स्थिति में पूर्ण सिद्धि) प्राप्त नहीं हुई है। अतः उन्हें कौन-सी गति प्राप्त होती है? इसे जानने के लिये इच्छुक होकर अर्जुन ने प्रश्न किया।

[पूर्ववर्ती श्लोक में अर्जुन ने योगभ्रष्ट योगी की गति के विषय में जो प्रश्न किया उसी का ही अब विस्तार कर रहा है—]

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

अन्वय—हे महाबाहो! ब्रह्मणः पथि विमूढः अप्रतिष्ठः (योगी) उभयविभ्रष्टः (सन्) छिन्नाभ्रम् इव कच्चित् न नश्यति?

अनुवाद—हे महाबाहो! कर्ममार्ग में अप्रतिष्ठ (फल-संन्यास या कर्म-संन्यास करने के कारण स्वर्गादि भोग से रहित) तथा अभ्यास व वैराग्य के अभाव के कारण ब्रह्मप्राप्ति या भगवत्प्राप्ति के मार्ग में (समाधिनिष्ठा में) विमूढ़ (विक्षिप्त चित्त) हुआ योगी उभयभ्रष्ट होकर क्या छिन्न-भिन्न बादल की भाँति नष्ट नहीं हो जाता?

भाष्यदीपिका—हे महाबाहो! सर्व भक्तों के सर्व प्रकार के उपद्रवों को निवृत्त करने में समर्थ एवं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को प्रदान करने में समर्थ शंख-चक्र-गदा-पद्मशोभित चार बाहें तुम्हारी हैं। अतः तुम्हारा आश्रय कर मैं कभी योगभ्रष्ट नहीं होऊँगा, इस विश्वास को सूचित करने के लिये अर्जुन ने 'महाबाहो' कहकर सम्बोधन किया। ब्रह्मणः पथि विमूढः (सन्)—ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में (ज्ञान में) विमूढ (विक्षिप्त चित्त) होकर अर्थात् चित्त की चंचलता के कारण समाधिनिष्ठा से च्युत होकर विपरीत भावना प्राप्त कर ब्रह्मात्मैक्य के साक्षात्कार से वंचित योगी अप्रतिष्ठः—निराश्रय होकर कर्मफलत्याग या कर्मत्याग करने के कारण विहित कर्मों के फलरूप स्वर्गादि-लोकप्राप्ति की कोई प्रतिष्ठा (अर्थात् आश्रय या अवलम्बन) उनको नहीं रहता है। [अथवा प्रतिष्ठा = साधन। देवयान एवं पितृयान मार्गों में जाने के हेतुभूत उपासना और कर्मरूप प्रतिष्ठा (साधनों) से रहित क्योंकि वह तो उपासना सहित अन्य सभी कर्मों का त्याग कर देता है। (मधुसूदन)]

उभयविभ्रष्टः—(अतः) कर्ममार्ग और योगमार्ग (ज्ञानमार्ग) दोनों से ही विशेषरूप से भ्रष्ट। [अपने आश्रमविहित कर्मों का त्याग करने के कारण कर्मों के फलरूप से प्राप्त होने वाले देवयान तथा पितृयान मार्गों से भ्रष्ट होता है और योग या समाधि में निष्ठा न रहने के कारण ज्ञान के फलरूप मोक्ष से भी भ्रष्ट होता है, अतः दोनों गतियों से भ्रष्ट (रहित) होकर **छिन्न-अभ्रम् इव कच्चित् न नश्यति**—छिन्न-भिन्न बादल के समान नष्ट तो नहीं हो जाते हैं ! जिस प्रकार वायु से छिन्न (टुकड़े-टुकड़े) किया हुआ बादल पहले मेघ से अलग होकर दूसरे मेघ से न मिलकर वर्षा करने के योग्य न होकर बीच में ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार योगभ्रष्ट योगी भी पूर्वाश्रम के (गृहस्थाश्रम के) शास्त्रविहित कर्मों का त्याग करने के कारण स्वधर्म से अलग होकर तथा आगे के (संन्यासाश्रम में) ज्ञानमार्ग तक न पहुँच कर बीच में ही क्या नष्ट हो जाता है ? अर्थात् कर्म और ज्ञान दोनों के ही फलभोग से वंचित होकर नाशप्राप्त तो नहीं हो जाता है ? 'कच्चित्' शब्द से यह ही सूचित कर रहा है कि अर्जुन ने जानने की इच्छा कर ही प्रश्न किया, अपने मत की प्रतिष्ठा करने के लिये नहीं। (मधुसूदन)]

टिप्पणी ! (१) **श्रीधर**—[पूर्वश्लोक के अभिप्राय को खोलकर बताता है—] हे महाबाहो ! **उभयविभ्रष्टः**—कर्मों को ईश्वर में अर्पण करने के कारण तथा अन्य किसी काम्य कर्मों का अनुष्ठान न करने के कारण कर्मों के फलरूप स्वर्गादि को प्राप्त नहीं होते हैं। फिर योग की निष्पत्ति (सिद्धि) न होने के कारण मोक्षलाभ भी नहीं कर सकते हैं, इस प्रकार उभयविभ्रष्ट होकर (कर्मों के फल स्वर्गादि तथा ज्ञान के फल मोक्ष, इन दोनों से भ्रष्ट होकर) **अप्रतिष्ठः**—निराश्रय होकर **ब्रह्मणि पथि विमूढः**—ब्रह्मप्राप्ति के उपाय रूप मार्ग में (पथ में) विशेषरूप से मूढ़ता को प्राप्त होकर **किं न नश्यति**—क्या वे नष्ट नहीं होते हैं ? अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। नाशप्राप्त होने की आशंका कैसे कर रहे हैं, उसका दृष्टान्त दे रहे हैं—**छिन्न-अभ्रम् इव**—जैसे छिन्न-भिन्न अभ्र (बादल) पूर्व (पहले) अभ्र (बादल) से अलग होकर अभ्रान्तर को (बादल के दूसरे खंड को) न पाकर बीच में ही आकाश में विलीन (लुप्त) हो जाता है, क्या योगभ्रष्ट साधक उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं ?

(२) **शंकरानन्द**—अर्जुन ने और प्रश्न किया—**ब्रह्मणः पथि**—ब्रह्ममार्ग में अर्थात् योगनिष्ठा में **विमूढः**—विशेष रूप से मूढ़ अर्थात् कर्म दोषरूप प्रतिबन्धकता के कारण विपरीत भाव को प्राप्त (अर्थात् समाधि निष्ठा से च्युत

होकर देहात्मबुद्धि प्राप्त)। उस कारण से अप्रतिष्ठः—जिसका अवलम्बन कर स्थित होती है वह प्रतिष्ठा अर्थात् आधार है! यह जिनका नहीं है वे अप्रतिष्ठ हैं अर्थात् ज्ञान तथा कर्म इन दोनों में से किसी का आलम्बन नहीं रहता है ऐसे यति स्वयं उभयविभ्रष्टः (सन्)—योगनिष्ठा से प्रच्युत (भ्रष्ट) होने के कारण ज्ञानफल (मोक्ष) से भ्रष्ट होते हैं और सर्व कर्मों का संन्यास (त्याग) करने के कारण कर्मफल (स्वर्गादि प्राप्तिरूप फल) से भ्रष्ट होते हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार की गतिओं से रहित होकर छिन्नाभ्रम् इव—छिन्न वादल की भाँति अर्थात् पहले जो बादल चला गया है उससे सम्बधरहित तथा पीछे आनेवाले मेघमंडल (बादल) से भी रहित बीचमें रहने वाला जो अभ्र-खण्ड है (छोटासा बादल का टुकड़ा है) वह जिस प्रकार वायु के द्वारा छिन्न (अलग) होकर बीचमें (मध्याकाशमें) ही नष्ट हो जाता है अर्थात् अपना स्वरूप का नाश प्राप्त होता है कच्चित् न नश्यति—उसी प्रकार वह योगी भी क्या नष्ट नहीं हो जाते हैं—अर्थात् उस बादल के टुकड़े की भाँति क्या वे स्वरूप नाश को प्राप्त नहीं होते हैं ?

(३) नारायणी टीका—उभयविभ्रष्टः—श्री भगवान् "उभयविभ्रष्टः" इस शब्द से ज्ञान तथा कर्म का फल अलग होने के कारण उनका समुच्चय (एक ही साथ कर्तव्यता को) मना कर रहे हैं। गीता में कहा गया है "नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति" (गीता १८।४९) अर्थात् सब कुछ सम्यक् प्रकार से (सम्पूर्ण रूप से) त्याग करने से नैष्कर्म्यसिद्धि अर्थात् ज्ञाननिष्ठा होती है। कर्म और नैष्कर्म्य एक ही साथ नहीं रह सकता है क्योंकि एक दूसरे से विपरीत है। फल की कामनाओं से रहित हो कर (फलकामना का त्याग कर) अपना अपना आश्रमविहित कर्म करने से चित्तशुद्धि होती है। चित्तशुद्धि होने से उपासना तथा योग के द्वारा चित्त एकाग्र होता है। चित्त एकाग्र होने से निर्विकल्प समाधि के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है अर्थात आत्मसाक्षात्कार होता है। आत्मस्थिति होने से फिर कर्म नहीं रहता (तस्य कार्यं न विद्यते, गीता ३।१७)। इसलिये ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय नहीं होता है।

आनन्द गिरि एवं मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि "उभयविभ्रष्ट" यह आशंका कर्मियों के लिये संगत नहीं है क्योंकि जो कर्मों के फल की अभिलाषा का त्याग कर ईश्वर में समर्पण करके कर्म करते हैं उनकी कर्मों से किसी प्रकार की फल-प्राप्ति की आशा न रहने पर भी 'कर्म से वे भ्रष्ट होते हैं' ऐसी उक्ति युक्तिसंगत

नहीं हो सकती है। द्वितीयतः, निष्काम कर्मों का भी (प्रासंगिक) फल उत्पन्न होते हैं, वह आपस्तम्बादि के वचनों से जाना जाता है। अतः निष्काम कर्मों का भी प्रासंगिक फल (जैसे—मानसिक उत्कर्ष, चित्तशुद्धि आदि) प्राप्त करते ही हैं। अतः अर्जुनने निष्काम कर्मों को लद्दय कर इस प्रश्न को नहीं कहा हैं। 'उभयविभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग सर्वकर्मसंन्यासी को (सर्वकर्मत्यागी को) लक्ष्य करके ही किया गया है क्योंकि एक ओर वे विहित कर्मों का त्याग किये हैं एवं दूसरी ओर ज्ञानलाभ का उपाय निर्विकल्प समाधि से भी (चित्त की चंचलता के कारण) विच्युत हुए हैं। इस प्रकार उभयभ्रष्ट संन्यासी के विषय में ही अनर्थप्राप्ति की शंका हो सकती है।

[पहले दोनों श्लोकों में योगभ्रष्ट की गति के सम्बन्ध में जो संशय था, अर्जुन उसे ज्ञापन कर अब श्री भगवान् के निकट उस संशय का छेदन करने के लिये प्रार्थना कर रहें हैं—]

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

अन्वय—हे कृष्ण! मे एतत् संशयम् अशेषतः छेत्तुम् अर्हसि हि (यस्मात्) त्वत् अन्यः अस्य संशयस्य छेत्ता न उपपद्यते ॥

अनुवाद—हे कृष्ण! मेरे इस संशय को समूल छेदन करने में तुम हो योग्य (समर्थ) हो; क्योंकि तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस संशय को छेदन नहीं कर सकता है।

भाष्यदीपिका। हे कृष्ण! हे सदानन्दस्वरूप परमात्मन्। मे एतत् संशयम् अशेषतः छेत्तुम् अर्हसि—मेरे इस संशय को (अर्थात् योगभ्रष्ट व्यक्ति के परलोकगति विषयक संशय को) सम्पूर्णरूप से अर्थात् मूलसहित [अर्थात् संशय के मूल में जो अधर्मादि मलिनता है उसे चित्त से उच्छेद कर अथवा श्रुति स्मृति प्रसिद्ध युक्ति के द्वारा जिससे कि संशय का लेशमात्र भी न रहे ऐसे सर्व संशय को] निराकरण या छेदन करने के लिये आप ही समर्थ हैं क्योंकि आप तो सर्वज्ञ परमेश्वर हैं। [यह संशय सम्पूर्णरूप से दूर होने से ही मोक्षकामी व्यक्ति निर्भय होकर सभी कर्मों का त्याग कर योगनिष्ठा में प्रवृत्त हो सकता है। और यदि कोई संशय रहें तो योग से उत्पन्न होने वाले ज्ञान और उसका फल मोक्ष के विषय में निश्चयबुद्धि न रहने के कारण कोई भी इहकाल तथा परकाल के सुख के (विषय सुख के)

हेतुभूत कर्मों का त्याग कर ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त होने के लिये साहस नहीं करेगा। अतः केवल मेरे ही कल्याण के लिये नहीं, सभी के कल्याण के लिये इस संशय की निवृत्ति के लिये मैं आपके निकट प्रार्थना कर रहा हूँ, यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है। संशय शब्द पुल्लिंग है। इसलिये "एतत्" शब्द का 'एवम्' अर्थ में प्रयोग हुआ है, ऐसा समझना होगा।] **हि त्वत् अन्यः अस्य संशयस्य छेत्ता न उपपद्यते**—चूँकि (हि) आप से अतिरिक्त किसी के लिये इस परलोकविषयक संशय के छेदन का कर्ता होना (छेत्ता) सम्भव नहीं हैं अर्थात् दूसरा कोई भी इस संशय को छेदन (नष्ट) करने में समर्थ नही हैं। श्री भगवान् प्रश्न कर सकते हैं—"क्यों, मेरे अतिरिक्त कोई ऋषि या देवता भी तो तुम्हारे इस संशय को छेदन कर सकते हैं!" इसलिये अर्जुन ने कहा—"त्वदन्यः न उपपद्यते" अर्थात् आप के अतिरिक्त दूसरे किसी के लिये यह सम्भव नही है क्योंकि (क) आप सर्वज्ञ परमेश्वर हैं—आप से सभी शास्त्र स्वतः ही (विना प्रयत्न से) निःसृत हुए हैं। इसलिये श्रुति ने कहा है—"अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणः विद्या उपनिषदः श्लोकाःसूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि। (बृ० उ० २।४।१०) अर्थात् जिस प्रकार श्वास प्रश्वास की क्रिया बिना प्रयत्न से होती है उसी प्रकार इस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, नृत्यगीतादि देवजनविद्या, उपनिषत्, श्लोक-समूह (वेदों के ब्राह्मणान्तर्गत मन्त्रसमूह) सूत्रों [वस्तु के (यानी यथार्थ विषयों के) सम्बन्ध में संग्रहित वाक्यों], अनुव्याख्या (मंत्रव्याख्या), व्याख्या (मंत्रों का विवरण) ये सब प्रयत्न के बिना ही निःसृत हुए हैं; (ख) फिर आप ही गुरु के भी गुरु (परमगुरु) हैं। इसलिये पातंजल योग दर्शन में कहा गया है—'स गुरूणामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' अर्थात् आप सर्वभूतान्तरात्मा ईश्वर सबके नित्यगुरु हैं क्योंकि काल आपको अवच्छेद (सीमित) नहीं कर सकता है अर्थात् आप अविनाशी है। [अतः अर्जुन कहते हैं—आप परमेश्वर हैं, सर्वज्ञ हैं, शास्त्रयोनि हैं, परमगुरु और परम करुणामय हैं—आप के सिवा ऋषि हो और देवता हो सभी अनीश्वर तथा असर्वज्ञ होने के कारण कोई भी इस योगभ्रष्ट की परलोकगति-विषयक संशय का छेदन करने वाला (ठीक-ठीक उत्तर देकर इस संशय का नाश करने वाला) नहीं हो सकता। इसलिये सबके परमगुरु प्रत्यक्षदर्शी

(त्रिकालदर्शी आप ही मेरे इस संशय का छेदन (नाश) करने में समर्थ हैं। (मधुसूदन)]।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[आप सर्वज्ञ हैं अतः मेरे इस संशय को आप ही दूर कर सकते हैं। इसलिये कह रहे हैं—] हे कृष्ण, मेरे इस संशय को सम्पूर्ण रूप से छेदन करने में आप ही समर्थ हैं क्योंकि आपसे भिन्न दूसरा कोई भी [ऋषि या देवता] इस संशय का छेत्ता (निवर्तक) होने में योग्य नहीं है अर्थात् आपसे भिन्न कोई भी इस संशय की निवृत्ति करने में समर्थ नहीं है। यहा 'एतत्' शब्द का 'एतम्' अर्थ में प्रयोग किया गया है।

(२) शंकरानन्द—हे कृष्ण!—हे सदानन्दस्वरूप परमात्मन्! मे एतत् (एतम्) संशयम्—आप ही सर्वज्ञ परमेश्वर हैं अतः मुझे जो यह संशय उत्पन्न हुआ है, उसे आप ही अशेषतः—अशेष रूप से (सम्पूर्ण रूप से) छेत्तुम् अर्हसि—छेदन करने के लिये अर्थात् श्रुति, स्मृति तथा युक्तियों के द्वारा दूर करने में योग्य (समर्थ) हैं ऐसा संशय छिन्न (दूर) होने पर ही मुमुक्षु निर्भय होकर सभी कर्मों का त्याग कर योगनिष्ठा में प्रवृत्त हो सकते हैं। [श्री भगवान् कह सकते हैं—] अच्छा, देवता, ऋषि, सर्वज्ञ आदि जो महान् हैं, वे तुम्हारे इस संशय का छेदन करेंगे, अतः उनसे पूछना चाहिये। इसके उत्तर में अर्जुन कह रहे हैं—त्वदन्यः—आपके अतिरिक्त दूसरा कोई। 'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः' (मैं देवताओं तथा ऋषियों के मध्य में सबसे आदि हूँ), इस वचन के द्वारा आप ही देवताओं के और ऋषियों के आदि हैं (अर्थात् आप ही से सबकी सृष्टि हुई है) तथा आप ही सर्वज्ञ हैं, यह तो आप अपने ही मुख से कहेंगे (गीता १०।२)। अतः आपके अतिरिक्त दूसरी देवता, ऋषि अथवा अन्य किसी के लिये अस्य संशयस्य—इस संशय का छेत्ता न हि उपपद्यते—छेदनकर्ता (निवर्तक) होना सम्भव नहीं है अर्थात् अन्य कोई भी इस संशय की निवृत्ति करने में समर्थ नहीं हैं। हि— 'मेधावी छिन्नसंशयः' (गीता १८।१०) इस वचन से आप ही सभी संशयों के छेदनकर्ता हैं, यह शास्त्रप्रसिद्ध है। इस प्रसिद्धि को सूचित करने के लिये 'हि' शब्द है। [शंकरानन्द 'एतत्' पाठ का ग्रहण न कर 'एतम्' शब्द का ग्रहण किये हैं]।

(३) नारायणी टीका—अर्जुन के कहने का अभिप्राय यह है— (क) आप ही परम गुरु हैं, आप यदि अन्तरात्मा के रूप से किसी को कृपा

कर शास्त्रों के तात्पर्य को समझने दें तो वह समझ सकता है, नहीं तो ऋषि, देवता या पंडितों की ऐसी शक्ति कहाँ है जो कि आप का निःश्वास स्वरूप शास्त्रों के तात्पर्य को उद्घाटन कर सके (जान सके)। श्रुति में भी यही प्रतिपादित किया गया है "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेता० उ० ६।१८) (जो सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के हृदय में वेद समूह संचारित किये थे), पातंजल योगशास्त्र में भी कहा है—"सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (पा० यो० १।२६) अर्थात् वे पूर्वगुरुओं के भी गुरु हैं क्योंकि उनका अवच्छेद (सत्ता का लोप) किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है (अर्थात् वह अनादि, नित्य तथा अनन्त हैं)। गीता में भी तुम अपने मुख से कहोगे—"अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः" (गीता १०।२) अर्थात् मैं देवगण तथा ऋषियों के सभी प्रकार से आदिस्वरूप हूँ। अतः आप की कृपा के विना आप का अथवा आप की सृष्टि का रहस्य कोई नहीं जान सकता है।

(ख) आप परम कारुणिक (करुणामय) हैं क्योंकि आप तो सभी के प्रियतम आत्मा हैं। अतः आप सभी के सुहृत् हैं ("सुहृदं सर्वभूतानां" गीता ५।२९)। आप की जीव के प्रति कृपा स्वाभाविक है क्योंकि आप तो कृष्ण हैं अर्थात् सभी जीव को जन्म मृत्यु के प्रवाह से उद्धार करने के लिये सदा ही अपने पास आकर्षण कर रहे हैं। अतः जीव के कल्याण के लिये मेरे इस संशय का छेदन (निराकरण) जैसी स्पष्टता से आप करेंगे, वैसा अन्य किसी ऋषि मुनियों या देवताओं के लिये सम्भव नहीं है।

[भगवान् सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ हैं। अतः भगवान् का सर्वसंशय-छेतृत्व (सर्व संशयों को छेदन करने में सामर्थ्य) सर्व शास्त्रों में ही प्रसिद्ध है, उसे प्रकाश करने के लिये "हि" शब्द का प्रयोग किया गया है।]

[योगभ्रष्ट के विषय में अर्जुन को नाश की आशंका को दूर करने के के लिये श्री भगवान् उत्तर दे रहे हैं—]

श्री भगवानुवाच

पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

अन्वय—श्री भगवान् उवाच—हे पार्थ ! तस्य इह विनाशः न विद्यते अमुत्र एव न। हि (यस्मात्) हे तात ! कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं न गच्छति ॥

अनुवाद—श्री भगवान् ने कहा, हे पार्थ उस योगभ्रष्ट का विनाश न तो इहलोक में (इस लोक में) हो सकता है और न परलोक में ही क्योंकि हे तात जो कल्याण के रास्ते में चलता है (जो शास्त्रविहित शुभ कर्म करने वाला है) वह कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है ।

भाष्यदीपिका । पार्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन ! तस्य इह विनाशः न विद्यते अमुत्र एव न—उसका अर्थ उस योगभ्रष्ट का इहलोक (इस लोक) में विनाश नहीं है, परलोक में भी (अमुत्र एव) विनाश नहीं है । नाश शब्द का अर्थ है—पूर्व जन्म की अपेक्षा हीन (निम्न) जन्म की प्राप्ति । योगभ्रष्ट की ऐसी अवस्था (अर्थात् विनाश) नहीं होती है । [योगभ्रष्ट को अनिष्ट की प्राप्ति इहलोक में भी नहीं होती है, परलोक में भी नहीं होती है । उच्छृंखल पुरुष के समान वेदविहित कर्मों के त्यागने से शिष्टजनों की दृष्टि में निन्दनीय होना पड़ता है (यही इहलोक में अनिष्ट की प्राप्ति या विनाश है) अथवा परलोक में निकृष्ट (अधम) गति को प्राप्त होता है (अर्थात् नरकगति की प्राप्ति अथवा नीच योनि में जन्म अथवा अत्यन्त निकृष्ट कीट, पतंग, दन्दशूक इत्यादि के रूप से जन्म ग्रहण करना पड़ता है—यही परलोक में अनिष्ट प्राप्ति या विनाश है) परन्तु यदि कोई योगी शास्त्रविहित उपायों से वैराग्यपूर्वक सर्व कर्मों का त्याग कर शमदमब्रह्मचर्यादिगुण विशिष्ट होकर सद्गुरु की शरण लेकर वेदान्त श्रवणादि द्वारा समाधि योग में प्रवृत्त होकर श्री आत्मा में स्थितिलाभ करने के पहले ही मर जाय तो उसको इहकाल या परकाल में उक्त प्रकार विनाश (अर्थात् इहलोक में शिष्टजनों की निन्दा की प्राप्ति तथा परलोक में अधोगति की प्राप्ति) नहीं हो सकता है, यही यहाँ कहने का तात्पर्य है । हे तात !—तनोति आत्मानमिति (पुत्रोत्पादन कर पुत्ररूप से आत्मा का विस्तार करते हैं) इसलिये पिता को 'तात' कहते हैं । फिर पुत्र ही पिता का प्रतीक है अर्थात् पिता ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है इसलिये पुत्र को भी 'तात' कहते हैं । फिर शिष्य भी पुत्र के समान है यथा गुरु की विद्या का विस्तार करता है इसलिये शिष्य को भी 'तात' कहते हैं । 'तात' सम्बोधन के द्वारा श्री भगवान् यहाँ अर्जुन के प्रति अत्यन्त वात्सल्य (स्नेह की भावना) तथा कृपा प्रकाश कर रहे हैं । भगवान् द्वारा दी हुई ब्रह्मविद्या को अर्जुन शिष्यों- प्रशिष्यों के द्वारा बाद में विस्तार करेंगे, इस लिये यहाँ अर्जुन को श्री भगवान् ने 'तात' कहकर सम्बोधन किया ।

हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं न गच्छति—चूँकि (हि) कोई भी कल्याणकारी अर्थात् शुभकार्य करने वाला दुर्गति अर्थात् कुत्सित् (नीच) गति

[इहलोक में अकीर्ति एवं परलोक में नरक गति या कीटादि के रूप से जन्म] प्राप्त नहीं होता है। ३८ श्लोक में अर्जुन ने संशय प्रकाश किया कि योगभ्रष्ट योगी शास्त्रविहित सर्व कर्मों का त्याग करने के कारण देवयान तथा पितृयान के मार्ग से वंचित होता है तथा समाधिनिष्ठ होकर आत्मस्थिति प्राप्त न करने के कारण मोक्ष से भी वंचित होता है अर्थात् वह योगी 'उभयविभ्रष्ट' होता है। श्री भगवान् अब स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि ऐसा संशय ठीक नहीं हैं क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में कहा गया है—'य इत्थं विदुर्येचाम्रि अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' अर्थात् (गृहियों में जो लोग पंचाग्नि विद्या को न जानकर अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करते हैं) वे दक्षिणायण मार्ग से (पितृयान मार्ग से) चन्द्रलोक में गमन करते हैं और वहाँ पुण्य कर्मों का भोग समाप्त होने पर इस मर्त्यलोक में पुनः प्रत्यावर्तन करते हैं परन्तु जो पंचाग्नि विद्या के तत्त्व से अवगत होकर (जानकर) अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करते हैं वे उत्तरायण मार्ग से (अर्चिरादि मार्ग से अर्थात् देवयान मार्ग से) देवलोक में गतिप्राप्त होते हैं तथा उस स्थान से ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं। फिर जो लोग जंगलो में (वन में) रहकर (शान्त दान्त होकर) श्रद्धा और सत्य की उपासना (सेवन) करते हैं [अथवा वेदान्त वाक्य के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा श्रद्धापूर्वक सत्य स्वरूप ब्रह्म को ह चिन्तन करते हैं] वे पंचाग्निवित् न होकर भी अथवा अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते हुए भी पंचाग्निविदों के समान अर्चिरादि मार्ग से अर्थात् देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं। [कहने का अभिप्राय यह है कि शास्त्र में द्विजातियों के लिये (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिये) प्रातःकाल और सायंकाल में यज्ञ के अनुष्ठान की विधि है। इस प्रकार समस्त जीवन अग्नि-होत्रादि यज्ञ आदि का अनुष्ठान करने से मृत्यु के बाद वे पितृलोक प्राप्त होते हैं। पितृलोक में भोग समाप्त होने पर जब वे पुनः मर्त्यलोक में प्रत्यावर्तन करते हैं तब उनको द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री इन पाँचों का आश्रयण कर आना पड़ता है। जो इन पाँच पदार्थों को अग्नि के रूप से कल्पना कर (अग्निहोत्र के साधन के रूप से) उपासना करते हैं, वे अर्चिरादि मार्ग से गमन कर देवलोक प्राप्त होते हैं अर्थात् उनको पुनः दक्षिणायण मार्ग से पितृलोक में जाना नहीं पड़ता है। द्युलोक पर्ज्जन्य आदि की अग्निकल्पना कर केवल भावनाओं के द्वारा मानसिक अग्निहोत्र करना और मृत्यु के पश्चात् जीव की गति तथा संसार में पुनः आगमन का रहस्य (कारण) क्या है ? उसे तत्त्वतः

अवधारण करने को पंचाग्नि विद्या कहते हैं।] स्मृति शास्त्र में कहा गया है—'संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्' अर्थात् संन्यास से ब्रह्मलोक प्राप्त किया जा सकता है। स्मृति शास्त्र में और भी कहा गया है कि नित्य वेदान्त वाक्यों के विचार का फल अस्सी (८०) कृच्छ्रचान्द्रायणव्रतों के फल के समान है। अतः संन्यास, श्रद्धा, सत्य तथा ब्रह्मविचार इनमें से कोई भी एक जब ब्रह्मलोक प्राप्ति का हेतु (साधन) है तब इन सबका एकत्र सेवन (अनुष्ठान) करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी, इस विषय में आचार्य ही क्या है? तैत्तिरीय शाखा वाले भी 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य' इत्यादि वाक्य से योगी के चरित को सर्वयज्ञरूप कहते हैं। स्मृति शास्त्र में और भी कहा गया है—"स्नातं तेन समस्त-तीर्थ-सलिले सर्वापि दत्ताऽवनिर्यज्ञानाञ्च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः। संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ यस्य ब्रह्म-विचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥" अर्थात् जिनको एक क्षण के लिये भी ब्रह्मविचार में मन स्थिरता प्राप्त हो गया है, उसने सभी तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, उसने समस्त पृथ्वी का दान कर दिया, सहस्रों यज्ञों का अनुष्ठान कर लिया, सभी देवताओं की पूजा कर लिया, संसार से अपने पितृ पुरुषों का उद्धार कर दिया और स्वयं भी त्रिलोकी में सबका पूज्य हो गया (मधुसूदन)। [इसलिये योगभ्रष्ट होने पर भी उसके शम, दम, ब्रह्मचर्य, वेदान्त श्रवणादि और ब्रह्मध्यान-अभ्यासरूप अनेक सुकृति (शुभकर्म) रहने के कारण वह कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता है। वह सद्गति ही प्राप्त होता है। जड़भरतादि की जीवन-कहानी से भी ऐसी सद्गति प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्धि को सूचित करने के लिये श्लोक में 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है (नारायणी टीका)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पहले दोनों श्लोकों के प्रश्नों का उत्तर अब साढ़े चार श्लोकों द्वारा दिया जा रहा है।]

श्री भगवान् ने कहा—हे पार्थ! तस्य न इह न अमुत्र विनाशः—उस योगी को उभय भ्रंश अर्थात् इहलोक में नाश या पतित होना [स्वधर्मविहित कर्मों के त्याग करने के कारण पतित होना] एवं अमुत्र (परलोक में) नाश अर्थात् नरकप्राप्ति ये दोनों ही उसको नहीं होते हैं। यतः कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं न गच्छति—क्योंकि (हे तात) कल्याणकारी (शुभकर्म करनेवाला) कभी दुर्गति प्राप्त नहीं होता है। वह शुभकारी है क्योंकि श्रद्धायुक्त होकर ही वह योग में प्रवृत्त हुआ था। इसलिए वह नष्ट नहीं होगा। तात—हे अर्जुन! [अर्जुन भगवान् श्री कृष्ण के मित्र (सखा) तथा भ्राता थे, परन्तु यहाँ अर्जुन को

भगवान् ने "तात" (पुत्र) कहकर सम्बोधन किया। इसका कारण यह है कि अर्जुन ने श्री कृष्ण को गुरु रूप से वरण किया (शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्—गीता २।७) शिष्य गुरु के समान पुत्र के समान ही है, इसलिये श्री भगवान् ने भी लोकरीत का अनुसरण कर स्नेह की भावना प्रकट करते हुये अर्जुन को 'तात' कह कर सम्बोधन किया।]

शंकरानन्द—'न्यास इति ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा। तानि वा एवान्यावराणि तपांसि न्यास एवाऽत्यरेचयत्।।' (न्यास अर्थात् संन्यास ब्रह्म है, ब्रह्म ही पर (उत्तम) है और पर ही ब्रह्म है। अन्य सभी तप अवर (निकृष्ट) हैं। न्यास ही सर्वश्रेष्ठ है।), इस श्रुति वाक्य के द्वारा यह ज्ञात होता है कि संन्यास ब्रह्मस्वरूप है एवं सभी तपों से वरिष्ठ (श्रेष्ठ) हैं। इस प्रकार 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' (वेदान्त् विज्ञान के द्वारा उत्तम रूप से जिस का अर्थ (अर्थात्) प्रयोजन या अन्तिम लक्ष्य वस्तु) निश्चित हुआ है एवं संन्यास योग के द्वारा जिन का अन्तःकरण शुद्ध हुआ है ऐसे यति) इत्यादि श्रुति वाक्यों से संन्यासयोग—युक्त यतिका शुद्ध सत्त्व (शुद्धान्तः करण होना एवं वेदान्त के अर्थ का विज्ञाता होना सुना जाता है। ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपः' (ऋत अर्थात् शुद्धता और पवित्रता तप, सत्य तप है, (वेदान्त वाक्यादिका) श्रवण तप है और शान्त होना भी तप है), 'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दन्। तस्माच्छमं परमं वदन्ति' [शम के द्वारा (अन्तरेंद्रियों के निग्रह के द्वारा) शान्त होकर कल्याण प्राप्त होते हैं, शम के द्वारा मुनिगण नाक अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हुए हैं, इसलिये शम को परम (श्रेष्ठ) कहते हैं], "दमेन दान्तः किल्बिषमवधुन्वन्ति दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् दमो भूतानां दुराधर्षम्, [दम द्वारा (बहिरिन्द्रियों के निग्रह के द्वारा) दान्त होकर किल्विष अर्थात् वासना रूप दोषों को नष्ट कर देते हैं, दम द्वारा ब्रह्मचारी स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, दम भूतों का दुराधर्ष होता है अर्थात् दमाभ्यासकारी योगी किसी के द्वारा पराभूत नहीं होते हैं। 'सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सतां हि सत्यम्' (सत्य पर अर्थात् श्रेष्ठ है, सत्य रहने से स्वर्गलोक से कभी च्युत नहीं होते हैं। सत्-पुरुषों के लिये सत्य ही भूषण है) इत्यादि वाक्यों के द्वारा ऋत, सत्य, श्रुत (श्रवण), शम, दम, इत्यादि मुमुक्षु के धर्मों को श्रुति तप कहती है। फिर 'मानसं वै प्राजापत्यम्' (मानस ही प्राजापत्य है), 'मनसश्चेन्द्रियाणां

च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' (मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है), 'अश्वमेध-सहस्राणि वाजपेयशतानि च। एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नाऽर्हन्ति षोडशीम्॥' (एक हजार अश्वमेध और एक सौ वाजपेय ध्यानयोग की एक कला के भी समान नहीं है), इन सब वचनों के द्वारा समाधि ही परम तप है, ऐसा सुनने में आता है। स्मृतिशास्त्र में भी कहा गया है—'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव ब्रह्मलोकं निर्गच्छति ब्रह्मचर्यैकनिष्ठया' (जो यज्ञ कहा जाता है वह ब्रह्मचर्य ही है, ब्रह्मचर्य की एकनिष्ठा से ब्रह्मलोक प्राप्त होता है), 'अहिंसा परमा धर्मो यथा याति त्रिविष्टपम्' (अहिंसा परम धर्म है, जिससे स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है), 'सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च'॥ (सत्य तीर्थ है अर्थात् संसार से त्राण करने वाला है, क्षमा भी तीर्थ है, इन्द्रियों का निग्रह भी तीर्थ है, सर्वभूत के प्रति दया तीर्थ है एवं आर्जव (सरलता) भी तीर्थ है, इस प्रकार श्रुति और स्मृति के वाक्यों से मुमुक्षु का धर्म ब्रह्मचर्यादि का परम महत्व दिया गया है। विघ्ननिहत (अर्थात् विघ्न के द्वारा योगसिद्धि से च्युत) जड़ भरत एवं वीत हव्यादि योगियों का दूसरे जनम में योगनिष्ठ होना (योगपारंगत होना) विष्णुपुराण और योगवाशिष्ठादि में प्रसिद्ध है। इस प्रकार पूर्व में कहे गये लक्षणों से संन्यास, ऋत, शम, दम, आदि उत्तम तपों से तथा ब्रह्मचर्यादि उत्तम धर्मों से विशिष्ट यति का कभी (पूर्वजन्मकृत) दुष्कर्मों के वश में योगभ्रंश होने पर भी उस ब्रह्मवित् का इस लोक में और परलोक में कोई अनर्थ नहीं होता है, ऐसा समझने के लिये श्री भगवान् कह रहे हैं—

तात! अपने द्वारा दी गयी ब्रह्मविद्या को शिष्यों और प्रशिष्यों के द्वारा जो विस्तार करता है (तनोति विस्तारयतीति) वह तात है। उसका सम्बोधन है हे तात! हे पार्थ—हे अर्जुन! तस्य—समाधिनिष्ठा में प्रवृत्त और संन्यास, ऋत, शम, दमादि उत्तम तपोंसे विशिष्ट एवं ब्रह्मचर्य, अहिंसादि विशिष्ट धर्मों के द्वारा युक्त योगी (यति) को (संन्यासी को) इह विनाशः न एव विद्यते—प्रारब्ध दुष्ट कर्मों के कारण ब्रह्ममार्ग से प्रच्युत (च्युत) हो जाने पर भी इस लोक में विनाश (अर्थात् शिष्ट द्वारा निन्दित होकर जो प्रतिष्ठा पहले प्राप्त हुई थी उस प्रतिष्ठा भंगरूप हानि) नहीं होता है। ब्रह्मनिष्ठा में श्रद्धावान् होने से, विशिष्ट गुणवाला होने से तथा उत्तम धर्मों से युक्त होने से शिष्टजनों के द्वारा निन्दा का प्रसंग ही नहीं हो सकता क्योंकि पूर्व जन्म में किये हुये (कृत) दुष्कर्मों से प्राप्त हुए आध्यात्मिकादि

उपद्रवों के द्वारा स्वधर्मनिष्ठ पुरुष विघ्नप्राप्त होने से शिष्ट पुरुष कभी उनकी निन्दा नहीं करते हैं। जिस प्रकार विधिपूर्वक संकल्प करके यज्ञशाला में प्रवेश कर अग्नीषोमीय पर्यन्त अनुष्ठित यज्ञकर्मो में यदि किसी दैव कारणवश विघ्न उपस्थित हो जाय तो श्रोत्रीय (वेदज्ञ) पुरुष कभी उस अवस्थावान् यजमान् की निन्दा नहीं करते हैं उसी प्रकार यहाँ भी शिष्ट पुरुषों द्वारा कभी निन्दा की सम्भावना नहीं रहती हैं। अतः उक्त लक्षण विशिष्ट योगी संन्यासी का जिस प्रकार इहलोक में प्रतिष्ठाभंगरूप नाश नहीं होता है उसी प्रकार अमुत्र (नैव)—परलोक में भी दुष्ट योनि में दुर्गति प्राप्तिरूप विनाश नहीं होता है (अर्थात् दूसरे जन्म में उनको कभी दुष्ट योनि में जन्म लेना नहीं पड़ता है), क्योंकि न हि कश्चित् कल्याणकृत् दुर्गतिं गच्छति—कल्याणकृत् अर्थात् शुभ कर्मकारी (अच्छे कर्म करने वाले) कोई दुर्गति प्राप्त नहीं होता है, किन्तु सद्गति को ही प्राप्त होता है। श्रुति भी कहती हैं—'तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा' (जो लोग इहलोक में सुन्दर आचरण करते हैं वे शीघ्र ही रमणीय (सुन्दर) योनि अर्थात् ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त होते हैं।) अथवा—'अतिकल्याणरूपत्वान्नित्यकल्याणसंश्रयात्। स्मर्तॄणां वरदत्वाच्च ब्रह्म तन्मंगलं विदुः' (ब्रह्म अति कल्याणरूप होने के कारण, एवं नित्य कल्याण का आश्रय होने के कारण और जो लोग उन्हें स्मरण करते हैं उनलोगों का वरदाता होने के कारण ब्रह्मवित् पुरुष मंगलरूप उस ब्रह्म को जानते है।) 'मंगलानां च मंगलम्' (ब्रह्म मंगल का भी मंगल है), 'पवित्रं मंगलं परम्' (ब्रह्म पवित्र तथा परम मंगल है) इत्यादि स्मृति वाक्यों के द्वारा परब्रह्म को मंगलस्वरूप कहा गया है। अतः कल्याण (मंगलस्वरूप ब्रह्म को) कृत् (करता है प्राप्त करता है) अर्थात् (अपने स्वरूप से साक्षात्कार किया है) वह कल्याणकृत् अर्थात् ब्रह्मवित् है। वह ब्रह्मवित् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा अन्य कोई भी हो योगभ्रष्ट होकर दुर्गति (नरक) को प्राप्त नहीं होता है। जड़ भरतादि की आख्यायिका में वह प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्धि को सूचित करने के लिये 'हि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

शंका—अच्छा, ध्यानयोग आदि में जो योगी प्रवृत्त हुआ है (अर्थात् जो योगी ध्यानयोग आदि का अभ्यास करता है), वह तो ब्रह्मवित् ही नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मवित् की ध्यानाभ्यासरूप कोई क्रिया नहीं हो सकती। ध्यान का अभ्यास भी स्वाध्यायाभ्यास की तरह क्रिया ही है। 'तस्य कार्यं न

विद्यते' (उसका कोई कार्य नहीं रहता है), 'नैवास्ति किंचित् कर्तव्यं ब्रह्मविदः' (ब्रह्मविद् का कुछ कर्तव्य नहीं है), इन सब शास्त्रों के वचनों के द्वारा ब्रह्मवित् के लिये कर्तव्य का निषेध ही किया गया है।

समाधान—तुमने जो कहा वह ठीक (सत्य) है। नेत्र के सामने रूप के सामने जिस कृतकृत्य ब्रह्मवित् को बाहर भीतर सर्वत्र ब्रह्म की ही उपलब्धि होती है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। तो भी (तथापि) तुम्हें पूछ रहा हूँ—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (आत्मा को देखना होगा, सुनना होगा, मनन करना होगा और निदिध्यासन अर्थात् ध्यान का विषय करना होगा), इस प्रकार श्रुतिवाक्यों के द्वारा मुमुक्षु के लिये निदिध्यासन कर्तव्य के रूप से प्रतिपादित हुआ है यानी कहा गया है। वह निदिध्यासन क्या कृतश्रवण का है अर्थात् जो वेदान्त वाक्य श्रवण किया है उसका कर्तव्य है, अथवा अकृतश्रवण का अर्थात् जो वेदान्त वाक्य श्रवण नहीं किया है उसका कर्तव्य है ? दूसरा पक्ष तो युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जो वेदान्तवाक्य श्रवण नहीं किया है वैसा वेदान्तविचारशून्य पुरुष को आत्मा अनात्मा के विवेकरूप विभागज्ञान न होने के कारण निदिध्यासन होना असम्भव है। और यदि कहो कि वह निदिध्यासन प्रथम पक्ष का अर्थात् कृतश्रवण पुरुषों का कर्तव्य है तो प्रश्न होगा—(क) श्रवणादि के द्वारा जो आत्मतत्त्व को जान गया हैं, निदिध्यासन क्या उसके लिये है अथवा (ख) जो आत्मतत्त्व को नहीं जानता है उसके लिये है ? यहाँ भी द्वितीय पक्ष युक्त नहीं है क्योंकि जो आत्मतत्त्व को विशेषरूप से नहीं जानता है उसको आत्मा के विषय में निदिध्यासन हो नहीं सकता। निदिध्यासन शब्द का अर्थ है विजातीय प्रत्यय के तिरस्कारपूर्वक (दूर कर) सजातीय प्रत्यय की आवृत्ति। वैसी आवृत्ति तो जो आत्मतत्त्व को सम्यग् रूप से (विशेष रूप से) जान लिया उसके लिये ही सम्भव है—दूसरे के लिए नहीं। जिस प्रकार घट प्रत्यय का विजातीय पट प्रत्यय है, ऐसा ज्ञान घट और पट दोनों के स्वरूप लक्षण तथा लक्षण को जानने से ही सिद्ध होता है एवं उसका विज्ञान घट और पट दोनों को जो अच्छी तरह से दर्शन किये हैं उन्हीं को ही होता है। दूसरे को नहीं। उसी प्रकार आत्मप्रत्यय का विजातीय है अनात्म प्रत्यय, ऐसा ज्ञान आत्मा और अनात्मा के स्वरूप और लक्षण को जानने वाले पुरुष को ही सिद्ध होता है। इस प्रकार विज्ञान (आत्मा और अनात्मा के स्वरूप का विज्ञान) उन दोनों को जो साक्षात्कार किये हैं उन्हीं को ही सिद्ध होता है, दूसरे को नहीं। कोई भी न देखे हुए गंड मेरुण्ड नामक प्राणी को

देखे हुए गरुड़ादि के समान भावना करने में समर्थ नहीं होता है अथवा जिस प्रकार दृष्ट पिता की भावना कर सकता है, उस प्रकार अदृष्ट (न देखे हुए) पितामह की भावना नहीं कर सकता है, उसी प्रकार जो आत्मतत्त्व को नहीं जानता है तथा जिसको आत्मा के सम्बन्ध में अनुभव भी नहीं है ऐसा कोई भी व्यक्ति अनात्म (जागतिक दृश्य) वस्तु के समान आत्मा की भावना नहीं कर सकता क्योंकि उसका आत्मविषयक अनुभव है ही नहीं। अतः जिस प्रकार अनात्म देहादि सम्यक् रूप से ज्ञात है, इस प्रकार उससे विलक्षण आत्मस्वरूप जिसको सम्यक् रूप से ज्ञात है उसी का ही उक्त लक्षणविशिष्ट निदिध्यासन तथा समाधि कर्तव्य है। 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' (इसी को धीर ब्राह्मण जानकर प्रज्ञा करे) 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ' (उस एक आत्मा को ही जाने, अन्य बातें त्याग दे) ऐसे श्रुतिवाक्यों से जैसा लक्षणयुक्त आत्मा के विषय में कहा गया है वैसी आत्मा को जो जान गया उसी के लिये 'ओमित्येवं ध्यायेथ आत्मानम्' (ओम्—इस प्रकार आत्मा का ध्यान करे) इत्यादि वाक्यों के द्वारा आत्मध्यान का विधान (नियम) श्रुति कर रही है। आत्मवित का ध्यान या समाधि की क्या आवश्यकता है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि ध्यान और समाधि दोनों ही अप्रतिबद्ध आत्मज्ञान के (अर्थात्) आत्मज्ञाननिष्ठा के हेतु हैं। 'सब दृश्यप्रपंच और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार सभी के साथ तथा अपना ब्रह्ममात्रत्व विज्ञान और ब्रह्म में ही अप्रतिबद्ध (अविच्छिन्नरूप से) आत्मता के ज्ञान, ध्यान और समाधि के विना, श्रवणमात्र से सिद्ध नहीं होता। 'समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्व-मात्मानं पश्यति' (समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है—सभी को आत्मरूप में देखता है) इस प्रकार श्रुति वाक्य से ब्रह्मविद् का ब्रह्म में ही आत्मविज्ञान के अप्रतिबद्धत्व की सिद्धि के लिये तथा सर्वात्मता की सिद्धि के लिये श्रुति समाधि का विधान (नियम) करती है। अतः ब्रह्मविद् के भी अप्रतिबद्ध ज्ञान की सिद्धि के लिये निदिध्यासनादि अवश्य कर्तव्य है, यह सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—[भाष्यदीपिका द्रष्टव्य]

[आत्मसाक्षात्कार के लिये सर्व कर्मों का त्यागकर समाधि का अभ्यास करने के लिये प्रवृत्त योगी यदि कोई दुष्ट प्रारब्ध के कारण समाधि में बाधा को प्राप्त होकर आत्मसाक्षात्कार के पहले ही मृत्यु-प्राप्त हो तो उस योगी को

योगभ्रष्ट कहा जाता है। पूर्वश्लोक में इहलोक और परलोक में योगभ्रष्ट का विनाश नहीं होता है अर्थात् वह दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है—यह कहा गया है। अब उनको सद्गति कैसे प्राप्त होती है, वह कहा जा रहा है।]

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अन्वय—पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य (तत्र) शाश्वतीः समाः उषित्वा शुचीनाम् श्रीमताम् गेहे योगभ्रष्टः अभिजायते।

अनुवाद—योगभ्रष्ट पुरुष पुण्य करने वालों के लोकों को अर्थात् (स्वर्गादि लोकों को) प्राप्त कर वहाँ सैकड़ों वर्षों तक (सुखपूर्वक) रह कर फिर पवित्र (शुद्ध आचरणवाले) और श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है।

भाष्यदीपिका—पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य—अश्वमेध यज्ञादिरूप पुण्य कर्म करने वालों को जो लोक प्राप्त होते हैं योगमार्ग में प्रवृत्त "संन्यासी" अपने शुभ कर्मों के प्रभाव से उन लोकों को प्राप्त कर अर्थात् उन लोको में जाकर। [श्लोक में 'योगमार्ग में प्रवृत्त संन्यासी' यह पद नहीं रहने पर भी सामर्थ्य से या आकांक्षावश उसका अध्याहार करना पड़ेगा। आनन्दगिरि कहते हैं—कर्मयोगी कर्मों में लिप्त रहते हैं। साधारणतः उन लोगों की योगमार्ग में प्रवृत्ति नहीं रहती है। और यदि प्रवृत्ति हो तो भी फल की अभिलाषा न रहने के कारण और ईश्वर में उन लोगों के सभी कर्म समर्पित होने के कारण उनको भ्रष्ट हो जाने की तथा दुर्गत्ति प्राप्ति की कोई आशंका नहीं रहती। अतः यहाँ योगभ्रष्ट शब्द के द्वारा 'संन्यासी' को ही समझाया जा रहा है।] शास्त्र में कहा है—"वाजिमेधसहस्राणि राजसूयशतानि च। वाजपेय-सहस्राणि अश्वमेध शतानि च। एकस्य ज्ञानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्" अर्थात् हजारों वाजिमेध यज्ञ, सैकड़ों राजसूय यज्ञ हजारों वाजपेय यज्ञ एवं सैकड़ों अश्वमेध यज्ञों के फल एक ज्ञानयोग के फल के १६ भाग के एक भाग के समान भी नहीं होता है। अतः अश्वमेधादि हजारों यज्ञों की अपेक्षा परमात्मा के साथ अत्यन्त अल्प समय के लिये ऐक्यानुभूति अधिक पुण्यफलदायक होती है। फिर कहा गया है—"मानसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" अर्थात् मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप (तपस्या) है। अतः ब्रह्म या परमात्मा में एकाग्रता जिस प्रकार एक ओर से सबसे श्रेष्ठ पुण्यकर्म है, दूसरी ओर वही परम तप भी है। इसलिये योगमार्ग में प्रवृत्त

संन्यासी परमात्मा के साथ ऐक्यानुभव का अभ्यासरूप सर्वश्रेष्ठ पुण्यकर्म तथा परम तप करते हुए दैववश योगभ्रष्ट होने पर भी वे अश्वमेधादि महायज्ञ करके जो ब्रह्मलोकादि स्थान प्राप्त किये जाते हैं, उन लोकों को प्राप्त होंगे, इस विषय में क्या संशय हो सकता है ? शाश्वतीः समाः उषित्वा—उन लोकों में नित्य अर्थात् बहुत वर्षों तक [अथवा ब्रह्मा की आयु जब तक निर्दिष्ट है तब तक] वास कर अर्थात् उन लोकों का सुख उपभोग कर ["शाश्वती" शब्द का अर्थ है नित्य। ब्रह्मा का आयु-काल मनुष्यों के आयु-काल की अपेक्षा करोड़ों गुणा अधिक है, इसलिये ब्रह्मलोकादि में वास को आपेक्षित नित्य कहा जाता है। अतः 'शाश्वती समा' शब्द का अर्थ है—करोड़ों वर्षों तक।] शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टः अभिजायते—उन लोकों के भोग का क्षय होने पर शास्त्रविहित कर्म करने वाले शुद्ध और श्रीमान् पुरुषों (धनियों) के घर में (अर्थात् वंश में) योगभ्रष्ट जन्म लेते हैं।

[सर्व कर्म का त्याग कर योगमार्ग में प्रवृत्त कोई संन्यासी वेदान्त श्रवणादि करते हुए यदि ज्ञानलाभ करने के पहले ही मर जाये तो मृत्यु के समय उसकी पूर्वसंचित भोगवासनाओं का प्रादुर्भाव होने के कारण वह विषयों की इच्छा करने लगता है फिर किन्हीं की वैराग्य की भावना दृढ़ होने के कारण मृत्यु के समय वह विषयों की इच्छा नहीं करते हैं। उनमें से प्रथमपक्षीय योगभ्रष्ट संन्यासी की गति के सम्बन्ध में इस श्लोक में कहा गया है। द्वितीय पक्षीय योगभ्रष्ट संन्यासी की गति के सम्बन्ध में ४२ वें श्लोक में कहा जायगा। उनमें से प्रथम पक्ष तो अर्चिरादि मार्ग से पुण्यकारी के अर्थात् अश्वमेध आदि यज्ञ करने वाले के लोक (ब्रह्मलोकों को) प्राप्त होकर वहाँ शाश्वती (ब्रह्मा के परिमाण से अक्षय या नित्य) समाः (वर्षों तक) बसकर अर्थात् भोगसुख अनुभव कर उसके पश्चात् जागतिक विषयों के लिये भोगवासना शेष रहने के कारण शुद्ध, सदाचारशील तथा श्रीमान् अर्थात् विभूतिसम्पन्न चक्रवर्ती महाराजों के घर में (कुल में) जन्म लेता है अर्थात् अजातशत्रु और जनकादि के समान महाराजा होकर सभी कर्मों का त्याग न करके भी ब्रह्मज्ञानी होने की योग्यता को प्राप्त होता है। अतः सर्व कर्मसंन्यासी होकर योगमार्ग में (अर्थात् ज्ञानरूप योग में) प्रवृत्त होकर जो तत्त्व साक्षात्कार के पहले ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे ही ऐसा जन्म प्राप्त करते हैं। कर्म से भ्रष्ट कर्माधिकारी का इस प्रकार जन्म सम्भव नहीं होता है, क्योंकि वे विहित कर्मों का त्याग करने के कारण अधोगति को ही प्राप्त होते हैं।] ब्रह्मलोक एक होने पर भी भूमिभेद की अपेक्षा

से 'लोकान्' ऐसा बहुबचन का प्रयोग भगवान् ने किया है [अभिप्राय यह है है कि ब्रह्मलोक एक होने पर भी पुण्यकर्मों के तारतम्यानुसार ब्रह्मलोक में भोग का भेद होता है। इस भोग की विशेषता को (भेद को) लक्ष्य कर 'लोकान्' ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया गया है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[तब वह अर्थात् वह योगभ्रष्ट संन्यासी कैसी गति को प्राप्त होता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] योगभ्रष्टः पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य—योगभ्रष्ट साधक, पुण्यकारी को अर्थात् अश्वमेधादि यज्ञरूप पुण्यकर्म करनेवाले को जो स्वर्गादि लोक प्राप्त होते हैं, उन लोकों को पाकर अर्थात् उन लोकों में गमन कर शाश्वती समाः उषित्वा—वहाँ बहुत वर्षों तक वास करके उन लोकों के सुख का अनुभव (भोग) कर शुचीनाम्—सदाचार-सम्पन्न (पवित्र यानी शुद्ध आचरण वाले) श्रीमताम्—श्रीमान् अथवा धनियों के गेहे—घर में अभिजायते—जन्म लेता है। [पूर्व अभ्यास के कारण आत्म-साक्षात्कार के लिए योगभ्रष्ट को पुनः साधन करना पड़ता है, अतः पवित्र सदाचारी का घर उसके साधन के लिये अनुकूल होता है और विषयभोग के प्रति स्पृहा रहने के कारण धनी व्यक्तियों के वंश में जन्मग्रहण उसकी भोगतृप्ति के लिये सहायक होता है।]

(२) शंकरानन्द—पहले जैसा कहा गया है वैसी रीति के अनुसार समाधि के अभ्यासकारी ब्रह्मविद् यति के (संचित) दुष्कर्मों के कारण समाधि में विघ्न (बाधाएँ) आ जाते हैं एवं समाधि का भंग होता है। उस अवस्था में मरे हुए यति की दुर्गति नहीं होती है परन्तु सद्गति ही होती है ऐसा अब कह रहे हैं—

पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य—पुण्यकारी व्यक्तियों के लोकों को प्राप्त कर। योगमार्ग में प्रवृत्त हुआ ब्रह्मविद् यति योगसंसिद्धि को प्राप्त न होकर ही यदि मृत्यु प्राप्त हो तो वाजिमेधसहस्राणि राजसूयशतानि च। वाजपेय-सहस्राणि अश्वमेधशतानि च। एकस्य ज्ञानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥' (हजारों वाजिमेध, सैकड़ों राजसूय, हजारों वाजपेय और सैकड़ों अश्वमेध'—ये सब मिलकर एक ज्ञानयोग के १६ भाग के एक भाग के समान भी नहीं होते हैं) और 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' (मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप (तपस्या) है इत्यादि वाक्यों के द्वारा यही सिद्ध होता है कि करोड़ों अश्वमेधादि क्रतु (यज्ञों) की अपेक्षा ध्यानयोग का लेशमात्र अनुष्ठान करने से भी महत्तर पुण्यकर्म एवं परम तप की सिद्धि होती है।

अतः उन पुण्यकर्मों की महिमा से ही पुण्यकृत् गणों के (पुण्यकारियों के अर्थात् अश्वमेधादि महाक्रतु करनेवालों के) महान् लोकों को प्राप्त होकर शाश्वतीः समाः उषित्वा—शाश्वती (अनेक) समा (संवर्षों तक) उन लोकों में वास कर अर्थात् उन लोकों के भोगों का अनुभव करके उन भोगों का क्षय होने पर फिर इस लोक में शुचीनां श्रीमतां गेहे—शुद्ध आचरणवाले व्यक्तियों के अर्थात् योनी, बीज और कर्मादि से शुद्ध तथा श्रीमान् (भाग्यवान) गृहस्थों के घर में अर्थात् वंश में योगभ्रष्टः अभिजायते— योगभ्रष्ट पुरुष उत्पन्न होता है (जन्म लेता है)। कर्मभ्रष्ट व्यक्तियों की ऐसी सद्गति नहीं होती है क्योंकि कर्मियों के कर्मों का नाश होने पर पुण्यलोकों की प्राप्ति तथा पवित्र और श्रीमानों के घर में जन्म सम्भव नहीं होता है। क्योंकि कर्मों के सम्बन्ध में नियम यह है कि तैलपाक के समान अंगसहित अनुष्ठित कर्म का फल अवश्य ही होता है (अंगहीन कर्मों का नहीं)। [आयुर्वेदीय तैलादि औषध प्रस्तुत करते समय क्रमानुसार तैल के साथ औषधियों का मिश्रण तथा पाक करना पड़ता है एवं वैसा करने से ही वह तेल फलदायक होता है। उसी प्रकार शास्त्र में यागादि या दूसरे कर्मों के सम्बन्ध में जिस प्रकार क्रमानुसार एक एक अंग के अनुष्ठान का विधान है वे सब अंग सम्पूर्णरूप से अनुष्ठित होने पर ही कर्म का फल प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं।] किन्तु योगी का वैसा नहीं होता है। उसका तो देव दर्शन के समान जितना योगानुष्ठान होगा, उतने फल की प्राप्ति होगी ही। इसलिये योगभ्रंश होने पर भी योगी की पुण्यलोक प्राप्ति और शुचि तथा श्रीमान् पुरुषों के वंश में उत्पत्ति (जन्म) होती है।

(३) नारायणी टीका—४२ श्लोक की नारायणी टीका देखिए।

[सर्व कर्म का त्याग कर योग (समाधि) साधन में प्रवृत्त योगियों में से योगी मृत्युकाल तक चित्त के विक्षेप का हेतुभूत भोग-वासनाओं से रहित न होने के कारण चित्त की स्थिरता सम्पादन करने में असमर्थ होकर योगभ्रष्ट होता है। फिर किसी का विषयों के प्रति तीव्र वैराग्य रहने पर भी आयु की अल्पता के कारण आत्मसाक्षात्कार होने के पहले ही प्राणत्याग करता है। इनमें से प्रथम श्रेणी के योगी अर्थात् जिस योगी की विषयों के प्रति वासनाएँ सम्पूर्ण रूप से (मूल अविद्या सहित) नष्ट नहीं हुई हैं वह अश्वमेधादि यज्ञ करने वाले राजचक्रवर्ती जिन ब्रह्मलोक आदि को प्राप्त होते हैं, उनमें अर्चिरादि मार्ग से जाकर दीर्घकाल तक वहाँ सुख से वास कर पुण्य का क्षय

होने के पश्चात् फिर मर्त्यलोक में सदाचारसम्पन्न धनी के वंश में जन्मग्रहण करता है, यह पूर्वश्लोक में कहा गया है। और जो योगी वैराग्यवान् था किन्तु आयु की अल्पता के कारण योगसिद्धि के पहले ही जिसकी मृत्यु हो गई हो ऐसा योगभ्रष्ट योगी का कैसे जन्म होता है, वह अब कह रहे हैं—]

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अन्वय—अथवा धीमताम् योगिनाम् कुले एव भवति। ईदृशम् यत् जन्म, एतत् हि लोके दुर्लभतरम् ।

अनुवाद—अथवा योगभ्रष्ट पुरुष बुद्धिमान् अर्थात् ब्रह्मविद्यासम्पन्न (ज्ञानवान्) योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। मनुष्यलोक में ऐसे योगियों के कुल में जो जन्म है वह अत्यन्त दुर्लभ ही है। अर्थात् इस प्रकार जन्म धनियों के कुल में जन्म की अपेक्षा निःसन्देह अधिकतर दुर्लभ है।

भाष्यदीपिका—अथवा धीमताम् योगिनाम् कुले एव भवति—अथवा जो योगभ्रष्ट योगी पूर्व जन्म में मृत्यु के समय विषय-वासनाओं से रहित होकर दृढ़ वैराग्यवान् था वह श्रीमानों के वंश में (धनवान् व्यक्तियों के वंश में) जन्म न लेकर बुद्धिमान् [अर्थात् ब्रह्मविद्या सम्पन्न] दरिद्र योगियों के वंश में जन्म ले लेता है। ['अथवा' शब्द का दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है। अथ+वा=अथवा। 'अथ' शब्द का अर्थ है अनन्तर एवं 'वा' शब्द अवधारणार्थ (निश्चयार्थ) में व्यवहार किया जाता है। इसलिये "अथवा" शब्द का अर्थ है देहपात के अनन्तर ही (मृत्यु के पश्चात् ही)। जिस योगभ्रष्ट योगी के पूर्व जन्म में विषय—भोगेच्छा का वेग था वह मृत्यु के बाद ब्रह्मलोक में सुख भोग कर अवशिष्ट (बाकी) जागतिक विषय भोग को पूर्ण करने के लिये पवित्र धनी व्यक्तियों के वंश में जन्मग्रहण करता है। और जिस योगभ्रष्ट योगी की तीव्र मोक्ष की इच्छा थी तथा तीव्र वैराग्य भी था, किन्तु आयु की अल्पता के कारण योगसिद्धि के पहले जिसकी मृत्यु हो गई, उसकी भोगवासना रहने के कारण वह पुण्यकारी व्यक्तियों के लोकों को (ब्रह्मलोक आदि को) प्राप्त नहीं करता है किन्तु देहपात के अनन्तर (पश्चात्) यही धीमान् अर्थात् ब्रह्मज्ञानी और योगनिष्ठ के वंश में जन्मग्रहण करता है यह ही 'अथवा' शब्द का तात्पर्य है। ईदृशम् यत् जन्म, एतत् हि लोके दुर्लभतरम्—इस प्रकार दरिद्र ज्ञानी योगियों के वंश में जो जन्म लेता है

वह श्रीमानों के (धनी व्यक्तियों के) वंश में जन्मग्रहण की अपेक्षा भी अधिकतर दुर्लभ है अर्थात् दुर्लभ से भी दुर्लभ है क्योंकि दरिद्र ज्ञानी—योगियों के वंश में जन्म लेने से प्रमाद का कोई कारण नहीं रहता है। शास्त्र में कहा गया है—'मनोहराणां भोज्यानां युवतीनां च वाससाम्। वित्तस्यापि च सान्निध्याच्चलेच्चित्तं सतामपि। तत् सान्निध्यं ततस्त्यक्त्वा मुमुक्षुर्दूरतो वसेत् ॥" अर्थात् सुस्वादु भोजन एवं मनोरम युवती, सुन्दर वस्त्र एवं वित्त (धन सम्पत्ति इत्यादि) के सामने रहने से सत् पुरुषों का भी चित्त विचलित होता है, इसीलिये उन सबका संग परित्याग कर मुमुक्षु को दूर रहना चाहिये। इसलिये जो योगभ्रष्ट योगी धनी अथवा राजा महाराजा के घर में जन्म लेता है उसको सदा ही उक्त चारों विषयों के साथ (सुस्वादु भोजन, मनोरम स्त्री, सुन्दर वस्त्र एवं धन-सम्पत्ति के साथ) संस्पर्श रहने के कारण चित्त के विक्षेप का कारण विद्यमान रहता है। अतः वे सब योगसिद्धि के लिये अत्यन्त आवश्यक विवेक, वैराग्य और विज्ञान की परिपक्वता में विघ्न उत्पन्न करते हैं। यह बात ठीक है कि श्रीमान् पुरुषों के वंश में जन्मग्रहण अनेक सुकृति के शुद्ध फल से ही होता है, इसलिये ऐसा जन्म दुर्लभ है परन्तु धनियों के वंश में जन्म लेने से योगसिद्धि में विघ्नों की सम्भावना रहने के कारण इसे सर्वश्रेष्ठ जन्म नहीं कहा जायगा। किन्तु जो योगभ्रष्ट योगी दरिद्र ज्ञानी तथा ब्रह्मनिष्ठ के कुल में जन्म लेता है उसका जन्म तो दुर्लभ से भी दुर्लभ है (दुर्लभतर है) क्योंकि (क) गृही होकर भी ज्ञानी (तत्त्वज्ञानी) होना दुर्लभ है; फिर गृहस्थ आश्रम में रहकर केवल ज्ञानी ही नहीं परन्तु योगी (अर्थात्) परमात्मा के साथ निरन्तर योग या एकता-साधन में (निष्ठावान्) होना और भी दुर्लभ है; फिर ऐसे ज्ञानी योगी को सन्तान उत्पन्न होना भी साधारण बात नहीं है। अतः पूर्व जन्म के महान् तप तथा महा पुण्य के फल से ही ऐसे वंश में जन्म हो सकता है अल्प पुण्य के फल से नहीं, (ख) पूर्व जन्म में अत्यन्त वैराग्यवान् और मुमुक्षु होकर भी योगसिद्धि के पहले ही जो मृत्यु को प्राप्त होता है उसकी किन्हीं विषयों में वासना न रहने के कारण अन्य किसी लोक में गमन न करके अथवा अन्य किसी योनि को प्राप्त न करके मृत्यु के बाद ही (समय के व्यवधान के बिना ही) ज्ञानी योगी के घर में जन्म लेता है, यह पहले ही कहा गया है। मृत्यु के पश्चात् ही ऐसे वंश में जन्म, जो अत्यन्त दुर्लभ है इस विषय में और कहना क्या है? (ग) दरिद्र ज्ञानी के घर में सभी प्रकार से प्रमाद के कारण का अभाव रहता है (अर्थात् योग का विघ्नकर कोई कारण वहाँ नहीं रहता है)। इसलिये

धनी व्यक्तियों के कुल में जन्म की अपेक्षा ऐसे योगी के घर में जन्म लेना दुर्लभतर है, इसे स्वीकार करना ही होगा। (घ) पवित्र राजा महाराजा के घर में जन्म लेने से तथा बाद में राजसिंहासन पर अधिष्ठित होने से सर्व कर्मों का त्याग कर योगिनिष्ठ होना दुष्कर है। परन्तु दरिद्र ज्ञाननिष्ठ योगी के घर में जन्म लेने पर योगभ्रष्ठ के लिये सर्वकर्मों का परित्याग कर योगसिद्धि प्राप्त करना सहज होता है। [पूर्व जन्म में वह तो वैराग्यवान् था ही अतः इस जन्म में भी उसकी भोग-वासनाएँ नहीं रहती हैं। इसलिये सभी कर्मों का त्याग कर योग में सिद्धिलाभ (अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति) करना उनके लिये अनायास होता है, यही कहने का अभिप्राय है]। (ङ) "हि" शब्द लोक प्रसिद्धि को सूचित कर रहा है। शुकदेव आदि का भी व्यास आदि ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों के घर में जन्म हुआ था, यह शास्त्र में प्रसिद्ध है। अतः इस विषय में शंका का कोई कारण नहीं है, इसे सूचित करने के लिये "हि" शब्द का प्रयोग हुआ है।

टिप्पणी (१) श्रीधर [पूर्ववर्ती श्लोक में अल्पकाल योगाभ्यास करके योग की स्थिति से भ्रष्ट हुए योगी की गति बतायी गयी। दीर्घकाल तक योग में अभ्यस्त होकर जो साधक (आयु की अल्पता के कारण) योगभ्रष्ट हुए हैं, उनको कैसी गति प्राप्त होती है, वह अब कहा जा रहा है—] अथवा **धीमतां योगिनां कुले एव भवति**—अथवा योगभ्रष्ट पुरुष योगनिष्ठ धीमान् ज्ञानियों के ही वंश में जन्मग्रहण करते हैं, पूर्वोक्त अनारूढ़ योगी के (जो योग में आरूढ़ नहीं हुए हैं उनके) कुल में वे जन्म नहीं लेते हैं। इस प्रकार वे जन्म की स्तुति (प्रशंसा) करते हैं **लोके**—जगत् में ईदृशं यत् जन्म **एतत् हि दुर्लभतरम्**—ऐसा जो जन्म है वह दुर्लभतर (अत्यन्त दुर्लभ) है क्योंकि इस प्रकार का जन्म मोक्ष का हेतु (कारण) है।

(२) शंकरानन्द—'मनोहराणां भोज्यानां युवतीनां च वाससाम्। वित्तस्याऽपि च सान्निध्याच्चलेच्चित्तं सतामपि॥ तत्सान्निध्यं ततस्त्यक्त्वा मुमुक्षुर्दूरतो वसेत्॥' (मनोहर भोज्य पदार्थ, युवती स्त्री, सुन्दर वस्त्र तथा धन के सान्निध्य से सत् पुरुषों का भी चित्त विचलित होता है, अतः उनके सान्निध्य का त्यागकर मुमुक्षु उनसे दूर रहें), शास्त्र के इस नियम के अनुसार विषयों का सान्निध्य विक्षेप का हेतु होने के कारण जो योगभ्रष्ट पुरुष धनी व्यक्तियों के घर में जन्म लेता है उस उत्तम भक्त योगी की विषयभोगों में आसक्ति रहने से राग द्वेष आदि के द्वारा उनके मन में क्षोभ (चंचलता) उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है एवं इसलिये (पूर्व जन्म के अभ्यासकृत)

विवेक वैराग्य आदि विज्ञान योग पुनः शीघ्र प्राप्त नहीं भी हो सकता है (और ऐसा होने से उनको योगसिद्धि प्राप्त करने में अवश्य ही विलम्ब होगा)। योगसिद्धि के इस प्रकार काल व्यवधान को सहन न कर श्री भगवान् कहते हैं—

अथवा योगिनां धीमताम् एव कुले भवति—अथवा श्रीमानों (भाग्यवान् धनियों) से विलक्षण दरिद्र, शुचि (पवित्र), धीमान् योगियों के ही कुल में (योगभ्रष्ट का) जन्म होता है। अथवा ब्रह्मविद् योगी यदि मृत्यु के समय पूर्वकर्मों के कारण हृदय में विषय-भोग की इच्छा के वेग से युक्त हो तो पुण्यकर्मकारी पुरुष जिन लोकों में जाते हैं उन लोकों में जाकर सुखभोग अनुभव करके अवशिष्ट भोग को पूरा करने के लिये श्रीमान के घर में जन्म लेते हैं। और यदि मृत्यु के समय हृदय में चित्त का शुद्धिकर सत् कर्म विशेष के प्रभाव से तीव्र मोक्षेच्छा और वैराग्य का वेग हो तो वह योगी अथवा ('अथ' अनन्तर अर्थात् देहपात के बाद और 'वा' अवधारणार्थ। अतः 'अथवा' शब्द का अर्थ है—देहपात के बाद ही अन्य किसी लोक में गति प्राप्त न कर) धीमानों के अर्थात् ज्ञानियों के तथा उन ज्ञानियों में भी जो योगी हैं उनके (अर्थात् ज्ञानयोग में निष्ठाप्राप्त महात्माओं के) वंश में जन्म लेता है। यत् ईदृशं जन्म लोके, एतत् हि दुर्लभतरम्—ऐसा जो जन्म है अर्थात् वैराग्य और मोक्षेच्छा के अतिशय वेग के अनुरूप ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियों के वंश में कालव्यवधान के विना देहपात के अनन्तर ही (बाद ही) जो जन्म है, वह इस लोक में दुर्लभतर है अर्थात् अत्यन्त दुर्लभ है। ('यह अत्यन्त दुर्लभ ही है,' ऐसा निश्चय रूप से समझाने के लिये अर्थात् अवधारणार्थ में 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है)। गृहस्थों का ज्ञानी होना दुर्लभ है; और उसमें भी वैसे ब्रह्मनिष्ठों के वंश में, लोकान्तर [अथवा अन्य योनि में न जाकर पूर्व देह को त्यागने के बाद ही काल के व्यवधान के विना यह जो जन्म है यह दुर्लभतर ही है क्योंकि इसे महत्तर तपस्या के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, अल्प तपस्या के द्वारा नहीं इसलिए 'दुर्लभतर' कहा है।

शंका—तुमने जो कहा ज्ञानी गृहस्थों के वंश में योगी जन्मग्रहण करता है, वह युक्त नहीं है क्योंकि गृहस्थों का ब्रह्मज्ञान होना असम्भव है तथा ज्ञान की उत्पत्ति में (ज्ञानप्राप्ति में) गृहस्थों का अधिकार भी नहीं है। यति (संन्यासी) विना (तथा उन यतियों में भी जो परमहंस संन्यासी हैं उनके सिवा) शम, दम, वैराग्य संन्यासादि ज्ञान के अन्तरंग साधनों से रहित बहिर्मुख गृहस्थों को केवल वेदान्त वाक्य के श्रवणादि के द्वारा अपरोक्ष

ज्ञानलाभ करना सम्भव नहीं है। इसलिये शास्त्र में कहा है—'ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना। जायते परमहंसस्य यतेर्मुख्याधिकारिणः॥ नाऽऽश्रमान्तरनिष्ठस्य' इत्यादि (अर्थात् ब्रह्म और आत्मा का एकत्व विज्ञान वेदान्त श्रवणादि के द्वारा मुख्य अधिकारी परमहंस यति को ही होता है)—अन्य आश्रम में निष्ठावान् को (रहने वालें को) अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी, को यह विज्ञान प्राप्त नहीं होता है। अतः उन लोगों को (अपरोक्ष) ज्ञान का अभाव रहने के कारण योगनिष्ठा कैसे हो सकती है ? अतः हम यदि कहते हैं कि धीमान् अर्थात् कर्मसम्बन्धी ·शास्त्रादि का अर्थ जो जानते हैं ऐसे ज्ञानवान् योगियों के (अर्थात् कर्मयोगियों के) कुल में योगभ्रष्ट जन्म लेते हैं ?

समाधान—नहीं, वैसा कहना युक्तिसंगत नहीं होगा क्योंकि ऐसा होने से जन्म में दुर्लभतरत्व के अभाव का प्रसंग हा जायगा, अर्थात् सत्कर्मानुष्ठानकारी के श्रोत्रिय कुल में जन्म को साधारण जन्म ही माना जाता है। जो-जो पुरुष सत्कर्मकारी (शुभ कर्म करने वाले) होते हैं, वे-वे श्रोत्रिय कुल में ही (वेदज्ञ व्यक्तियों के कुल में ही) जन्मग्रहण करते हैं। श्रुति में भी कहा गया है—'रमणीयां योनिमापद्येरन्' (रमणीय कर्म का कर्ता रमणीय योनि को प्राप्त होते हैं अर्थात् अच्छे कर्म करनेवाले अच्छे योनि को ही प्राप्त होते हैं)। अतः ऐसे जन्म का दुर्लभतरत्व नही रहने के कारण अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा इसे स्वीकार करना ही होगा कि गृहस्थों में भी कोई-कोई ईश्वर के प्रसाद (कृपा) से शुद्धात्मा होकर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ज्ञानयोगी होते हैं। ऐसा यदि न माना जाय, तो प्राचीन वसिष्ठ, अगस्त्य, जनक, अश्वपति इत्यादि में तथा आधुनिक वाचस्पति मिश्र, खंडनकार इत्यादि में अनात्मज्ञत्व का प्रसंग हो जायगा (अर्थात् उनलोगों को भी आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं था, यह कहना होगा)। और यदि कहो कि गृहस्थ को (संन्यास के विना) आत्मतत्व प्राप्त हो सकता है, ऐसा मानने से 'अथाऽतः' इस ब्रह्मसूत्र में स्थित 'अथ' शब्द के द्वारा सूचित श्रवणादि के साधन (शम, दम, वैराग्य आदि साधन सम्पत्तियाँ) न रहने पर भी केवल वेदान्तवाक्यश्रवणादि से ही ज्ञान के सिद्ध होने पर तो उक्त सूत्र का 'अथ' शब्द अनर्थक हो जायगा ? इसके उत्तर में कहेंगे कि ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जो गृहस्थाश्रम में ही तत्त्वज्ञान प्राप्त किये हैं वे भी पूर्व-जन्म में शम, दम, संन्यासादि साधनों से सम्पन्न (युक्त) थे, ऐसा उनमें उत्पन्न हुए ज्ञान से ही अनुमान किया जा सकता है। अतः 'अथ' शब्द निरर्थक नहीं है—वह सार्थक ही है, यह सिद्ध होता है। और यदि कहो कि शम, दम,

संन्यासादि उत्तम साधनसम्पन्न योगियों को श्रवणादि से उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा तो उसी जन्म में ही मुक्ति होगी, अतः उन लोगों का पुनर्जन्म का प्रसंग फिर कैसे उपस्थित हो सकता है ? इसके उत्तर में कहेंगे कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उस प्रकार की साधन-सम्पत्ति रहने पर भी प्रतिबन्धकता के कारण अर्थात् प्रारब्धकर्मवश बाधाएँ आ जाने के कारण मृत्यु के पहले वे सम्यग् ज्ञान (अर्थात् आत्मसाक्षात्कार एवं तज्जनित ज्ञाननिष्ठा) प्राप्त न कर सके अतः उनका मोक्ष न होने के कारण जन्मान्तर में (दूसरे जन्म में) उन सब प्रतिबन्धों की निवृत्ति द्वारा सम्यग् ज्ञान, योगनिष्ठा और परम उपशान्ति प्राप्त करना उनके लिये सम्भव हो सकता है। 'क्रमात्तस्याऽपि जायते' [क्रमशः उनको भी (सम्यग् ज्ञान) उत्पन्न होता है] इस स्मृति वाक्य के अनुसार क्रम से अर्थात् आश्रम के क्रम से अथवा जन्म के क्रम से अथवा चित्त के परिपाक के क्रम से उनको भी अर्थात् संन्यास से भिन्न अन्य आश्रम में निष्ठावान् पुरुषों को भी ज्ञान उत्पन्न होना है—यही कहने का अभिप्राय है।

शंका—तब तो उनके व्युत्थान का प्रसंग आ जायगा ?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि संन्यास के द्वारा साध्य जो निर्विकल्प समाधि है वह न रहने पर भी निरन्तर जो ब्रह्मनिष्ठ रहते हैं और नित्यानन्दामृतरसपान करते हैं उनके लिये विषयानुभावक कर्मों से भी अर्थात् विषयों का अनुभव करवाता है ऐसे कर्म के द्वारा भी व्युत्थान का निरोध होना सम्भव होता है (अर्थात् बाध-समाधि रहने के कारण कर्म करते रहने पर भी उनके जागतिक विषयों में व्युत्थान नहीं रहता है क्योंकि कर्ता, कर्म, करण इत्यादि सभी में एकमात्र आत्मा या ब्रह्म का ही वे अनुभव करते हैं)।

शंका—किन्तु विषयानुभव और ब्रह्मानुभव परस्पर विरोधी होने के कारण एक ही अधिकरण में अर्थात् एक ही पुरुष में दोनों का रहना सम्भव नहीं होता है, यह यदि हम कहें ?

समाधान—नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उस ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की दृष्टि से विषयों का अनुभव आभासरूप होने के कारण स्वप्न पदार्थों के समान विषयसमूह मिथ्या प्रतीत होते हैं।

शंका—तब तो उनको सभी व्यवहारों के लोप का प्रसंग होगा ?

समाधान—नहीं, व्यवहार का लोप होगा ही, ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि कहीं उनका व्यवहार होता है, और कहीं नहीं भी होता है। इससे

जो सभी वस्तुओं में मिथ्यात्व दर्शन करते हैं उनके लिये प्रत्यवायादि अनर्थ नहीं होते हैं। शास्त्र में (भागवत में) कहा गया है—'शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्। अन्यांश्च नियमान्ज्ञानी यथाऽहं लीलयेश्वरः'। [शौच, आचमन, स्नान और अन्य नियम जैसा मैं (ईश्वर) लीला के रूप से करता हूँ वैसा ही ज्ञानी करे—किसी विधि के द्वारा प्रेरित होकर नहीं], इस शास्त्र से यह सूचित होता है कि ईश्वर के समान ज्ञानियों के लिये विधि और उनके नियम के भंग होने से दोषादि का लेप (स्पर्श) नहीं होता।

(३) **नारायणी टीका**—दरिद्र, शुद्ध, ज्ञानी और योगी ब्राह्मण के वंश में (गृह में) कोई असत् संग नहीं है किन्तु शुद्धाचारसम्पन्न धनी के कुल में भी विषयसंग का अभाव नहीं होता है। तथापि शुचि, श्रीमान् (धनी) राजा महाराजाओं के घर में योगभ्रष्ट का जन्मग्रहण दुर्लभ है क्योंकि ऐसा जन्म योगभ्रष्ट के अवशिष्ट भोगवासनाओं की तृप्ति का सहायक होकर बाद में वैराग्य तथा अभ्यास को दृढ़ कर मोक्षरूप फल प्रदान करता है। फिर विशेष सुकृति नहीं रहने से ऐसा जन्म नहीं होता है। किन्तु सर्व विक्षेपशून्य तथा मोक्ष के साधन के पूर्णरूप से अनुकूल ब्रह्मज्ञ योगी के घर में योगभ्रष्ट यदि जन्मग्रहण करे तो वह केवल दुर्लभ नहीं—वह दुर्लभतर है अर्थात् दुर्लभ से भी दुर्लभ है क्योंकि पूर्व जन्म में शम, दम, संन्यासादि साधन सम्पत्ति का और दृढ़ वैराग्य का अभ्यास न रहने से ऐसा जन्म प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार जन्म सर्व प्रकार से विघ्नरहित होने के कारण अर्थात् ऐसे जन्म में बाधाएँ न रहने के कारण साक्षात्रूप से यह (इस जन्म) मोक्ष का हेतु होता है।

'योगभ्रष्ट दुर्गति प्राप्त नही होता है' यह पूर्ववर्ती दोनों श्लोकों में कहा गया है। पूर्वश्लोक में यह भी कहा है कि योगियों के वंश में जन्म लेना दुर्लभतर है। ऐसा जन्म क्यों दुर्लभतर है उसका दूसरा कारण अब कहा जा रहा है। [मधुसूदन सरस्वती के मत के अनुसार इस श्लोक में पूर्वोक्त जन्म-द्वय (अर्थात् पवित्र धनी व्यक्तियों के कुल में और ब्रह्मनिष्ठ योगियों के कुल में—ये दोनों कुल में जन्म) क्यों दुर्लभ है वह अब कहा जा रहा है—]

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

अन्वय—हे कुरुनन्दन ! तत्र (सः) पौर्वदेहिकम् तं बुद्धि-संयोगं लभते, ततः च संसिद्धौ भूयः यतते।

अनुवाद—हे कुरुनन्दन! योगभ्रष्ट पुरुष इस जन्म में पूर्व देह में (पूर्व जन्म में) अर्जित बुद्धि के साथ (ज्ञान संस्कार के साथ) संयोग प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्म और आत्मा की एकता साधन करने के लिये पूर्व देह में (पूर्व जन्म में) जिन साधनों का अभ्यास किया था वे उसकी बुद्धि में स्वतः ही इस जन्म में प्रकट होते हैं। उसके वाद पूर्व संस्कार के कारण (आगे की-भूमिका सम्पादन तथा) मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुनः वह प्रयत्न करता रहता है।

भाष्यदीपिका—हे कुरुनन्दन! हे कुरुनन्दन! तुमने भी पवित्र कुरु के कुल में (वंश में) योगभ्रष्ट होकर जन्म ग्रहण किया है अतः पूर्व वासनाओं के अनुसार अवश्य ही तुम्हें अनायास ही ज्ञान प्राप्त होगा, इसे सूचित करने के लिये 'कुरु-नन्दन' शब्द के द्वारा भगवान् ने सम्बोधन किया। तत्र पौर्वदेहिकं तं बुद्धिसंयोगं लभते—उस योगी के कुल में (तत्र) पूर्व जन्म के देह में उत्पन्न हुई बुद्धि का (अर्थात् पूर्व देह में जिन साधनों के द्वारा युक्त था उससे उत्पन्न हुई आत्मविषयक बुद्धि के साथ) संयोग प्राप्त होता है जिस प्रकार सोया हुआ व्यक्ति जाग्रत होने पर पूर्वकालीन जाग्रत अवस्था के ज्ञान के संस्कारों को प्राप्त होता है तथा उसके अनुसार पुनः अपने असमाप्त कर्मों को पूर्ण करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार योगभ्रष्ट योगी पवित्र (शुद्ध) ज्ञानी योगी के कुल में जन्म-ग्रहण कर पूर्व जन्म में अनुष्ठित कर्म समूह के द्वारा [यानी सर्व कर्मों का त्याग, गुरु के निकट गमन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि के द्वारा] ब्रह्मात्मैक्यविषया (ब्रह्म और आत्मा की एकता के सम्बन्ध में) जहाँ तक (एवं जिस प्रकार) बुद्धि प्राप्त किया था, इस जन्म में अनुकूल वंश में जन्म-ग्रहण करने से वहाँ तक एवं उसी प्रकार साधनसमूह के तथा ब्रह्मात्मैक्यविषया बुद्धि का संयोग पूर्व संस्कार के प्रभाव से अनायास ही प्राप्त होता है। ततः संसिद्धौ च भूयः यतते—उस पूर्वक्त संस्कार के बल से (ततः) सम्यक् सिद्धि के लिये (अर्थात् मोक्ष के लिये) पुनः श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का और अधिक अभ्यास करता है। [मधुसूदन के मतानुसार 'ततः' अर्थात् पूर्व जन्म में अर्जित आत्मविषया बुद्धि के साथ संयोग प्राप्त करने के बाद वह "संसिद्धौ" अर्थात् मोक्ष के लिये जो भूमिका प्राप्त किया था उस लब्ध (प्राप्त हुई) भूमिका की परवर्त्ती भूमिकाओं का सम्पादन करने के लिये "भूयः यतते" अर्थात् अधिक प्रयत्न करता है। इस जन्म में जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो (तत्त्व ज्ञान में निष्ठा की प्राप्ति न हो) तब तक उत्तरोत्तर उन सब भूमिकाओं का सम्पादन करता है। ततः = पूर्वक्तसंस्कारात् अर्थात् पूर्वक्त संस्कार से, भगवान् शंकराचार्य ने ऐसा अर्थ किया। दूसरे टीकाकारों ने

ततः=जन्म लाभान्तर अर्थात् जन्मलाभ करने के बाद, ऐसा अर्थ किया। शंकरानन्द के मतानुसार ततः='पित्रादेः ज्ञानयोगलब्ध्यनन्तरम्' अर्थात् पिता और गुरु इत्यादि से ज्ञानयोग प्राप्त होने के बाद। इन सब टीकाकारों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि पूर्व संस्कार से ही उसके अनुकूल वंश में जन्मग्रहण होता है। और पिता और गुरु के उपदेशों के विना सुप्त संस्कार का प्रकाश होना कठिन है। अतः समन्वय करने से 'ततः' शब्द का ऐसा अर्थ करना पड़ता है 'पूर्व जन्मार्जित संस्कार के प्रभाव से अनुकूल योगियों के वंश में जन्मग्रहण कर पिता और गुरु से ज्ञानयोग के सम्बन्ध में उपदेश प्राप्ति के बाद']

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[पूर्ववर्ती दो श्लोकों में जिस जन्म के विषय में कहा गया है उसे प्राप्त करने से क्या होता है, वह कह रहें हैं—] तत्र—(योगभ्रष्ट व्यक्ति) उक्त दोनों प्रकार के जन्म में ही पौर्वदेहिकम्—पूर्व देह में (पूर्व जन्म में) जात (अर्थात् पहले शरीर में होने वाला) बुद्धिसंयोगम्—ब्रह्मविषयक बुद्धि से संयोग लभते—प्राप्त करता है। ततः च—उसके पश्चात् संसिद्धौ—मोक्षलाभ करने के लिये भूयः यतते—वह पहले से भी अधिक प्रयत्न करता है।

(२) शंकरानन्द—'शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टो चित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः। मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥' (शिल और उञ्छवृत्ति के द्वारा परितुष्ट चित्तवाला, पापों से रहित महान् वैराग्यधर्म-सेवन करता हुआ तथा मुझमें समर्पित आत्मा (चित्त) वाला गृहस्थ गृह में रहकर भी यदि विषयों में अत्यन्त प्रसक्त (अत्यन्त आसक्त) न हो तो वह शान्ति प्राप्त करता है] इत्यादि वाक्यों के प्रमाण से यह सूचित होता है कि करोड़ों गृहस्थों में से कोई एक ही ईश्वर का प्रसाद प्राप्त कर (यानी ईश्वर की कृपा से) ज्ञानी और ज्ञानयोगी हो सकता है। अतः ज्ञानी तथा योगी गृहस्थों के घर में योगभ्रष्ट को शीघ्र योगसिद्धि के लिये जन्म स्वीकार करना चाहिए, इसी अर्थ को ही स्पष्ट करने के लिये श्री भगवान् अब कहते हैं—

तत्र—वहाँ अर्थात् ज्ञानसम्पन्न योगियों के कुल में जन्मग्रहण कर वह योगी पौर्वदेहिकम्—पूर्व देह में जो प्राप्त हुआ था वह अर्थात् पूर्वजन्म में अनुष्ठित श्रवणादि से उत्पन्न (तथा इस जन्म में ब्रह्मज्ञानी तथा योगी पिता आदि के द्वारा उपदिष्ट) तं बुद्धिसंयोगं लभते—उस बुद्धिसंयोग को प्राप्त होता है। पिता जो धर्म पालन करता है उसी धर्म का पुत्र को प्रायः वह उपदेश देता

है, यह लोक में प्रसिद्ध है जो पूर्वजन्म में अनुष्ठित होने के कारण अग्नि के समान भीतर प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है तथा ब्रह्मविद् पिता द्वारा वेदान्त वाक्यों से प्रकट किया गया है उस बुद्धि संयोग को प्रात होता है। यहाँ बुद्धि शब्द का अर्थ है पर तथा अवर का (अर्थात् जीव तथा ब्रह्म का) एकत्व ज्ञान और योग शब्द का अर्थ है मुक्ति की सिद्धि का उपाय। जीव और ब्रह्म का एकत्व ज्ञानरूप बुद्धि ही मुक्ति की सिद्धि के लिए समीचीन योग है अर्थात् सम् (सम्यक् या परम) योग (मुक्ति का उपाय) है। उस बुद्धि योग को अर्थात् ज्ञान-योग को प्राप्त करता है। पूर्व जन्म में ही अभ्यस्त रहने के कारण बहुत कम उपदेशों से ही तथा बहुत कम समय के भीतर ही उसे प्राप्त कर लेता है—यही कहने का अभिप्राय है। किन्तु ज्ञान का सम्यक्त्व सम्पादन किये बिना अर्थात् ज्ञान में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित नही होने से केवल बुद्धिसंयोग की प्राप्ति से ही पुरुष कृतार्थ नहीं होता है। अतः मुमुक्षु को ज्ञान का सम्यक्त्व अर्थात् ज्ञाननिष्ठा सम्पादन करना अवश्य कर्तव्य है, यह सूचित करने के लिये कहा जा रहा है—ततः—उसके बाद अर्थात् पिता और अन्य लोगों से ज्ञान योग को प्राप्त करने के पश्चात् संसिद्धौ—ज्ञान की संसिद्धि के लिए अर्थात् जिससे कि तत्त्वज्ञान में सम्यक् प्रकार से सिद्धि (प्रतिष्ठा या निरन्तर स्थिति) प्राप्त कर सके उसके लिये भूयः—फिर इस जन्म में भी यतते च—प्रयत्न करता है। अथवा ततः—पूर्वजन्म के संस्कार के वेग से ही भूयः—अधिकतर यतते—प्रयत्न करता है अर्थात् ज्ञान का अप्रतिबद्धत्व (अविच्छिन्नत्व) सिद्ध करने के लिये पहले के समान नियमपूर्वक गुरु के द्वारा उपदिष्ट रीति के अनुसार नित्य निरन्तर (सदा) समाधि का अभ्यास करता है।

(३) नारायणी टीका—(क) तत्र—मधुसूदन सरस्वती, वेंकटारमण, श्रीधर और नीलकंठ ने ४१ श्लोक में उक्त शुचि, श्रीमान् पुरुष को भी योगी मानकर 'तत्र' शब्द का 'द्विप्रकारेऽपि जन्मनि' अर्थात् ४१ और ४२ श्लोक में "जिन दो प्रकार के जन्म के विषय में कहा गया है वे प्राप्त होने पर" ऐसा अर्थ किया है। शंकराचार्य, आनन्दगिरि और शंकरानन्द केवल ४२ श्लोक में उक्त दुर्लभतर जो जन्म ब्रह्मविद् योगी के कुल में होता है उसे ही "तत्र" शब्द के अर्थ के रूप से ग्रहण किये हैं। क्योंकि जिन योगियों के पूर्व जन्म में पूर्णरूप से विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ था परन्तु आयु की अल्पता के कारण तत्त्वसाक्षात्कार नहीं हो सका वे मृत्यु के पश्चात् ही (काल के व्यवधान बिना ही) योगी के कुल में जन्मग्रहण कर अनायास ही पौर्वदेहिक (पूर्वजन्मा-

र्जित) आत्मविषया बुद्धि के संयोग से प्राप्त होते हैं। और जिस योगी की पूर्ण वैराग्य के अभाव के कारण विषयों के प्रति आसक्ति थी उसका दीर्घ काल तक स्वर्गलोक में सुख-भोग करने के बाद पवित्र धनी के कुल में जन्म होता है। अतः उसके पूर्वजन्म तथा वर्तमान जन्म के बीच में दीर्घकाल का व्यवधान रहने के कारण पौर्वदैहिक आत्मविषयक साधन संस्कार को प्राप्त करने में विलम्ब होता है क्योंकि आत्मविषया बुद्धि तथा स्मृति विषयवासनारूप मलिनता दूर होने पर ही जाग्रत हो सकती है। अतः उस योगी के लिये पौर्वदैहिक बुद्धि का संयोग कितने दिनों में प्राप्त किया जा सकेगा अथवा उसी जन्म में प्राप्त होगा या नहीं, वह अनिश्चित है। गीता में इसलिये कहा गया है—"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् (गीता ६।४५)। इसलिये उस प्रकार का योगभ्रष्ट योगी वर्तमान श्लोक का विषय नहीं है—यह ही शंकराचार्य आदि के मत हैं।

(ख) ततः संसिद्धौ च भूयः यतते—मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यहाँ दोनों प्रकार के योगभ्रष्ट योगी के विषय में ही कहा गया है क्योंकि पूर्व देह के साधन-संस्कार से उत्पन्न हुई बुद्धि का संयोग प्राप्त करने से उन दोनों प्रकार के योगभ्रष्ट के ही मोक्ष के लिये पुनः अधिक प्रयत्न करना सम्भव होता है। उन दोनों प्रकार के योगभ्रष्ट में से जो योगभ्रष्ट पूर्वजन्म में सर्व कर्मों का त्याग करने पर भी तीव्र भोगवासना तथा दुर्बल वैराग्य रहने के कारण योगसिद्धि प्राप्त न कर ही मृत्यु प्राप्त किया था वह भी पुण्यवान् ही है क्योंकि अनेक पुण्यों के फल से ही मुमुक्षत्व (मोक्षेच्छा) जाग्रत हुआ और ब्रह्मचिन्तन का अवकाश मिला। इस पुण्य के फल से ही ब्रह्मलोक के सुखभोग के बाद पवित्र श्रीमानों के (राजा महाराजाओं के) घर में उसका जन्म होता है। ऐसा योगभ्रष्ट योगी भी पूर्वजन्म के साधन के बल से जिस अवस्था अर्थात् भूमिका का लाभ किया था उससे (ततः) मोक्षलाभ करने के उद्देश्य से (संसिद्धौ) अग्रिम भूमिका की जय करने के लिये अधिक (भूयः) प्रयत्न करता है (यतते)। "च" शब्द के द्वारा यही श्री भगवान् सूचित कर रहें हैं कि वह पूर्वजन्म में जिस साधन भूमिका में आरूढ़ हुआ था उससे प्रारम्भ करके जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक उत्तरोत्तर भूमिकाएँ अधिक से अधिकतर यत्न के साथ सम्पादन करता है। मोक्ष की सात भूमिकाएँ प्रसिद्ध हैं—

(क) प्रथम भूमिका—"शुभेच्छा"—साधनचतुष्टय ही इस भूमिका की सम्पत्ति है। नित्य और अनित्य वस्तुओं का विवेकपूर्वक अर्थात् अनित्य

दृश्य वस्तुओं से नित्य दृष्ट स्वरूप आत्मा को पृथक् कर इहकाल के जागतिक सुख और पर काल के स्वर्गादि सुखों में भी वैराग्यवान् होकर शम, दम तितिक्षा, उपरति,श्रद्धा, समाधानरूप गुणों के द्वारा सम्पन्न होकर सर्वकर्म त्याग करने से जो मुमुक्षुत्व (मोक्ष की इच्छा) उत्पन्न होता है वह "शुभेच्छा" नाम की प्रथमा (पहली) भूमिका है।

(ख) द्वितीय भूमिका—"विचारणा"—श्रवण तथा मनन ही इसकी सम्पत्ति है। शुभेच्छा के पश्चात् गुरु के निकट जाकर वेदान्त वाक्यों का श्रवण तथा मनन (विचार) करना ही दूसरी अर्थात् "विचारणा" भूमिका है।

(ग) तृतीय भूमिका—"तनुमानसा"—निदिध्यासन इसकी सम्पत्ति है। विचारणा के बाद निदिध्यासन का अभ्यास दृढ़ होने से एकाग्रता के कारण मन की जो सूक्ष्म वस्तुओं को ग्रहण करने की योग्यता होती है उसी को "तनुमानसा" भूमिका कहा जाता है। ये तीनों भूमिकाएँ मोक्ष के लिये साधनस्वरूप हैं। इन अवस्थाओं में भेदभाव से जगत् का प्रतिभास होने के कारण इन तीनों भूमिकाओं को योगी की 'जाग्रदवस्था' कहा जाता है।

(घ) चतुर्थ भूमिका—"सत्त्वापत्ति"—तृतीय भूमिका प्राप्त करने के बाद समाधि में ब्रह्म और आत्मा की एकता का जो साक्षात्कार होता है वही साधन की फलरूपा चतुर्थी भूमिका या 'सत्त्वापत्ति' है। इस अवस्था में स्वप्न दृश्यों के समान समस्त जगत् मिथ्या प्रतीत होता रहता है। योगवाशिष्ट रामायण में कहा गया है—"अद्वैतस्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते। पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थी भूमिका मता॥" अर्थात् अद्वैत तत्त्व में स्थिरता प्राप्त होने पर तथा द्वैतबुद्धि प्रशमित (निवृत्त) होने पर चतुर्थी भूमिका में आरूढ़ ज्ञानी सर्वलोकों को अर्थात् सभी दृश्य पदार्थों को तथा जागतिक व्यवहारों को स्वप्न के समान देखते हैं। इसलिये इस भूमिका को योगी की 'स्वप्नावस्था' कहा जाता है। उस चतुर्थ भूमिका के जो योगी प्राप्त किये हैं उन्हें 'ब्रह्मविद्' कहा जाता है।

(ङ) पञ्चम भूमिका—"असंसक्ति"—इस अवस्था में सभी वासनाओं का क्षय हो जाता है। सविकल्प समाधि के अभ्यास के द्वारा मन पूर्णरूप से निरुद्ध होने से निर्विकल्प समाधि होती है, उसी को अर्थात् उस वासना तथा संकल्परहित अवस्था को "असंसक्ति" कहते हैं यह योगी की 'सुषुप्ति' अवस्था है। ऐसी अवस्था प्राप्त होने से योगी को "ब्रह्मविद्वर" (ब्रह्मविदों में उत्कृष्ट यानी श्रेष्ठ) माना जाता है।

(च) षष्ठ भूमिका—"पदार्था भावनी"—इसी अवस्था में आत्मा (ब्रह्म) के अतिरिक्त दूसरे सभी पदार्थों का अभाव का बोध होता है। योगी इस अवस्था से स्वयं नहीं उठते हैं परन्तु दूसरे लोगों के प्रयत्न से यानी सहायता से उनका व्युत्थान होता है। इसलिये इस अवस्था को योगी की 'गंभीर सुषुप्ति' अवस्था कहा जाता है। ऐसी अवस्था प्राप्त होने से ज्ञानी को "ब्रह्मविद् वरीयान्" (ब्रह्मविदों में उत्कृष्टतर यानी श्रेष्ठतर) कहा जाता है।

(छ) सप्तम भूमिका—"तुरीय"—ऐसी अवस्था में योगी समाधि से स्वतः या परतः अर्थात् अपने से अथवा दूसरे के प्रयत्न से व्युत्थित नहीं होते हैं क्योंकि सभी प्रकार भेद दर्शनरहित होने के कारण वे सदा ही परिपूर्ण ब्रह्मानन्द में निमग्न (डूबे) रहते हैं। उनकी प्राणवायु परमेश्वर के द्वारा ही प्रेरित होती है तथा उनकी जीवनयात्रा भी दूसरे के द्वारा ही निर्वाहित होती है। इस अवस्था को 'तुरीयावस्था' कहा जाता है क्योंकि यह अवस्था वाक्य से अगम्य है। योगभूमियों में यही अन्तिम या चरम स्थान है। ऐसी "तुरीय" अवस्था को प्राप्त हुए ज्ञानी को ब्रह्मविद्वरिष्ठ (ब्रह्मविदों में उत्कृष्टतम यानी श्रेष्ठतम) कहा जाता है।

उक्त भूमिकाओं के सम्बन्ध में संक्षेप में ऐसा कहा गया है—"चतुर्थी भूमिका ज्ञानं तिस्रः स्युः साधनं पुरा। जीवन्मुक्तेरवस्थास्तु परा तिस्रः प्रकीर्तिताः।" अर्थात् उक्त सात भूमिकाओं में चतुर्थी भूमिका ज्ञान की अवस्था है, उसके पूर्ववर्त्ती तीनों अवस्थाएँ उसी के साधनस्वरूप हैं, और उसके परवर्त्ती तीन भूमिकाएँ जीवन्मुक्ति की अवस्थाएँ कही जाती हैं। इन भूमिकाओं में चतुर्थी भूमिका तक आरोहण कर जो मृत्यु प्राप्त होता है उसको जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त न होने पर भी विदेह-कैवल्य (मृत्यु के पश्चात् मुक्ति) प्राप्त होता है। इस विषय में कोई संशय नहीं है। और जो योगी पंचम, षष्ठ अथवा सप्तम भूमिका को प्राप्त हुआ है, वह जब जीवित अवस्था में ही जीवन्मुक्ति के असीम आनन्द का अनुभव करता है, तो वह जो विदेह अवस्था में अर्थात् देहत्याग करने के पश्चात् मुक्त होगा ही, इसमें फिर कहने का क्या है? चतुर्थ भूमिका को प्राप्त करने पर योगी को पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता है, अतः जो योगभ्रष्ट हुआ है वह पूर्वजन्म में मृत्यु के पहले शुभेच्छा, विचारणा अथवा तनुमानसा—इन तीनों साधन-भूमिकाओं में से किसी एक भूमिका में अवश्य ही था। अनुकूल पवित्र घर में जन्मग्रहण कर योगभ्रष्ट योगी ने पूर्वजन्म में जिस भूमिका में स्थित होकर साधनाओं का अभ्यास

किया था इस जन्म में उसका अवलम्बन कर अर्थात् उस भूमिका से आरम्भ कर उत्तरोत्तर भूमिकाओं में (अर्थात् उच्चभूमि में) क्रमिक रूप से शीघ्र ही आरोहण करने के लिये अधिक प्रयत्न करता है। योगवाशिष्ठ में भी यही कहा गया है—'तत्र प्रागभावनाभ्यस्तं योगभूमिक्रमं बुधाः। दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम्'। (अर्थात् विद्वान् पूर्वभावना से अभ्यास किये हुए भूमिका के क्रम का अनुभव करके आगे के भूमिकाक्रम पर उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं।) जिन योगी का पूर्व जन्म में भोगवासना की प्रबलता के तथा वैराग्य की दुर्बलता के कारण प्राणत्याग के समय भोगवासना प्रकट हुई थी वे ब्रह्मलोकादि में अनन्तसुख भोग कर (भोग द्वारा पूर्वकृत सुकृतों का क्षय हो जाने पर) पृथ्वी में पवित्र श्रीमान् और पुण्यात्मा सत् पुरुषों के घर में (कुल में) जन्म लेते हैं। किन्तु वहाँ सर्वप्रकार के भोगों का उपादान वर्तमान रहने के कारण योगसिद्धि में अनेक विघ्नों की सम्भावना रहती है। अतः उन योगी के लिये सहसा सर्वकर्मत्याग करना या क्रमशः उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त करना कठिन होता है। किन्तु जिन योगी की वैराग्य तथा मोक्ष की इच्छा प्रबल थी वे अत्यन्त सुकृति के प्रभाव से मृत्यु के पश्चात् ही ज्ञानी और समाधिनिष्ठ गृहस्थों के कुल में (धीमतां योगीनां कुले) जन्म लेते हैं। उनके लिये अतिशीघ्र चतुर्थ भूमिका जय करना सम्भव होता है क्योंकि—(क) अनुकूल ब्रह्मज्ञानी योगी के कुल में जन्मग्रहण करने के कारण उनका पूर्वजन्मार्जित योगसाधन का संस्कार तथा वेदान्त श्रवणादि से ब्रह्म और आत्मा का एकत्वज्ञान अतिशीघ्र ही अभिव्यक्त (प्रकाशित) होता है। (ख) पिता स्वयं ब्रह्मविद् होने के कारण उनके उपदेशों से सभी संशयों से मुक्त होकर आत्मज्ञान में स्थितिलाभ करना उनके लिये सहज होता है। (ग) दरिद्र समाधिनिष्ठ पुरुष के गृह में योग में विघ्न का कोई हेतु अर्थात् चित्त के विक्षेप का कोई कारण नहीं रहता है। इसलिये वे संसिद्धि के लिये [अर्थात् तत्त्वज्ञान का प्रवाह जिससे अप्रतिबद्ध रूप से (अविच्छिन्न रूप से) चलता रहे उसके लिये] निरन्तर (सदा) प्रयत्न (अर्थात् समाधि का अभ्यास) करने में समर्थ होते हैं।

इस प्रकार अभ्यास से पंचम, षष्ठ और सप्तम भूमिका में पहुँच कर संसिद्धि अर्थात् अन्तिम परम पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त होते हैं, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है।

[पूर्वश्लोक में योगभ्रष्ट योगी "पौर्वदैहिक बुद्धिसंयोग" प्राप्त कर संसिद्धि के लिये (तत्त्वज्ञान की सम्यक् सिद्धि के लिये अर्थात् मोक्ष के लिये)

अधिकतर प्रयत्न करता है, यह कहा गया है। पूर्वदेह की बुद्धि से संयोग कैसे होता है (तथा ज्ञाननिष्ठा के लिये प्रयत्न स्वतः कैसे सम्भव होता है) वही श्री भगवान् अब स्पष्ट कर रहे हैं—]

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

अन्वय—हि सः अवशः अपि (सन्) तेन पूर्वाभ्यासेन एव ह्रियते। योगस्य जिज्ञासुः अपि शब्दब्रह्म अतिवर्तते।

अनुवाद—वह (श्रीमानों के घर में जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष) अवश हो कर ही अर्थात् वह पूर्वाभ्यास से विवश हो कर ही योगमार्ग में प्रवर्तित होता है। जो व्यक्ति पूर्वजन्म में योग का (जीवात्मा तथा परमात्मा के एकत्व-बोधरूप ज्ञान योग का) केवलमात्र जिज्ञासु होकर संन्यास धर्म-ग्रहण कर जागतिक कर्मों का त्याग किया था परन्तु योगाभ्यास के अभाव से योगभ्रष्ट होकर मृत्यु प्राप्त किया था वह भी इस जन्म में शब्द ब्रह्म को (अर्थात् समस्त कर्मकांडरूप वेद के फल को) अतिक्रमण कर ज्ञानमार्ग का अधिकारी होता है (अर्थात् वेदविहित कर्मानुष्ठान तथा उसका फल स्वर्गादि में उसकी कोई अभिरुचि नहीं रहती है, परन्तु ज्ञान तथा उसका फल मोक्ष के प्रति उसकी स्वाभाविक रुचि देखी जाती है)। [अतः जिस योगी ने पूर्वजन्म में वैराग्यपूर्वक मुमुक्षु होकर योगाभ्यास किया था, वह इसी जन्म में प्रारम्भ से ही ज्ञान का अधिकारी होगा, इस विषय में और सन्देह (संशय) क्या रह सकता है ?]

भाष्यदीपिका—हि सः अवशः अपि तेन पूर्वाभ्यासेन एव ह्रियते—चूँकि (हि) वह योगभ्रष्ट पुरुष भोग वासनाओं की प्रबलता (तीव्रता) के कारण इच्छा न रहते हुए भी अवश होकर पहले के अभ्यास के द्वारा [पूर्वजन्म में जो अभ्यास किया गया है उसी को "पूर्वाभ्यास" (ज्ञानसंस्कार) कहा जाता है उस बलवान् पूर्वाभ्यास के द्वारा] वशीकृत होकर (यानी अवश होकर) संसिद्धि के लिये [योगमार्ग में सम्यक् अर्थात् पूर्ण सिद्धि (मोक्ष) लाभ करने के लिये] "हृत होता है अर्थात् योग के प्रति आकृष्ट होता है। यदि योगभ्रष्ट पुरुष योगाभ्यास के संस्कारों की अपेक्षा अधिक बलवान् अधर्मादि निन्दनीय कर्म न किये हों तो वह योगाभ्यासजनित संस्कारों के द्वारा योग के प्रति आकृष्ट होकर उसी में प्रवर्तित होता है। और यदि वह योगभ्रष्ट पुरुष उस संस्कार से प्रबल (अधिक बलवान्) अधर्म क्रिया

हुआ होता है तो उस अधर्म से वह योगज-संस्कार भी पराभूत (पराजित) ही हो जाते हैं (अर्थात् दब जाते हैं)। उस अधर्म का (पापकर्म का) नाश होने से (क्षय होने से) वह योगज-संस्कार स्वयं ही अपना कार्य आरम्भ कर देता है। दीर्घकाल तक अव्यक्त (अप्रकाशित) रहने पर (दबे रहने पर) भी उस योगज-संस्कार का कभी विनाश नहीं होता है—यही तात्पर्यार्थ है। [शंका हो सकती है कि जो सर्वकर्मसंन्यासी, वैराग्यवान् योगभ्रष्ट व्यक्ति ब्रह्मलोक या अन्य किसी लोक में गमन न कर मृत्यु के बाद ही ब्रह्मविद् योगी के कुल में जन्मग्रहण किया है उसका पूर्वशरीर त्याग तथा वर्तमान शरीर ग्रहण, इन दोनों के बीच में प्रमाद का (ब्रह्मादि लोक में भोगों से चित्त का जो विक्षेप या असावधानता उत्पन्न हो सकती है उसी प्रकार प्रमाद का) कोई कारण नहीं रहता है, इसलिये उसका काल के व्यवधान के विना ही पूर्वजन्म का संस्कार इस जन्म में सहसा जाग्रत हो सकता है। अतः ऐसा योगभ्रष्ट पुरुष पूर्वाभ्यास से विवश होकर योग के (आत्मा तथा ब्रह्म का एकतासाधनरूप योग के) प्रति आकृष्ट हो सकता है, तथा सर्वकर्म का संन्यासपूर्वक (त्यागपूर्वक) ज्ञान के साधन प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो योगभ्रष्ट पुरुष स्वर्गादि लोक में अनेक वर्षों तक सुख भोगकर श्रीमान् महाराज चक्रवर्ती के वंश में जन्मग्रहण किया है उसमें तो विषयभोग की वासना प्रबल रूप से विद्यमान है तथा इह-जन्म में भी भोगों की सभी सामग्री उपस्थित रहने के कारण प्रमाद की (योग के विषय में असावधान होने की) सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था में उसके पूर्वजन्म तथा वर्तमान जन्म के बीच में समय का व्यवधान दीर्घ होने के कारण उसका पूर्वाभ्यास (अर्थात् पूर्वजन्म में प्राप्त हुआ योग या ज्ञान का संस्कार) अकस्मात् कैसे जाग्रत होकर उसे बलपूर्वक भोग से खींच कर योगमार्ग में (मोक्ष साधन में) प्रवर्तित कर सकता है ? इसका उत्तर यह है कि, ज्ञान-वासना अल्पकाल (बहुत कम समय तक) अभ्यस्त होने पर भी वह वस्तुविषया है अर्थात् परमार्थ सत्य वस्तु ही उसका अवलम्बन (आश्रय) होता है। इसलिये अवस्तु (मिथ्याकल्पित तथा पारमार्थिक असत्) जागतिक विषय को अवलम्बन कर जो भोग-वासना उत्पन्न होती है उससे ज्ञान-वासना सदा ही प्रबल रहती है। सहस्र वर्षों तक किसी को यदि रज्जु में सर्पभ्रम रहता है तथा बाद में यदि अकस्मात् उसमें रज्जुज्ञान हो तो यह सत्यज्ञान एक क्षण में ही सहस्र वर्षों के मिथ्याज्ञान को नाश कर देता है। परमार्थ वस्तु नित्य तथा अचल है, इसलिये उसके सम्बन्ध में ज्ञान भी स्थिर

तथा दृढ़ होता है। उस ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् फिर भ्रमज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिये योगभ्रष्ट का पूर्वजन्म तथा इहजन्म में समय का अनेक व्यवधान रहने पर भी योगी के पूर्वजन्मार्जित ज्ञान का संस्कार सभी प्रकार के विरोधी (अज्ञान) संस्कारों को विनष्ट कर बलपूर्वक अपना कर्म (कार्य) अवश्य ही सम्पादन करने में समर्थ होता है। श्लोक में "ह्रियते" शब्द में 'हृ' धातु (अपहरण करने के अर्थ में) प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार अश्वादि द्रव्य अनेक रक्षकों के बीच में रहने पर भी तथा अपनी इच्छा से वे यदि जाना नहीं चाहे तो भी चोर अपने सामर्थ्य से उन सबको चकमा देकर चुरा लेता है उसी प्रकार योगभ्रष्ट व्यक्ति ज्ञान के अनेकों प्रतिबन्धकों के बीच में रहने पर भी तथा उसकी इच्छा न होने पर भी, उसके पूर्वजन्म के अर्जित ज्ञान के बलवान् संस्कार अपने विशेष प्रभाव से ही समस्त प्रतिबन्धकों का पराभव कर उस योगभ्रष्ट को अपने वश में कर लेते हैं यह बात 'हृ' धातु के प्रयोग द्वारा सूचित की गयी है। इस विषय में अर्जुन प्रत्यक्ष निदर्शन है। अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त होने पर भी तथा ज्ञानलाभ के लिये प्रयत्न नहीं करने पर भी उसके जन्मान्तर के संस्कार की प्रबलता के कारण अकस्मात् वह युद्धक्षेत्र में ज्ञान की प्राप्ति के लिये उन्मुख हुआ था, जिसके फलस्वरूप श्रीभगवान् गीतारूप अमृत वर्षण करने के लिए बाध्य हुए (मधुसूदन)।

योगस्य जिज्ञासुः अपि शब्द ब्रह्म अतिवर्तते—यदि कोई व्यक्ति योग का स्वरूप जानने के लिए इच्छुक होकर भी अर्थात् मोक्ष का साधन तत्त्वज्ञान के विषय ब्रह्म को केवल जानने के लिए इच्छुक होकर सर्वकर्मसंन्यास कर पूर्वजन्म में योगमार्ग में प्रवृत्त होकर योगसिद्धि को प्राप्त न कर ही मृत्यु प्राप्त होने के कारण योगभ्रष्ट हुआ है वह भी [पूर्वसंचित ज्ञान संस्कार की प्रबलता निबन्धन (मधुसूदन)] इस जन्म में शब्दब्रह्म को अतिवर्त्तन करता है [वेदोक्त कर्मानुष्ठान तथा उसके फल स्वर्गादि को अतिक्रमण करता है अर्थात् वह भी कर्मकाण्ड से (यागादि नित्य नैमित्तिक कर्मों से) बहिर्भूत रहता है क्योंकि उसको किसी कर्मफल की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः वह स्वतः ही कर्माधिकार का अतिक्रमण करके ज्ञान का अधिकारी होता है। इससे भी ज्ञान और कर्म के समुच्चय का निराकरण ही किया गया है क्योंकि यदि इनका समुच्चय होता तो ज्ञानी के लिये भी कर्मकाण्ड का अतिक्रमण करना सम्भव नहीं था।]

[जब कि इस प्रकार प्रथम भूमिका में मरने पर भी अनेक वासनाओं से युक्त होने पर भी तथा प्रमाद के अनेक कारणों से युक्त महाराजों के कुल में

जन्म पाकर भी योगभ्रष्ट पुरुष पूर्वसञ्चित ज्ञान के संस्कारों की प्रबलता से कर्माधिकार का अतिक्रमण करके ज्ञान का अधिकारी हो जाता है तो दूसरी या तीसरी भूमिका में मरकर महाराजों के कुल में जन्म लेने वाला योगभ्रष्ट पुरुष विषयभोग के अन्त में अथवा ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणों के कुल में जन्म लेने वाला योगभ्रष्ट विषयभोग के विना ही कर्माधिकार के अतिक्रमणपूर्वक ज्ञान का अधिकारी होकर ज्ञान के साधनों का सम्पादन कर संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है—इसमें तो कहना ही क्या है ? (मधुसूदन)। ज्ञानमार्ग की सातों भूमिका के विवरण पूर्वश्लोक की नारायणी टीका में दिया गया है ।] इस श्लोक में प्रसंग की शक्ति विचार कर 'जिज्ञासु' शब्द का अर्थ 'संन्यासी' किया गया है ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[पूर्वश्लोक में जो कहा गया है उसमें कारण वताते हैं—]

तेन एव पूर्वाभ्यासेन—उस पूर्वदेह में किये हुए अभ्यास के द्वारा **सः ह्रियते**—किसी प्रकार के विघ्न से रुकावट हो जाने के कारण इच्छा न करता हुआ भी उसे योगसाधन की ओर आकर्षित (अर्थात् हटाकर ब्रह्मनिष्ठ) किया जाता है । इस प्रकार पूर्वाभ्यास के प्रभाव से फिर इस जन्म में प्रयत्न करता हुआ धीरे-धीरे वह मुक्तिलाभ करने में समर्थ होता है—इस अभिप्राय को कैमुत्यन्याय से 'जिज्ञासु' इत्यादि डेढ़ श्लोक द्वारा स्पष्ट कर कह रहे हैं—**योगस्य जिज्ञासुः अपि**—जो केवलमात्र योग का स्वरूप [तत्त्वज्ञान] को जानने का इच्छुक है किन्तु योग को प्राप्त नहीं हुआ है वह इस प्रकार योग-साधन में केवलमात्र प्रविष्ट होकर भी यदि (वाद में पाप के कारण योगभ्रष्ट होता है तो भी) ऐसा साधक **शब्दब्रह्म अतिवर्त्तते**—शब्दब्रह्म को (वेद को अर्थात् वेदोक्त कर्मफल को) अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् वेदोक्त कर्मफलों से भी अधिक फल (ज्ञान) प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है ।

(२) शंकरानन्द—नित्य निरन्तर समाधि का अनुष्ठान किस कारण से योगभ्रष्ट करते हैं वह कहा जा रहा है-**हि**-क्योंकि **तेन एव पूर्वाभ्यासेन**-पूर्वजन्म में श्रद्धा और तीव्र मोक्षेच्छा तथा अत्यन्त वैराग्य के साथ दीर्घकाल तक नित्य निरन्तर नियमपूर्वक जो अभ्यास अर्थात् सदा समाधि की आवृत्ति की गई उस अभ्यास के द्वारा ही (वुद्धि में संस्कार के रूप से जो अभ्यास का वेग स्थित है उस अभ्यास के वेग के द्वारा ही) सब कर्मों का विधिपूर्वक त्याग कर **सः**—वह योगभ्रष्ट यति **अवशः अपि**—अवश होकर ही अर्थात् स्वयं इच्छा न करते हुए भी **ह्रियते**—वलपूर्वक योगनिष्ठा में ही स्थापित

किया जाता है—कर्मनिष्ठा अथवा विषयभोगनिष्ठा में नहीं। इसलिये संसिद्धि (मोक्ष) के लिये पहले से भी अधिकतर प्रयत्न वह करता है—इस प्रकार पूर्व श्लोक के साथ अन्वय करना होगा !

शंका—अच्छा, 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' (प्रतिदिन संध्या करे), 'उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति' (सूर्य के उदय होने से हवन करे), 'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत' (दर्श पौर्णमास का यजन करे), 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' (यावज्जीवन अग्निहोत्र यज्ञ करे), 'श्रौतं चाऽपि तथा स्मार्तं कर्माऽवलम्ब्य वसेद् द्विजः। तद्विहीनः पतत्येव ह्यालम्बरहितान्धवत्' (ब्राह्मण श्रौत तथा स्मार्त कर्मों का अवलम्बन कर वास करे क्योंकि उन सब कर्मों से रहित होकर आलम्बनशून्य पुरुष अंधे के समान पतित होता ही है), इत्यादि श्रुति तथा स्मृति के उपदेशों का अनादर करके जो ब्राह्मण श्रौत तथा स्मार्त कर्मों का त्याग करता है वह योगनिष्ठा में कैसे प्रवृत्त हो सकता है ?

समाधान—'जन्मान्तरसहस्रेषु बुद्धिर्या भाविता पुरा। तामेव भजते जन्तुरुपदेशो निरर्थकः ॥' (हजार हजार पूर्वजन्मों के संस्कारों से जो बुद्धि उत्पन्न होती है जीव उसी के भजन करता है अर्थात् उस बुद्धि के अनुसार ही चलता है, इसलिये उपदेश निरर्थक होता है), इस न्याय के अनुसार पूर्वजन्म में यदि कोई कर्मी हो तो वह इस जन्म में कर्मों में ही लिप्त रहेगा, यदि धर्मी हो तो धर्मों में रत रहेगा, यदि पापी हो तो पाप कर्मों में रत रहेगा, यदि भक्त हो तो भक्ति में रत रहेगा, यदि ज्ञानी हो तो ज्ञान में रत रहेगा और यदि योगी हो तो योग में ही रत रहेगा—इस प्रकार पूर्वजन्मों में अर्जित (प्राप्त किया) संस्कार के अनुसार सभी की रति होती है। अतः मनुष्य संस्कार के विना उपदेश में तत्पर नहीं होता है अर्थात् यदि पूर्वसंस्कार न रहें तो केवल उपदेशों को सुनकर उसके अनुसार कार्य करने में कोई समर्थ नहीं होता है। अतः जिस योगी के विषय में यहाँ कहा गया है वह भी वेदशास्त्रादि का अध्ययन कर (पढ़कर) तथा उन सब का अर्थ विचार कर 'न कर्मणा न प्रजया' (न तो कर्म के द्वारा और न तो प्रजा के द्वारा अमृतत्व प्राप्त किया जाता है) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से, कर्म मोक्ष का साधन नहीं है, यह निश्चय करके पूर्वानुष्ठित ज्ञानयोग के अभ्यास के संस्कारों के वेग से वैदिक और अन्य सभी कर्मों का त्याग कर ब्रह्मनिष्ठा में ही स्थित रहेगा, इसमें तो कहना ही क्या है ? अर्थात् इस विषय में कोई संशय नहीं रह सकता। ऐसा योगी मुमुक्षु होने पर भी सर्व कर्मों का त्याग कर श्रवणादि में ही प्रवृत्त होता है, ऐसा अब कह

रहे हैं—योगस्य जिज्ञासुः अपि—[श्रवणादि से जिसका विज्ञान उत्पन्न हुआ है उस योगी के स्वभाव में अर्थात् अपने स्वरूप में युक्त करवाता है, अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करवाता है उसे 'योग' कहा जाता है। अतः योग शब्द का अर्थ है निर्विशेष परमात्मा परब्रह्म।] इस योग का अर्थात् परब्रह्म का जिज्ञासु अर्थात् उनका स्वरूप जानने को इच्छुक (मुमुक्षु) भी शब्दब्रह्म अतिवर्तते—केवल मोक्ष की कामना से शब्दब्रह्म का (वेद का), वेद के उपदेश का तथा वेदप्रतिपादित कर्मों का उल्लंघन करता है। 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (अर्थात् जो यति इस आत्मलोक को प्राप्त करना चाहते हैं वे गृहस्थ के धर्मों का त्याग करते हैं), 'वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्य आत्मानमन्विच्छेत्' (वेदों का तथा यह लोक और परलोक का त्याग कर आत्मा का ही अनुसन्धान कर), इत्यादि श्रुति तथा स्मृति के बल से जिज्ञासु भी वेद और वेदोक्त सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर श्रवणादि में ही प्रवृत्त होता है—यही कहने का तात्पर्य है।

(३)नारायणी टीका—पूर्वाभ्यासेन ह्रियते—ज्ञान की सातों भूमिकाओं का विवरण पूर्वश्लोक में दिया गया है। जिज्ञासु यदि प्रथम भूमिका में ('शुभेच्छा' में) रहकर ही मृत्यु को प्राप्त हो तथा बहुत दिनों तक भोग वासनाओं की तृप्ति के लिये स्वर्गादि लोक में अवस्थान कर बाद में प्रसाद के कारणों से परिपूर्ण (भरे हुए) महाराजाओं के वंश में जन्मग्रहण करे तो भी पूर्वसंचित (पूर्वाभ्यासरूप) ज्ञान के संस्कार की प्रबलता के कारण कर्माधिकार (वैदिक कर्मकांड का) अतिक्रमण कर ज्ञानधिकारी होता है। अतः जो व्यक्ति द्वितीय अथवा तृतीय भूमिका में आरोहण कर मृत्यु प्राप्त होता है तथा विषयों के भोग के लिये श्रीमानो के (धनी के वंश में जन्मग्रहण किया है वह योगभ्रष्ट व्यक्ति कर्माधिकार का अतिक्रमण कर ज्ञान का अधिकारी होकर उस ज्ञान के साधनों से ज्ञान का फल (ब्राह्मीस्थिति) प्राप्त कर संसार के बंधनों से मुक्तिलाभ करेगा, इस विषय में क्या संशय हो सकता है ? यही कहने का अभिप्राय है।

(क) योगस्य जिज्ञासुः—सर्व कर्मों का त्याग कर संन्यास का अवलम्बन कर ज्ञान की प्रथम भूमिका में स्थित योगी को जिज्ञासु कहा जाता है। ३७ श्लोक से ४४ श्लोक तक जो कुछ कहा गया है वह पूर्वजन्म में जो साधक संन्यास धर्म को ग्रहण करने के पश्चात् योगसिद्धि प्राप्त करने में असमर्थ होकर योगभ्रष्ट हुए थे उनके सम्बन्ध में ही कहा गया है। वैदिक कर्मकांडनिष्ठ

अथवा कर्मकांड से भ्रष्ट व्यक्ति के सम्बन्ध में वह नहीं कहा गया है। आनन्द-गिरि का भी यही मत है।

(ख) शब्दब्रह्म अतिवर्तते—"कर्माधिकार को अतिक्रम कर ज्ञान के अधिकारी होते हैं" ऐसा कहने में ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष (ज्ञान तथा कर्म एक साथ किया जा सकता है ऐसा जो लोग मानते हैं उनलोगों का पक्ष) निरस्त हुआ है, ऐसा समझना होगा। समुच्चय पक्ष स्वीकार करने से ज्ञाना-धिकार प्राप्त होने पर भी कर्माधिकार का अतिक्रमण करना सम्भव नहीं होता। मधुसूदन सरस्वती का भी यही सिद्धान्त है।

योगित्व श्रेष्ठ क्यों है ? अर्थात् योगमार्ग में प्रवृत्त संन्यासी योगभ्रष्ट होने से भी कर्मनिष्ठ व्यक्ति से श्रेष्ठ किस कारण से है उसे और स्पष्टरूप से कहा जा रहा है। [पहले कई श्लोकों के तथा वर्तमान श्लोक का तात्पर्य यह है कि जो यति तत्वज्ञान द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिये सब कुछ त्याग कर अपने परम कल्याण का सम्पादन करने के लिये दृढ़संकल्प हुआ है, वह यदि बाह्य या आभ्यन्तरिक प्रतिबन्धों (विघ्नों) के कारण चरम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त न भी कर सके तो उसके देहपात के बाद ऐसा जन्म होता है जिसमें कि वह पूर्व जन्मों में अर्जित ज्ञान के संस्कारों को स्वतः ही प्राप्त कर उत्तरोत्तर भूमिकाओं में आरोहण करने में समर्थ होता है। अतः योगभ्रष्ट होने पर भी किसी भी प्रकार से उसका नाश (असद्गति) नहीं हो सकता है। पूर्व-जन्मार्जित साधन संस्कार के संवेग के तारतम्य के अनुसार वह पवित्र धनियों के घर में अथवा ब्रह्मविद् योगी के घर में जन्म लेता है एवं पूर्व जन्मार्जित बुद्धियोग प्राप्त कर सिद्धि के लिये और भी अधिक प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्रयत्न-पूर्वक अभ्यास से वह अन्त में परमागति अर्थात् मोक्षलाभ करता है। इस कारण कर्मों से योगित्व (संन्यासित्व) श्रेयः (श्रेष्ठ) है। (नारायणी टीका)]

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

अन्वय—तु प्रयत्नात् यतमानः योगी संशुद्धकिल्बिषः अनेकजन्मसंसिद्धः (सन्) ततः परां गतिं याति।

अनुवाद—प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला अर्थात् पहले किये हुए यत्न से भी अधिकाधिक यत्न करने वाला योगी योग के प्रतिबन्धकरूप सम्पूर्ण

पापों से शुद्ध (मुक्त) हो जाने पर तथा अनेक जन्मों के संस्कार और पुण्यों का सञ्चय होने से चरम जन्म की प्राप्ति होने पर साधनों का परिपाक होने से (तत्त्वज्ञान लाभ कर) परम गति को (मोक्ष या निर्वाण को) प्राप्त होता है अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होता है।

भाष्यदीपिका—तु प्रयत्नात् यतमानः योगी संशुद्धकिल्विषः—प्रयत्नपूर्वक यतमान अर्थात् पूर्वजन्मकृत अभ्यास से भी अधिक अभ्यास करने वाला योगी (विद्वान् पुरुष) योगाभ्यासरूप प्रयत्न से जो पुण्य संचय होता है उसके द्वारा संशुद्धकिल्विष (योग के प्रतिबन्धकरूप सब पापों से पूर्णरूप से शुद्ध) हो जाता है अर्थात् पापरहित होता है। [समाधि की सिद्धि के लिये प्रकृष्ट रूप से यत्न करने को प्रयत्न कहते हैं। समाधि में निष्ठा (स्थिति) प्राप्त करने के लिये अधिक उत्साह के साथ योगी अनेक प्रयत्न करता है, इसलिये उसे 'यतमान' कहा गया है। इस समाधि-निष्ठा से ही तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार के द्वारा परमब्रह्म के साथ योग होता है, इसलिये यतमान यति को "योगी" अर्थात् ब्रह्मविद्ज्ञानी कहते हैं ऐसे ब्रह्म-योगी होने से ही सम्पूर्ण पापसमूह नष्ट हो जाते हैं अर्थात् वह विगतपाप (संशुद्ध किल्विष) होता है क्योंकि "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते" (गीता ४।३७) अर्थात् तत्त्वज्ञानरूप अग्नि प्रज्वलित होने से सभी कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं। "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" (गीता ४।३८) अर्थात इहलोक में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला और दूसरा कुछ भी नहीं है। श्रुति में कहा गया है "योऽवै परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"। "तरति शोकं तरति पाप्मानम्" इत्यादि अर्थात् ब्रह्म को जो जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। वह सभी प्रकार के शोक तथा पापों से उत्तीर्ण (मुक्त) हो जाता है (मुंडकोपनिषद्)। इसलिये तत्त्वज्ञानी के समाधि में विघ्न उत्पादन करने वाला कोई पाप नहीं रह सकता है। ऐसा यति की अल्प प्रयत्नशील यति से विलक्षणता दिखाने के लिये "तु" शब्द का व्यवहार किया गया है। जिसकी बाह्यवासना एवं वासनाओं के कार्य काम, कर्म तथा कर्मफल ये सभी निःशेष (नष्ट) हो गये हैं वह "संशुद्धकिल्विष" है। वासना सर्व पापों का मूल है तथा वासना से ही चित्त का विक्षेप उत्पन्न होता है। अतः जब समस्त वासनाएँ तथा उससे उत्पन्न समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं तब समाधि का प्रतिबन्धक कोई पाप रूप मल न रहने के कारण नित्य निरन्तर समाधि में स्थित योगी सदा ही परमानन्द में मग्न रहता है। परन्तु ऐसी अवस्था एक

दो दिन में प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अनेक जन्मों के अभ्यास तथा सुकृति के फल से यह सम्भव होता है, वही अब श्री भगवान् स्पष्ट रूप से कह रहे हैं। (नारायणी टीका)] **अनेकजन्मसंसिद्धः**—अनेक जन्मों में थोड़े-थोड़े योगाभ्यासरूप पुण्यसंस्कारों को एकत्रित कर अर्थात् अनेक जन्मों के संचित पुण्य संस्कारों से पापरहित होकर सम्यक् (पूर्ण) सिद्ध-अवस्था (तत्त्वज्ञान) प्राप्त करके [अथवा ज्ञान के संस्कार की अधिकता तथा पुण्य कर्मों की अधिकता से चरम जन्म प्राप्त होकर (मधुसूदन)] **ततः परां गतिं याति**—उस सम्यग् दर्शन का (एकत्व दर्शन का) परिपाक होने से सभी भेद बुद्धि निःशेष नष्ट होने पर (ततः) जीवन की परमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। [इस विषय में कोई संशय नहीं है, यही कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)] ["परा गति" शब्द का अर्थ है स्वरूपभूत मोक्षरूप परमावस्था अर्थात् निर्विशेष नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्ताखंडाद्वय परमानन्द ब्रह्मस्वरूप आत्मा में अचल स्थिति। जब तक प्रारब्धवश शरीर जीवित रहता है तब पक्व ब्रह्मविद् योगी उसी ब्राह्मी स्थिति को लाभकर जीवन्मुक्ति का आनन्द भोग करता है एवं मृत्यु के बाद विदेह कैवल्य (विदेह मुक्ति) को प्राप्त होता है, यही 'परां गतिं याति' वाक्य का तात्पर्य है। (नारायणी टीका)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[जब इस प्रकार अल्प प्रयत्न से भी योगी परम गति को प्राप्त करता है तब **तु प्रयत्नात् यतमानः योगी**—जो योगी उत्तरोत्तर योगसाधन में अधिक प्रयत्न कर रहा है तथा योग के प्रभाव से ही **संशुद्धकिल्बिषः**—जो भली-भाँति विधूतपाप (सभी पापों से मुक्त) हुआ है वह **अनेकजन्मसंसिद्धः**—अनेक जन्मों में संचित ज्ञान संस्कारों से संवर्द्धित (बढ़े हुए) योग के द्वारा सम्यग् ज्ञानी होकर **ततः**—उसके बाद **परां गतिं याति**—श्रेष्ठ गति को (परम गति या मोक्ष को) प्राप्त होता है, इसमें तो कहना ही क्या है ?

(२) **शंकरानन्द**—तीव्र मोक्षेच्छा तथा वैराग्य द्वारा जो यति योग के विषय में अधिक प्रयत्न करता है उसका कैसा फल प्राप्त होता है ? वह कहा जा रहा है—

प्रयत्नात्—समाधि के लिये प्रकृष्ट यत्न को प्रयत्न कहा जाता है। उस प्रयत्न के द्वारा संसिद्धि (मोक्ष) के लिये **यतमानः तु योगी**—तत्पर होकर नित्य निरन्तर नियमपूर्वक जो समाधिनिष्ठा करता है वह प्रकृष्ट प्रयत्नशील तथा तीव्र मोक्षेच्छु (मोक्ष के लिये इच्छुक) योगी (ब्रह्मविद् यति)

[कालान्तर में मोक्षरूप फल प्राप्त करने वाले अल्प प्रयत्नशील भिक्षु से उक्त योगी की विलक्षणता निर्देश करने के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है।] संशुद्धकिल्विषः (सन्)—अज्ञान तथा अज्ञान के कार्यरूप पापों से मुक्त होकर अर्थात् निरन्तर समाधिनिष्ठा से सम् (सम्यक् प्रकार से अर्थात् भलीभाँति) शुद्ध हुआ है (नष्ट हुआ है) किल्विष अर्थात् अज्ञान तथा अज्ञान का कार्यरूप पाप जिसका वह 'संशुद्धकिल्विष' है अर्थात् वाह्य वासना तथा उन वासनाओं का कार्य, काम और कर्मफल जिसका विनष्ट (नष्ट) हो चुका है वह संशुद्धकिल्विष है। ऐसा (संशुद्धकिल्विष) होकर अनेकजन्मसंसिद्धः—एक से अधिक [कपिंजल—अधिकरण के न्यायानुसार बहुवचन का पर्यवसान (समाप्ति) तीन संख्या में होता है। इसलिये 'अनेक' शब्द का अर्थ है एक, दो अथवा तीन] जन्मों में सांसिद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त होकर (अप्रतिवद्ध विज्ञान से सम्पूर्णरूप से भेदप्रत्ययरहित होकर) ततः—तदनन्तर उस सम्यग्दर्शन के द्वारा ही परां गतिं याति—परा (परम पुरुषार्थरूप) गति को प्राप्त होता है। अपने स्वरूप के द्वारा (अपने आप से) जो प्राप्त होता है उसे गति कहा जाता है। अतः 'परां गतिं याति' पद का अर्थ अपने स्वरूप-भूता विदेह मुक्तिरूप परम-अवस्था को प्राप्त होता है अर्थात् निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द तथा अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप से (अपने आत्मस्वरूप से) स्थित होता है। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि तीव्र मोक्षेच्छु यति को अन्य क्रिया को अवकाश (समय) न देकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि में अधिकतर प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि अल्प प्रयत्न करनेवाले यति की तो अधिक दिनों में (अधिक देर में) मुक्ति होती है।

(३) नारायणी टीका—[भाष्यदीपिका देखिए]।

[षष्ठाध्याय का विषय ध्यानयोग है। ध्यानयोग सभी साधनों में श्रेष्ठ है अर्थात् पूर्वश्लोक में उक्त "परमागति" अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने का श्रेष्ठ उपाय है। इसलिये जिससे कि योग के विषय में अधिक श्रद्धा हो इसलिये योग की प्रशंसा करने के उद्देश्य से कर्मी से योगियों का सर्व प्रकार से श्रेष्ठत्व वर्तमान श्लोक में वर्णन किया गया है—]

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६।

अन्वय—योगी तपस्विभ्यः अधिकः, ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः मतः, योगी कर्मिभ्यः च अधिकः (इति मे) मतः, तस्माद् हे अर्जुन ! योगी भव।

अनुवाद—योगी तपस्वियों से भी श्रेष्ठ है, योगी को ज्ञानी व्यक्तियों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा योगी कर्मी से भी श्रेष्ठ है, यही मेरा मत है। अतः हे अर्जुन ! तुम योगी होओ।

भाष्यदीपिका—**योगी तपस्विभ्यः अधिकः**—तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने के बाद सम्यक् प्रकार से (सम्पूर्ण रूप से) मनोनाश तथा वासनाक्षय जिसका हुआ है ऐसा ब्रह्मनिष्ठ योगी कृच्छ्रचान्द्रायणादि कठोर तपस्यारूप साधन करनेवाले पुरुषों से श्रेष्ठ (उत्कृष्ट) है। स्मृति तथा श्रुतियों में सर्वत्र ज्ञान की महिमा का ही वर्णन किया गया है क्योंकि ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता है। परमात्मा के साथ सदा मिलित रहना ही परम तपस्या है, इसलिये ब्रह्मविद् सम्यग्दर्शी योगी को साधारण तपस्वियों से श्रेष्ठ कहा गया है। महाभारत में 'मन तथा इन्द्रियों को एकाग्र कर परमात्मा में निमग्न करने को परम तपस्या कहा गया है'। वह सभी धर्मों से श्रेष्ठ है—इसलिये उसे परम धर्म भी कहा गया है। (मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः। तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥) श्रुति में भी कहा गया है "विद्यया तदा-रोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः"। अर्थात् विद्या के बल से वह उस स्थान में आरोहण करता है जिस स्थान से कामनाएँ परावृत होती हैं अर्थात् जिस पद की प्राप्ति करने पर फिर कोई कामनाएँ नहीं रह सकती हैं। दक्षिणागण अर्थात् केवल कर्म-परायण पितृयान-गामी व्यक्तिगण वहाँ नहीं जा सकते हैं तथा जिन लोगों को तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है वैसे तपस्वी (देवयानमार्गगामिगण भी) भी वहाँ नहीं जा सकते हैं अर्थात् देवयान तथा पितृयान मार्ग के अधिकारी व्यक्ति उस परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता है। ग्रीष्मकाल में पञ्चतपा होना, वर्षा में अनावृत स्थान में सोना, हेमन्तकाल में भींगे वस्त्रों में रहना, बराबर रात्रि में भोजन करना तथा कृच्छ्रचान्द्रायण तथा साधारण चान्द्रायणादि व्रत पालन करना तपस्या है। तपस्या का फल है पाप का नाश ["तपसा कल्मषं हन्ति"]। इसलिये कृच्छ्रचान्द्रायणादि अथवा पञ्चाग्नि आदि तपों के साधन में जो लोग निरत (तत्पर) रहते हैं उनलोगों को एकमात्र पापनिवृत्तिरूप फल का प्रयोजन रहने के कारण उनको तत्त्वज्ञान नहीं मिलता है किन्तु आत्मज्ञान की अपेक्षा बहुत कम ही फल मिलता है क्योंकि (क) निर्विकल्प समाधि के द्वारा प्राप्त हुआ आत्मज्ञान सर्वपापनाशक होता है और चान्द्रायणादि व्रत केवल विशेष विशेष पाप का नाशक होता है (ख) आत्मज्ञान होने से भविष्य में और

पाप का सम्भव नहीं होता है परन्तु तपस्या के द्वारा अतीत तथा वर्तमान पापों को नाश किया जा सकता है, भविष्य के पापों को रोका नहीं जा सकता है (ग) आत्मज्ञान पाप तथा पुण्यरूप सभी कर्मबीजों को नष्ट कर जन्ममृत्यु रूप चक्र से मुक्त करता है किन्तु तपस्या पुण्य संचय कर भविष्य जन्मों में कर्मफलों के भोग का हेतु होती है। इन सब कारणों से भी योगी (अर्थात् सम्यग्ज्ञानी) तपस्वी से श्रेष्ठ हैं।

ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः मतः—(यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ है शास्त्रों में पांडित्य)। शास्त्र पांडित्य अथवा परोक्षज्ञान जिनका है उनकी अपेक्षा सम्यग् ज्ञानी ब्रह्मविद् (योगी) श्रेष्ठ माना गया है। गुरुमुख से वेदान्तादि शास्त्रों का श्रवण कर "सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है, वह ब्रह्म ही सबकी आत्मा है, जगत् स्वप्नों के समान मिथ्या है, चित्त निरोध के द्वारा निर्विकल्प समाधि में इस ब्रह्मस्वरूप आत्मा को साक्षात्कार करना होगा" ऐसा जिसका निश्चय हो गया परन्तु विषय वासनाओं का त्याग करने में तथा काम क्रोधादि रिपुओं को जय करने में असमर्थ होने के कारण जो आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सका ऐसे ज्ञानी को 'परोक्षज्ञानी' कहा जाता है। परोक्ष ज्ञान के पश्चात् जब वैराग्य तथा समाधि का अभ्यास कर 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ' इस प्रकार साक्षात्रूप से आत्मतत्त्व की अनुभूति करता है तब 'अपरोक्ष ज्ञानी' होता है। अपरोक्षज्ञान होने के बाद भी मनोनाश तथा वासनाक्षय न होने से चित्त के विक्षेप का हेतु विद्यमान रहने के कारण ज्ञाननिष्ठा अर्थात् निरन्तर अपने स्वरूपभूत अखंडाद्वयचिदानन्द ब्रह्म में स्थितिलाभ करना सम्भव नही होता है। तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय—इन तीनों का पूर्णरूप से सम्पादन कर एकमात्र ब्रह्म में जो स्थितिलाभ करता है। उसे "सम्यग्ज्ञानी" कहा जाता है। इस प्रकार सम्यग् ज्ञानी को ही वर्तमान श्लोक में "योगी" कहा गया है। परोक्ष ज्ञानी से अपरोक्ष ज्ञानी श्रेष्ठ है, फिर अपरोक्ष ज्ञानी से सम्यग् ज्ञानी अथवा जीवन्मुक्त पुरुष (योगी) श्रेष्ठ हैं, यही यहाँ कहने का तात्पर्य है। योगी कर्मिभ्यश्च अधिकः—जो लोग अग्निहोत्रादि कर्म करते हैं वैसे कर्मियों से भी योगी अर्थात् तत्त्ववित् जीवन्मुक्त पुरुष अधिक अर्थात् विशिष्ट या श्रेष्ठ है। जो लोग ज्योतिष्टोमादि, अग्निहोत्रादि, अश्वमेधादि याग आदि कर्म करते हैं उनलोगों को कर्मी कहा जाता है। कर्मों के द्वारा स्वर्गादिलोक प्राप्त किया जाता है किन्तु पुण्यों का क्षय होने से उन कर्मी को पुनः इस मर्त्यलोक में ही जन्म लेना पड़ता है (गीता ९।२१)। तपस्वियों के समान सकाम कर्मी भी (अर्थात् जो

कामनाओं के सहित याग यज्ञादि कर्म करते हैं वे भी) मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी नहीं हैं किन्तु जो निष्कामरूप से (यानी ईश्वर में समर्पण बुद्धि से) शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं उनकी चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानलाभ होने से वे मोक्ष के अधिकारी होते हैं, यही विशेषता है। कहने का अभिप्राय यह है कि केवल कर्मों के द्वारा जन्ममृत्यु के प्रवाह से मुक्तिलाभ करना अथवा दुःखों की सम्पूर्ण निवृत्ति करना सम्भव नहीं है--सम्यग् ज्ञान के द्वारा ही वह सम्भव है। इसलिये सम्यग् ज्ञानी (योगी) कर्मियों से श्रेष्ठ है। उक्त तथा अनुक्त [जिनलोगों के विषय में कहा गया है तथा जिनलोगों के विषय में नहीं कहा गया है, जैसे कि जो वैदिक कर्मों को करते हैं अथवा जो वैदिक सिद्धान्त की अवहेलना कर कर्म करते हैं अथवा जो उपासनादि कर्म करते हैं अथवा दूसरे मतों में निष्ठा रखकर जो अन्य प्रकार के कर्म करते हैं इत्यादि] सभी कर्मियों से ही योगी (सम्यग्दर्शी) श्रेष्ठ हैं, इसे समझाने के लिये "च" शब्द का प्रयोग किया गया है। **तस्मात् हे अर्जुन ! योगी भव**—चूँकि ऐसा है इसलिये (तस्मात्) हे अर्जुन ! तुम योगी होओ (बनो)। चूँकि ब्रह्मविद् सम्यग्दर्शी योगी तपस्वी, परोक्षज्ञानी, कर्मी इत्यादि सभी से श्रेष्ठ है, इसलिये अधिक से भी अधिक प्रयत्न के बल से मनोनिरोधरूप समाधि योग का अभ्यास करो तथा साधन में परिपक्वता प्राप्त कर एकसाथ तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय के द्वारा परमयोगी होकर पुनरावृत्तिरहित (संसार गतिशून्य) ब्रह्मपद या विदेह-कैवल्य को प्राप्त होकर मनुष्य जीवन को धन्य करो—यही भगवान के कहने का अभिप्राय है। 'अर्जुन' शब्द का अर्थ है 'शुद्ध'। अतः अर्जुन शब्द के द्वारा सम्बोधन कर श्रीभगवान् कह रहे हैं कि तुम भी योगभ्रष्ट पुरुष हो तथा तुम्हारा चित्त भी अत्यन्त शुद्ध है। तुम उक्त प्रकार तत्त्वविद् योगी होने के लिये पूर्ण अधिकारी हो। अतः निराश न होकर पूर्ण योगी होने के लिये पूर्ण उद्योग करना तुम्हारा अवश्य कर्तव्य है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[चूँकि ऐसी बात है, इसलिये] **तपस्विभ्यः**—कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपोनिष्ठ व्यक्तियों से तथा **ज्ञानिभ्यः च**—शास्त्रज्ञानसम्पन्न ज्ञानियों से तथा **कर्मिभ्यः च**—इष्टापूर्तकर्म करने वाले कर्मियों से भी **योगी**—जिस योगी के विषय में कहा गया है वह योगी **अधिकः**—श्रेष्ठ **मतः**—माना गया है, **तस्मात् अर्जुन योगी भव**—अतः अर्जुन ! तुम योगी होओ।

(२) शंकरानन्द—जो योगी शम, दम, संन्यासादि उत्तम साधनसम्पन्न हुए हैं तथा अधिकतर प्रयत्न से अनुष्ठित समाधिनिष्ठा से उत्पन्न होने वाला

अद्वैतविज्ञान को प्राप्त हुए हैं वे ही मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, दूसरे नहीं। इसलिये ऐसे अद्वैतविज्ञानविशिष्ट योगी अन्य साधनों के अनुष्ठान करने वालों से श्रेष्ठ (अधिक) हैं, वह अब कहते हैं—

योगी तपस्विभ्यः अपि अधिकः—उक्त लक्षण युक्त ब्रह्मविद् योगी तपस्वियों से भी (कृच्छ्रचान्द्रायणादि अनुष्ठानकारी तथा पंचाग्नि के मध्य में बैठकर तपस्या में रत मुमुक्षुओं से भी) अधिक अर्थात् श्रेष्ठ है। 'तपसा कल्मषं हन्ति' (तपस्या से कल्मष अर्थात् पाप को नष्ट कर देता है) इस प्रकार स्मृति वचन के द्वारा उस तपस्वी का तपस्या के द्वारा एकमात्र पाप की ही निवृत्ति (दूर) होने के कारण वह तपस्या अल्प फलदायक होती है। अतः तपस्यादि के द्वारा जिसकी अल्पफलप्राप्ति ही प्रयोजन रहता है अर्थात् तपस्या के द्वारा प्राजापत्यादि लोक में जो गमन करने के लिए इच्छुक है, इस प्रकार तपस्वी से ज्ञाननिष्ठा के द्वारा जो ब्रह्मवित् पुरुष पुनरावृत्तिरहित विदेहमुक्ति के मार्ग मे जानेवाला है वह अधिक अर्थात् उत्तम है। ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः मतः—वह ज्ञानियों से है अर्थात् मीमांसा आदि शास्त्रार्थ के जाननेवालों से भी अधिक (उत्तम) है, विद्वान पुरुषों का यही मत है। मीमांसकगणों का शास्त्रार्थज्ञान का प्रयोजन है केवल धर्मानुष्ठान करने के और कराने के लिये, अतः उस ज्ञान का फल अल्प होता है। यद्यपि शात्र में कहा गया है—'यस्तु व्याकुरुते वाचं यस्तु मीमांसते गिरम्। तावुभौ पुण्यकर्माणौ पंक्तिपावनपावनौ'॥ (जो वेद वाणी को प्रकट करता है तथा जो उस वाणी का विचार अर्थात मीमांसा करता है, वे दोनों ही पुण्यकर्मकारी हैं तथा वे जो पंक्ति को पवित्र करते हैं उनका भी पावनकारी अत्यन्त अर्थात् पवित्र करने वाले होते हैं), इस वचन से यद्यपि उनलोगों में पुण्यकर्मत्व तथा पावकत्व दोनों विद्यमान हैं, तथापि उस कर्म के द्वारा उनलोगों की पुण्यलोक की प्राप्ति तथा (पुण्यलोक का भोग समाप्त होने के बाद) मर्त्यलोक में पुनरावृत्ति ही होती है, इसलिये उनलोगों से पूर्वोक्तलक्षणयुक्त ब्रह्मविद् योगी ही अधिक उत्तम हैं। फिर योगी कर्मिभ्यः च अधिकः—वह योगी कर्मिगणों से अर्थात् अग्निहोत्रादिवैदिककर्मनिष्ठ व्यक्तियों से भी अधिक (उत्तम) है। यद्यपि 'अपाम सोमममृता अभूम' (हमने सोम पान किया हैं, अतः हमलोग अमृत हुए हैं अर्थात् अमृतत्व (अमरत्व) प्राप्त किये हैं), 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' [चातुर्मास्य यज्ञ करने वालों का सुकृत (पुण्य) अक्षय्य (अक्षय) होता है] इत्यादि वाक्यों से श्रुति में कर्मियों का अमृतत्व (अमरत्व) तथा उनके

पुण्य का अक्षय्यत्व (अविनाशित्व) प्रतिपादन किया गया है, तो भी उसमें अग्निष्टोमादि पुण्यकर्म की अपेक्षा अक्षय्यत्व है वह अक्षय्यत्व स्वाभाविक नहीं है उसी प्रकार मर्त्य की (पृथ्वी के मरणशील लोगों की) अपेक्षा अमरत्व (अर्थात् पुनः-पुन मृत्यु का अभाव) कहा गया है, मुक्ति नहीं है अर्थात् वह श्रुतिवाक्य 'अमरतत्व' शब्द से मुक्ति को नहीं समझा रहा है, क्योंकि 'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' (स्वर्ग के पृष्ठ पर अर्थात् स्वर्गलोक में पुण्य का भोग कर इस लोक में अथवा इससे हीनतर लोक में प्रवेश करते हैं) इस प्रकार श्रुतिवाक्य से कर्मियों की पुनरावृत्ति होती है, यह सुना जाता है। अतः कर्मियों से उक्तलक्षणयुक्त योगी अधिक (उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ) है। 'च' शब्द के द्वारा यही सूचित हो रहा है कि उक्त या अनुक्त (कहे गये और न कहे गये) सांख्य, योग आदि के मत में निष्ठावान् सभी व्यक्तियों से ब्रह्मविद् योगी ही अधिक है अर्थात् श्रेष्ठ है यतः ऐसा हैं **तस्मात्**—इसलिये हे अर्जुन! **योगी भव**—हे अर्जुन! यदि मोक्षप्राप्ति करना चाहते हो तो योगी होओ क्योंकि योगनिष्ठा से सम्यग् ज्ञान प्राप्त होकर उस ज्ञान के बल से पुनरावृत्ति रहित विदेह कैवल्य नामक ब्रह्मपद को तुम प्राप्त होओगे।

(३) **नारायणी टीका**—४७ श्लोक की नारायणी टीका देखिए।

[अब युक्ततम योगी का लक्षण बताकर अध्याय का उपसंहार कर रहे हैं।]

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

अन्वय—सर्वेषामपि योगिनां (मध्ये) यः श्रद्धावान् (सन्) मद्गतेन अन्तरात्मना मां भजते सः (योगी) मे युक्ततमः मतः।

अनुवाद—समस्त योगियों में भी जो योगी मद्गत चित्त होकर श्रद्धा के साथ अन्तरात्मा से निरन्तर मेरी भजना करता है, वह योगी युक्ततम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है, यही मेरा मत है।

भाष्यदीपिका—**सर्वेषामपि योगिनाम्**—रुद्र अथवा आदित्यादि देवों के ध्यान में लगे हुए समस्त योगियों में भी। [योगियों में से कोई कोई पृथक् पृथक् देवताओं की मूर्ति का अवलम्बन कर ध्यानाभ्यास द्वारा चित्त को स्थिर करने के लिये प्रयत्न करते हैं, फिर कोई कोई शून्य का ध्यान करते हैं, फिर

कोई कोई चित्त को स्थिर करने के लिये दूसरी किसी वस्तु का अवलम्बन करते हैं परन्तु इन सभी योगी पुरुषों में यः श्रद्धावान् सन्—जो योगी श्रद्धायुक्त होकर। [श्रद्धा शब्द का अर्थ है श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि में परमेश्वर के सम्बन्ध में 'परम कारुणिकत्व' 'प्रणत पालकत्व' इत्यादि जो कुछ भी कहा गया है उसके विपरीत भावना का त्याग कर (अर्थात् उन सब वाक्यों में कोई संशय न रखकर) उन सब वाक्यों के अर्थानुकूल बुद्धिवृत्ति-विशेष से युक्त होना।] मद्गतेन अन्तरात्मना मां भजते—मुझमें (वासुदेव पदवाच्य परमेश्वर में) अन्तरात्मा को (अन्तःकरण को) समाहित कर अर्थात् मुझमें चित्त को लय कर मुझे ही भजता है अर्थात् निरन्तर स्मरण करता है। युक्त तथा युक्ततर योगी शुद्ध चैतन्य स्वरूप में चित्त को समाहित करता है, परन्तु जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमेश्वर हैं, वे ही सगुण है और वे निर्गुण भी हैं, एक ओर वे 'अस्पर्शमरूपमगन्धम्' इत्यादि हैं, दूसरी ओर वे सर्वकाम, सर्वरस, सर्वगन्ध भी हैं,—स्वरूप में वे निष्क्रिय हैं (निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनं—श्वे० उ० ६।१९) और माया से मुक्त होकर वे ही समस्त जगत् का प्रशासिता हैं क्योंकि उन्हीं के भय से सभी जीव अपने-अपने कर्मों में नियुक्त रहकर कार्य कर रहे हैं। "भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च ॥ मृत्युर्धावति पंचमः" ॥ अर्थात् इनके भय से वायु प्रवाहित हो रही है, इनके भय से सूर्य नियम से उदित होता है, इनके भय से अग्नि तथा इन्द्र अपना-अपना कर्म कर रहे हैं तथा मृत्यु धावित हो रही है (तैत्तिरीय उपनिषत् ब्रह्मवल्ली, अनुवाक ८), वे साक्षी,चेता, केवल तथा निर्गुण हैं (श्वे० उ०) फिर वे ही सृष्टि स्थिति प्रलय के कारण भी हैं—वे ही सभी रूप से प्रतीत हो रहे हैं (सर्वस्वरूप हैं), वे सभी जीव के अन्तर्यामी के रूप से सभी को कार्यों में प्रेरणा दे रहे हैं (सर्वेश्वर हैं), वे सभी शक्ति के आधार हैं (सर्वशक्तिमान हैं), ऐसी बुद्धियुक्त (युक्त तथा युक्ततर योगी) नहीं होते हैं। किन्तु जो योगी इस प्रकार परमेश्वर के स्वरूप का निर्णय कर उन्हीं में चित्त को समाहित कर अपनी सत्ता को भी (यानी अपने को भी) परमेश्वर में लीन कर देता है, वह ही मद्गत अन्तरात्मा से (मुझ वासुदेव में निरन्तर स्थित हुए अन्तः करण से) मुझे ही सर्व प्रकार से भजता है। स मे युक्ततमः मतः—इस प्रकार योगी ही समस्त योगी पुरुषों में अतिशय 'युक्त' (युक्ततम) है—ऐसा मेरा (सर्वज्ञ वासुदेव का) मत है अर्थात् ऐसे योगी को मैं अतिशय श्रेष्ठ योगी मानता हूँ।

टिप्पणी—(१) मधुसूदन सरस्वती मद्गतेनान्तरात्मना—योगियों में अर्थात् वसु, रुद्र और आदित्यादि क्षुद्र देवताओं के समस्त भक्तों में भी जो पुण्य के विशेष परिपाक के कारण मुझमें (भगवान् वासुदेव में) गत अर्थात् प्रीतिवश निविष्ट (लगे हुए) अन्तरात्मा अर्थात् अन्तःकरण (चित्त) के द्वारा श्रद्धावान्—पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता तथा साधु संग के कारण मेरी ही उपासना में (भजन में) श्रद्धावान् होकर अर्थात् मेरे प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखकर मां भजते—मुझे अर्थात् ईश्वर नारायणस्वरूप मुझे 'यह (वासुदेव) मनुष्य है, यह ईश्वर से पृथक् साधारण व्यक्ति है' इस प्रकार के भ्रम को त्याग कर सगुण या निर्गुण मुझ नारायण का ही भजन (सेवा) करता है अर्थात् सदा (निरन्तर) मेरा ही चिन्तन (ध्यान) करता है, वह मेरा भक्त योगी ही युक्ततमः मतः—समस्त योगयुक्त (समाहित चित्त) यतियों में श्रेष्ठ है, यही मेरा (सर्वज्ञ परमेश्वर का) मत है अर्थात् निश्चय है। तात्पर्य यह है कि योगाभ्यास करने में क्लेश तथा भगवद् भजन में क्लेश (श्रम) समान होने पर भी मेरा भक्त मेरी भक्ति से रहित योगी की अपेक्षा श्रेष्ठ है इसलिये हे अर्जुन ! तुम मेरे (परमेश्वर के) परम भक्त हो, अतः तुम भी अनायास ही युक्ततम योगी हो सकते हो।

इस प्रकार इस षष्ठाध्याय में भगवान् (क) कर्मयोग चित्तशुद्धि में परिसमाप्त होता है यह कहकर (ख) चित्तशुद्धि प्राप्त कर जो संन्यास ग्रहण किया है अर्थात् समस्त कर्मों का त्याग किया है उसके लिये अंगसहित योगाभ्यास का विवरण करते हुए तथा (ग) अर्जुन की शंका दूर कर मन को निग्रह करने का उपाय का उपदेश करते हुए तथा (घ) योगभ्रष्ट की पुरुषार्थ शून्यता सम्बन्धी [अर्थात् योगभ्रष्ट पुरुषार्थ से (मोक्ष) से वंचित होता है कि नहीं, इस प्रकार को] शंका को शिथिल (दूर) करते हुए श्री भगवान् ने कर्मकाण्ड एवं त्वम् पदार्थ के निरूपण की समाप्ति की है। इसके बाद 'श्रद्धावान् भजते यो माम्' इस वाक्य से सूत्र रूप से कहे हुए भक्तियोग का तथा तत् पदके अर्थ का अर्थात् भजनोय (उपास्य) भगवान् वासुदेव के स्वरूप का निरूपण करने के लिये परवर्ती छ अध्यायों का आरम्भ किया जा रहा है।

(२) श्रीधर—[यम-नियम आदि के परायण योगिओं में मेरा भक्त ही श्रेष्ठ है, यह अब कह रहे हैं—]

योगिनाम् अपि—समस्त योगियों में भी मद्गतेन—मुझमें (परमेश्वर में) आसक्त अन्तरात्मना—अन्तरात्मा से अर्थात् मन के द्वारा यः मां—जो

मुझे अर्थात् परमेश्वर वासुदेव को श्रद्धावान् भजते—श्रद्धायुक्त होकर भजन (सेवा) करता है सः युक्ततमः मे मतः— वह समस्त योगियों में श्रेष्ठ है, यह मेरा मत है। अतः तुम मेरे भक्त होओ, यही कहने का अभिप्राय है।

आत्मयोगमवोचद् यो भक्तियोगशिरोमणिम्।
तं वन्दे परमानन्दं माधवं भक्तशेवधिम्॥

[भक्तियोग के शिरोमणि आत्मयोग का जिन्होंने वर्णन किया, उन भक्त निधि (भक्तजनों का श्रेष्ठ धन) परमानन्दस्वरूप माधव की मैं वन्दना करता हूँ।]

(३) शंकरानन्द—विदेहमुक्ति का असाधारण कारण है सम्यग् ज्ञान वह सम्यग् ज्ञान समाधि निष्ठा से प्राप्त होता है अतः समाधिनिष्ठा में स्थित योगी परम पुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त करने में समर्थ होता है, इसलिये तापसादि (तपस्वी आदि) की अपेक्षा उसकी अधिकता (श्रेष्ठता) प्रतिपादन करके अब सदा समाधि के अनुष्ठान के विना करोड़ों बार (वेदान्तादि) का श्रवण कर अथवा श्रवण करवा कर भी सम्यग् ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है तथा उस सम्यग् ज्ञान के विना विदेहमुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती है, अतः मुमुक्षु को समाधि अवश्य कर्तव्य है यह कहने के लिए समाधिश्रम से वहिर्भूत (भिन्न) अर्थात् देश, काल, मूलबन्ध, आसन, नियमादि श्रम से रहित जो समाधि है वह समाधि ही मुमुक्षु का कर्तव्य है, यह सूचित करने के लिए उस समाधि में निष्ठा वाले पुरुषों की स्तुति (प्रशंसा) श्री भगवान् कर रहे हैं—

यः श्रद्धावान्—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (ये सब अवश्य ब्रह्म ही है), 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' (ये सभी ब्रह्म है), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (ब्रह्म ही ये सब है) इत्यादि सैकड़ों श्रुति वाक्यों के द्वारा तथा 'सोऽहं च त्वं स च सर्वमेतत्' (ये सब, मैं और तुम वही हैं अर्थात् ब्रह्म ही है),'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः (सर्वभूत विष्णु ही है, समस्त भुवन यानी समस्त जगत् विष्णु ही है), 'वासुदेवः सर्वम्' (सब कुछ वासुदेव ही है) इत्यादि हजारों स्मृति वाक्यों के द्वारा तथा 'ये सब ब्रह्म ही है क्योंकि ये सभी ब्रह्म का ही विवर्त हैं जैसे मरुभूमि का जल,' इत्यादि करोड़ों युक्तियों के द्वारा निर्धारित हुआ है कि सब कुछ ब्रह्म-मात्र ही है। विपरीत भावना से रहित होकर उक्त अर्थ में अर्थात् सर्व वस्तुओं के ब्रह्ममात्रत्व में अनुवृत्त (स्थित) बुद्धिवृत्तिविशेष का नाम श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा से अर्थात् उक्त बुद्धिवृत्तिविशेष से जो युक्त है वह श्रद्धावान् है। 'सभी वस्तु ब्रह्ममात्र ही है' इस प्रकार श्रद्धावान् होकर जो मुमुक्षु यति मद्गतेनान्तरात्मना—श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट (छूआ हुआ) मत (माना हुआ)

विज्ञात (जाना हुआ) सब ब्रह्म ही है इस प्रकार विपरीत (अनात्म) प्रत्यय से रहित होकर पूर्वोक्त श्रुति-स्मृति युक्तियों के द्वारा निर्धारित मुक्त सच्चिदानन्दैकरस अद्वितीय परब्रह्म में गत (लीन) अर्थात् बाहर तथा भीतर सर्वत्र मेरी ही सत्ता को अनुवर्तन करता हुआ (अर्थात् मुझे ही स्मरण करता हुआ) अन्तरात्मा (चित्त) के द्वारा मां भजते—उक्त लक्षणों से युक्त मुझे भजता है अर्थात् 'ये सब तथा मैं ब्रह्म ही हूँ', इस प्रकार अपने को तथा समस्त जगत् को ब्रह्म ही देखता है। (आहार, विहार, शयन तथा उपवेशन आदि में तथा अन्य सभी अवस्थाओं में ही ब्रह्माकारावृत्ति के अतिरिक्त दूसरी वृत्ति से रहित होकर सदा मुक्त परमात्मा को ही अपनी आत्मा के रूप से जो अनुसंधान करता है अर्थात् दर्शन करता है) सः सर्वेषां योगिनाम् अपि युक्ततमः (इति) मे मतः—विराट्, हिरण्यगर्भ ईश्वरादि के सभी उपासकों से वही युक्ततम (उत्तम योगी) है क्योंकि विराट् आदि के उपासक योगिगण अविद्या के द्वारा (अविद्यारूप आवरण के द्वारा) व्यवहित दृष्टि यानी भेदबुद्धि सम्पन्न हुआ करते हैं अर्थात् उपास्य तथा उपासकों में भेददृष्टि रखकर विराट् आदि की उपासना करते हैं। परन्तु उक्त प्रकार ब्रह्मविद् यति तो श्रवणादि से उत्पन्न हुए ज्ञानरूप अग्नि से द्वैत भ्रम रूप आवरण को दग्ध कर (अज्ञान से मुक्त होकर) वह अपने को तथा समस्त जगत् को ब्रह्ममात्र ही दर्शन करता है। इसलिये ऐसा योगी युक्ततम अर्थात् श्रेष्ठ योगी है यह मेरा (ईश्वर का) मत (अभिमत) है। [यहाँ 'सर्वेषां योगिनाम्' इस पद का पञ्चमी अर्थ में षष्ठी का प्रयोग हुआ है अर्थात् 'समस्त योगियों से' इस अर्थ में प्रयोग हुआ है।] श्री भगवान् समझा रहे हैं कि जो ब्रह्मविद् है उसे सदा ब्रह्मनिष्ठा से ही स्थित रहना चाहिये अर्थात् सदा (निरन्तर) ब्रह्मनिष्ठा से ही निश्चल रहना चाहिये। पुनः यह भी सूचित किया जा रहा है कि प्रत्यग् दृष्टि के द्वारा (आत्मा के साक्षात् दर्शन द्वारा) दूसरी सर्व प्रकार की वृत्ति से रहित होकर सभी वस्तुओं में ब्रह्ममात्रत्व दर्शन ही सुखकर (अनायास साध्य—सुखकर) समाधि है।

(४) **नारायणी टीका**—शास्त्र में किसी अध्याय का प्रकृत तात्पर्य निर्णय करने के लिये छ विषयों का ध्यान रखना चाहिये—"उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्तिश्च षट् च तात्पर्यनिर्णये ॥" अर्थात् (क) उपक्रम (किसी विषय का आरंभ), (ख) उपसंहार (उस विषय की समाप्ति), (ग) अभ्यास (उस विषय की पुनः पुनः आवृत्ति),

(घ) अपूर्वताफल (उस विषय का कोई अलौकिक फल), (ङ) अर्थवाद (उस विषय की प्रशंसा), (च) उपपत्ति (उस विषय की सार्थकता के सम्बन्ध में युक्ति)—ये छ यदि एक ही विषय का अवलम्बन करते हैं तो समझना होगा कि अध्याय के प्रत्येक श्लोक में वही प्रतिपादन करने के लिये कहा गया है। उपसंहारमें (अन्तिम श्लोक में) साधारणतया प्रतिपाद्य विषय का सर्व-श्रेष्ठ तत्त्व कहा जाता है। अतः वर्त्तमान श्लोक का (४७वें श्लोक का) प्रकृत अर्थ समझने के लिये सम्पूर्ण (षष्ठ) अध्याय में जो-जो कहा गया है उसके सारांश के प्रति ध्यान रखना होगा।

षष्ठाध्याय का सारसंग्रह

साधारणतया संन्यास शब्द का अर्थ है सम् (सम्यक् रूप से यानी सम्पूर्ण रूप से) न्यास (त्याग) तथा योग शब्द का अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध अथवा चित्त की संकल्परहित अवस्था। इसलिये यदि कोई गृहस्थ कर्मफल की वासनाओं का त्याग कर ईश्वरार्पण बुद्धि से अपने आश्रमविहित कर्तव्य कर्म करे तो कर्मफल की कामनाओं का त्याग करने के कारण वह संन्यासी तथा उस कामना से जिस संकल्प का उदय होता है वह न रहने के कारण (अर्थात् कर्मफल के लिये कोई संकल्प उसके चित्त में नहीं रहने के कारण) वह गौणरूप से योगी भी कहा जा सकता है। संकल्प ही चित्त के विक्षेप का कारण है—संकल्परहित होने से ही चित्त चंचलतारहित होकर वृत्तिशून्य होता है। कर्मफल की वासनाओं (कामनाओं) का त्याग करने से निष्काम कर्मों का चित्त संकल्परहित होकर निश्चलता को प्राप्त होता है, अतः उसे योगी कहा जाता है। इसलिये संन्यास (संकल्प का त्याग) तथा योग (चित्त की स्थिरता) एक ही हैं। सामान्यरूप से कर्मयोग के साथ संन्यास तथा योग की इस प्रकार समानता (सादृश्य) रहने के कारण श्री भगवान् ने निष्काम कर्मों की स्तुति या प्रशंसा करने के लिये उन्हें गौणरूप से संन्यासी तथा योगी कहा—पारमार्थिक संन्यास को या समाधि-योग को तिरस्कार करने के लिये नहीं (गीता ६।१-२)। यथार्थ रूप से निष्काम कर्मों के द्वारा चित्तशुद्धि होती है तथा चित्तशुद्धि के पश्चात् प्रकृत संन्यास या योगाभ्यास का आरम्भ होता है। जब तक मुख्य (पारमार्थिक) संन्यास (सर्व कर्मों का त्याग, कर्मफलत्याग तथा कर्तृत्वाभिमान-त्यागरूप संन्यास) एवं समाधि-योग (सर्व संकल्पशून्य तथा सर्ववृत्तिशून्य होकर निर्विकल्प समाधि-योग) प्राप्त न हो तब तक आत्मसाक्षात्कार के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति न होने के कारण सर्वदुःखनिवृत्तिरूप तथा परमानन्द-

प्राप्तिरूप मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसलिये योगी दो प्रकार के होते हैं (१)—आरुरुक्षुः—जो निर्विकल्प समाधियोग में आरोहण करने के लिए इच्छुक हैं। ईश्वरार्पण बुद्धि से फलकामना-रहित होकर अपने-अपने आश्रमविहित कर्मों का अनुष्ठान करना ही आरुरुक्षु योगी का साधन है। वैसे कर्मों के द्वारा चित्तशुद्धि होने पर ध्यान के अभ्यास से चित्त स्थिर होता है। ध्यान परिपक्व होने से अन्त में योगारूढ़ की अवस्था प्राप्त होती है। (२)—योगारूढ़—निर्विकल्प समाधि के द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर निरन्तर आत्मा में स्थित रहने से जब इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों से तथा सर्व कर्मों से उपरत होती हैं एवं मन सर्व संकल्परहित होकर आत्मा में ही रमण करता है तब उसी अवस्था को योगारूढ़ावस्था कहा जाता है (गीता ६।३-४)। 'योगारूढ़' और 'युक्त' पर्यायवाचक (एकार्थबोधक) शब्द हैं। गीता में योगारूढ़ अवस्था के तीन प्रकार के भेद बताये गये हैं—(क) युक्त (ख) युक्ततर और (ग) युक्ततम।

(क) युक्त योगी—विषयों की वासनाओं से मन चञ्चल तथा विक्षिप्त रहने से योगारूढ़ होना सम्भव नहीं है। विवेक-विचारशील शुद्ध मन के द्वारा ही (क) विषयों का मिथ्यात्व निश्चय कर एवं (ख) सदा साक्षीरूप से स्थित चिदानन्दात्मा का सत्यत्व निश्चय कर विषयासक्त मन को शास्त्रविहित उपायों से दमन (संयत) कर आत्मा में विलीन अर्थात् आत्मसंस्थ किया जा सकता है। इसलिये विशुद्ध तथा संयत मन प्रत्येक जीव का मित्र (मोक्ष का हेतु) है एवं अविशुद्ध तथा असंयत (विषयवासनाओं में आसक्त) मन जीव का महाशत्रु (बन्धन का कारण) है (गीता ६।५-६)। जो साधक वाक्य, मन तथा शरीर को अपने वश में लाया है वही जितात्मा है। ऐसा जितात्मा पुरुष शीत, उष्ण, सुख दुःख, मान अपमान, प्राप्त होने पर भी सभी अवस्थाओं में उसकी समदृष्टि रहने के कारण प्रशान्त (प्रकृष्ट रूप से शान्त अर्थात् अविचलित) रहता है। ऐसे व्यक्ति के हृदय में ही प्रत्यगात्मा अपने निश्चल, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द ब्रह्म के रूप से प्रकट होता है (गीता ६।७)। तब (१) वह योगी ज्ञान (शास्त्रों में परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैसा कहा गया है उसका ज्ञान) एवं विज्ञान (अपरोक्षानुभूति-आत्मसाक्षात्कार) के द्वारा परिपूर्ण रूप से तृप्तिलाभ करता है, (२) सभी इन्द्रियाँ उसकी वशीभूत रहती हैं, (३) विषयों के मध्य में रहते हुए भी वह कूटस्थ (अर्थात् किसी प्रकार विचलित न होकर आत्मा में निश्चल) रहता है, एवं (४) विषयों

के मिथ्यात्व ज्ञान से हेयोपादेय-बुद्धिशून्य अर्थात् यह ग्राह्य है और यह त्याज्य है इस प्रकार की भेदबुद्धि शून्य होने के कारण जब मिट्टी का टुकड़ा तथा सुवर्ण (सोना) में समान दृष्टि होती है; तब उसे "युक्त" (अर्थात् समाहित या योगारूढ़) कहा जाता है। (गीता (६।८) ।

योगी कब युक्ततर होता है ?—जगत् की सभी वस्तुओं का स्वरूप परमात्मा या ब्रह्म है। इसलिए प्रत्येक वस्तु से यदि मिथ्या नाम, रूप और क्रिया दूर किया जाय तो अस्ति-भाति-प्रियरूप अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही प्रत्येक वस्तु में अवशेष रहता है। 'युक्त' योगी निर्विकल्प समाधि द्वारा उस सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को अपने आत्मरूप से साक्षात्कार करता है तब सभी दृश्य वस्तुओं का स्वप्न दृश्यों के समान मिथ्यात्व का निश्चय होता है एवं उनकी अधिष्ठान सत्ता आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है ऐसा अपरोक्ष ज्ञान होता है। इसलिये उनकी सभी व्यवहारों में भी समदृष्टि या ब्रह्मानुभूति रहती है। वेदान्त शास्त्र में इसे "बाध" समाधि कहा जाता है। 'युक्त' अवस्था परिपक्क होने से जब चैतन्य-स्वरूप आत्मा से अतिरिक्त किसी वस्तु की प्रतीति नहीं होती है अर्थात् चित्त सम्पूर्णरूप से रागद्वेषरहित होने के कारण सुहृद्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य (अप्रिय) मित्र, (प्रिय), साधु (पुण्यवान्) और पापी इत्यादि में तथा अन्यत्र भी आत्मस्वरूप समब्रह्म का ही दर्शन होता है, अतः उस अवस्था में द्वैतज्ञान न रहने के कारण सर्वत्र एवं सदा समबुद्धि (समदृष्टि) रहती है, तो ऐसे योगी को 'विशिष्ट' योगी अथवा 'युक्ततर' योगी कहा जाता है। (गीता ६।९) ।

"युक्त" अवस्था प्राप्त करने के उपाय—'युक्त' योगी होने के उपाय श्री भगवान ने १०-१७ श्लोकों में विस्तृत रूप से वर्णन किया है अर्थात् शुद्ध, उपद्रवहीन देश, कोमल आसन, ऋजु देह, प्रशान्त चित्त, युक्ताहार-विहार-निद्रा—योगसिद्धि के लिये अत्यन्त आवश्यक है ऐसा अर्जुन को उपदेश किया। फिर चतुर्थ श्लोक में योगारूढ़ का तथा अष्टम (८वे) श्लोक में "युक्त" का जो-जो लक्षण बतलाया उनका सारांश फिर १८ और १९ श्लोकों में उल्लेख किया जिससे कि अर्जुन इसे भूल न सके (गीता ६।१८-१९) ।

'युक्त' की अवस्था बतलाकर यथार्थ 'योग' क्या है वह २०-२३ श्लोकों में वर्णन किया। जिस परमात्मा में चित्त निश्चल होने से अत्यन्त आनन्द (परमानन्द) प्राप्त होता है, जिसके अतिरिक्त और कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं रहती है, तथा जहाँ स्थितिलाभ करने से संसाररूप दुःखों के संयोग का

आत्यन्तिक वियोग (निवृत्ति) होता है उस सच्चिदानन्दघन के साथ जीवात्मा का एकत्व अनुभव ही "योग"है, ऐसा कहा गया (गीता ६।२०-२३)।

समाधि के द्वारा ही जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व का साक्षात्कार होता है। समाधि दो प्रकार की है—(क) सम्प्रज्ञात (सविकल्प) समाधि; (ख) असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधि। युक्त (योगारूढ़) अवस्था में माया से उत्पन्न हुई सभी बाह्य वस्तुओं की प्रतोति रहती है किन्तु परवैराग्य के कारण किसी वस्तु में स्पृहा (आसक्ति) नहीं रहती है (निस्पृहः सर्वकामेभ्यः—गीता—६।१८)। चित्त सर्वविकल्पशून्य होने से सर्व वस्तुओं की प्रतीति भी नहीं हो सकती है, अतः "युक्त" अवस्था सविकल्प समाधि से ही प्राप्त होती है।

(ख) युक्ततर योगी होने का उपाय—२४ और २५ वे श्लोक में "युक्ततर" योगी होने के लिये किस क्रम का अनुसरण करना होगा वह कहा गया है। निर्विकल्प समाधि में 'सर्व' (अनेक) का अस्तित्व नहीं रहता है—साधु-चोर इत्यादि, सभी कुछ एक चैतन्यस्वरूप में ही परिणित होते हैं जैसा कि हार, कंगन इत्यादि सोने के अलंकार (गहने) आग में जलने पर सब सोना ही हो जाते हैं। सभी चिन्ता तथा कल्पनाओं से शून्य होकर 'युक्ततर योगी का' मन आत्मा में ही लीन (एकत्व प्राप्त) होता है अर्थात् मन आत्मसंस्थ होता है। जिस प्रकार सुषुप्ति में द्रष्टा-दृश्य-दर्शन का भेदज्ञान नही रहता है उसी प्रकार निर्विकल्प समाधि में ध्यातृ-ध्यान-ध्येय, ये सब एक हो जाते हैं—उस समय केवल अखंडैकरस चैतन्यस्वरूप आत्मा ही प्रकट रहती है। यही "युक्ततर" योगी की विशेष अवस्था है [कहने का अभिप्राय यह है कि—युक्त योगी का प्रारब्ध-संस्कार के कारण मन चञ्चल होने से समाधि का भंग होता है। इसलिये मन को सदा आत्मा में निश्चल रखने के लिये उसका अभ्यास करना पड़ता है। इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास के द्वारा रजोगुण को शान्त कर समस्त पापों से मुक्त होकर वह आत्मा के स्वरूपगत उत्तम सुख (ब्रह्मानन्द) को प्राप्त होता है। (गीता ६।२६-२८)। समाधि से आत्मानन्द (ब्रह्मानन्द) अनुभव करने के बाद योगी के सभी भ्रम मिट जाते हैं—एक विज्ञानस्वरूप आत्मा ही (नित्य विज्ञाता या दृष्टस्वरूप आत्मा ही) सत्यवस्तु है और जो कुछ प्रतीत होता है वह सभी आत्मा अज्ञान के द्वारा कल्पित है — ऐस साक्षात् अनुभव योगी का होता रहता है।आत्मा को भूल कर ही लोगं अविद्या से जगत् प्रपंच को देखते हैं, अतः 'सभी वस्तु

आत्मा ही है तथा आत्मा ही सभी वस्तु है' इस प्रकार साक्षात् अनुभूति प्राप्त कर योगी सर्वत्र समदृष्टि प्राप्त करने से आत्मा से वह कभी च्युत नहीं होता है एवं आत्मा भी कभी उससे अदृश्य नहीं होती हैं।] इस प्रकार स्थित योगी को 'युक्ततर' योगी अर्थात् 'विशिष्ट' योगी कहा जाता है। आत्मा से अभिन्न रहने के कारण वह किसी प्रकार पाप और पुण्य कर्मों के द्वारा लिप्त नहीं होता हैं। अतः व्युत्थानावस्था में उसके लौकिक व्यवहारादि होने पर भी वह "बाधितानुवृत्या" (सर्वत्र मिथ्यात्व बुद्धि के द्वारा) कर्म करने के कारण सदा आत्मा में ही स्थित रहता है (गीता ६।२९-३१)। ऐसा युक्ततर योगी जो अपने लिये प्रतिकूल है (दुःखदायक है) वैसा दूसरे के लिये नहीं करता है और जो अपने लिए अनुकूल है (सुखकर) है, वही दूसरे के लिये करता है अर्थात् वह (युक्ततर योगी) शरीर, मन तथा वाणी के द्वारा किसी को पीड़ा (दुःख) नहीं देता है परन्तु सर्वभूत का हित करता है। वह केवल सर्वभूत में समदर्शन ही नहीं करता है, व्यावहारिक कर्म करने के समय भी सर्वत्र एक आत्मा को ही देखता है। इस कारण से वह परम (श्रेष्ठ) योगी है। युक्ततर योगी की यह और भी एक विशेष अवस्था है (गीता ६।३२)। "युक्त" और "युक्ततर" योगी होने के लिये मन की स्थिरता (निश्चलता) आवश्यक है। परन्तु इस विषय में दो संशयों का उदय होता है—

(१) मन अत्यन्त चञ्चल है। जिस प्रकार प्रतिकूल वायु का निरोध करना (रोकना) दुष्कर है उसी प्रकार मन का निग्रह करना भी अत्यन्त दुष्कर है, अतः मन को सदा आत्मा में स्थिर रखकर समत्वदर्शनरूप योग में प्रतिष्ठित होना कठिन है। अर्जुन के मन का इस प्रकार संशय की निवृत्ति करने के लिये श्री भगवान् ने कहा कि यह कठिन होने पर भी असम्भव नहीं है क्योंकि अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा मन को वशीभूत कर इस प्रकार समत्व दर्शन-रूप योगलाभ करने में मुमुक्षु समर्थ होता है (गीता ६।३३-३६)।

(२) चित्त की वृत्तियों का सम्पूर्णरूप से निरोध कर समाधि के द्वारा आत्मस्थिति प्राप्त करने के लिये सब कर्मों को त्याग कर (अर्थात् पूर्ण वैराग्य के साथ) पुनः पुनः अभ्यास करना आवश्यक है—यह कहा गया है। यदि किसी प्रतिबन्धक के (विघ्नों के) के कारण मुमुक्षु योग में सिद्धिलाभ न करके ही देह को त्याग दे यानी मृत्यु प्राप्त को हो तो एक ओर ज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) तथा आत्मस्थिति प्राप्त न होने के कारण वह जन्म-मरणरहित मोक्षावस्था को प्राप्त नहीं होता है एवं दूसरी ओर शास्त्रविहित सर्व कर्मों का त्याग करने के कारण

कर्मों के फल स्वर्गादि लोक की प्राप्ति भी उन्हें नहीं होती है। अतः वह क्या उभयविभ्रष्ट नहीं हो जाता है ? (गीता ६।३७-३९)। अर्जुन के इस संशय के उत्तर में श्री भगवान् ने कहा—नहीं, जो भगवत् प्राप्ति के लिये (आत्मस्थिति के लिये) संन्यासाश्रम ग्रहण कर शास्त्रविहित उपायों से परम कल्याण (मोक्ष) के लिये प्रयत्न करता है उसे इहलोक या परलोक में विनाश की प्राप्ति की कभी कोई आशंका नहीं रहती है। यदि पूर्वजन्म में मुमुक्षु अवस्था में प्रबल (तीव्र) संस्कार के प्रभाव से भोगवासनाओं की प्रबलता के कारण उसकी योगसिद्धि न हो सकी तो वह ब्रह्मलोकादि में अनेक वर्षों तक सुखभोग कर बाद में इहलोक में शुद्ध (पवित्र) तथा धनी व्यक्तियों के वंश में जन्म लेता है और यदि पूर्वजन्म में पूर्ण वैराग्यवान् होने पर भी अल्पायु (आयु की अल्पता) के कारण योगसिद्धि न हुई तो वह मृत्यु के बाद ही ज्ञानवान् (ब्रह्मविद्) योगियों के कुल में जन्मग्रहण करता है, यद्यपि ऐसा जन्म होना अत्यन्त दुर्लभ है (गीता ६।३९-४२)। दोनों प्रकार योगभ्रष्ट ही पूर्व देह के अभ्यस्त बुद्धि के साथ (साधन संस्कार के साथ) संयोग प्राप्त कर पुनः साधन की उच्चभूमि की प्राप्ति के लिये अधिक प्रयत्न करते हैं किन्तु जो पूर्वजन्म में विषयभोग वासनाओं से रहित होकर (पूर्ण वैराग्य से) योगाभ्यास कर रहे थे वे इस जन्म में पूर्वजन्म के योगाभ्यास के संस्कार द्वारा बलपूर्वक योग के प्रति आकृष्ट होते हैं। यद्यपि पूर्वजन्म में वे केवल जिज्ञासु ही थे तथापि वर्तमान जन्म में पूर्व-संस्कार की तीव्रता से वे स्वतः ही वैदिक कर्मकाण्ड का अतिक्रमण कर ज्ञानमार्ग के अधिकारी होते हैं अर्थात् श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं (गीता ६।४३-४४)। इस प्रकार पूर्वकृत प्रयत्न से भी अधिकतर प्रयत्न कर अनेक जन्मों के साधन के परिपाक के फलस्वरूप चरम (अन्तिम) जन्म प्राप्त कर ज्ञान के प्रतिबन्धकरूप समस्त पापों से मुक्त होकर योगी परम गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। अतः जिस योगी ने निर्विकल्प समाधि से ब्रह्म और आत्मा का एकत्व साक्षात्कार किया है वह ही 'युक्ततर' योगी है क्योंकि वह तपस्वी, कर्मी (क्रियाकांडी) तथा शास्त्रज्ञानी से भी श्रेष्ठ है (गीता ६।४५-४६)।

अतः पूर्वोक्त योगारूढ़ अवस्था की (अर्थात् "युक्त और युक्ततर" अवस्था की) प्राप्ति के लिये प्रत्येक आत्मकल्याणकामी (मोक्षकामी) पुरुष को प्रयत्न करना चाहिए। एक ही जन्म में यदि वैसी योगसिद्धि प्राप्त न भी हो तो भी प्रबल प्रयत्न के द्वारा दूसरे जन्म में अथवा दो चार जन्मों के बाद उसे

मोक्षलाभ अवश्य ही होगा श्री भगवान् अर्जुन को (तथा सभी जीवों को) ऐसा आश्वासन दे रहे हैं। यही षष्ठाध्याय का सारसंग्रह है। उपर्युक्त सारसंग्रह से अनायास यह स्पष्ट होगा कि अध्याय के प्रारम्भ में ही गौण संन्यास तथा योग के सम्बन्ध में कहा गया है—यही उपक्रम है। बीच में बारम्बार मुख्य संन्यासपूर्वक केवल कर्मफल का ही नहीं, परन्तु सर्व कर्मों का भी त्यागपूर्वक योग के लिये (अर्थात् निर्विकल्प समाधि से परमात्मा में स्थितिलाभ के लिये) योगी को प्रयत्न करना कर्तव्य है, इस बात की आवृत्ति की गई है, यही अभ्यास है। आत्मा या ब्रह्म के स्वरूपस्थित परमानन्द प्राप्ति ही (अर्थात् जो आनन्द था सुख प्राप्त होने से अत्यन्त दुःख से भी योगी विचलित नहीं होता है तथा संसार में उसकी प्राप्ति करने के योग्य और कोई भी वस्तु रह नहीं जाती है—उस आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति ही) इस योग का अपूर्व (अलौकिक) फल है। ऐसे ब्रह्मविद् योगी लौकिक व्यवहार में कैसा भी आचरण करे कोई पाप या पुण्य उसे स्पर्श नहीं कर सकता है क्योंकि उसकी सदा ही ब्राह्मी स्थिति रहती है—यही ब्रह्मज्ञ योगी की प्रशंसा (अर्थात् अर्थवाद) है। ब्राह्मी स्थिति (आत्मस्थिति) किसलिए आवश्यक है तथा उसे प्राप्त करने का उपाय क्या है वह युक्ति से स्पष्ट किया गया है, इसी को शास्त्र में उपपत्ति कहा जाता है। [योगशास्त्रों में दो प्रकार के योग प्रसिद्ध हैं—(१) अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि) (२) ईश्वरप्रणिधान। इन दोनों से ही मोक्षलाभ होता है। किन्तु अष्टांग योग अधिकतर क्लेशकर है (गीता १२।५) और ईश्वरप्रणिधान सुगम है ('सुसुखम्'—गीता ९।२)। भगवान् ही सब कुछ है (अर्थात् सगुण तथा निर्गुण दोनों ही उनका स्वरूप है) ऐसा निश्चय कर] भगवान् में मन को समर्पण कर श्रद्धापूर्वक सदा भगवान् को (सर्वभूत की आत्मा को) भजन करने वाले योगी को 'युक्ततम' योगी कहा जाता है। इस प्रकार 'युक्ततम' योगी होने पर ही परम पुरुषार्थ (मोक्ष) सुगमता से सिद्ध होता है—यही उपसंहार है।

योगी को 'युक्ततम' कब कहा जाता है ? —ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है ध्यान। इसलिये षष्ठाध्याय को ध्यानयोग कहा जाता है। प्रकृत संन्यास के बिना ध्यान सम्भव नहीं है क्योंकि किसी भी विषय में आसक्ति रहने से चित्त में विक्षेप का कारण रहता है—इसलिये इस अवस्था में ध्यानयोग सम्भव नहीं है। साधन राज्य में संन्यास (सर्व

कर्म त्याग) और योग (परमात्मा के साथ युक्त रहना) तीन प्रकार का होता है :—(१) कर्मफल का त्याग कर सदा ईश्वर में अर्पण की बुद्धि से कर्म कर परमात्मा के साथ संयोग रखा जा सकता है। इसे गौण संन्यास कहा जाता है। यह योगी की साधनावस्था है; (२) केवल कर्मफल का त्याग ही नहीं किन्तु सर्व कर्मों का भी त्याग कर तथा कर्तृत्वाभिमान का भी त्याग कर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करना अर्थात् मन को आत्मसंस्थ कर पुनः कुछ नहीं सोचना, यही मुख्य संन्यासयोग है। योगारूढ़ होने से "युक्त और युक्तर" अवस्था में इस मुख्य संन्यास की परिपूर्ण अवस्था की प्राप्ति होती है; (३) जीव भाव का भी त्याग कर अर्थात् 'जीवोऽहम्' (मैं जीव हूँ) इस भाव का भी सम्पूर्णरूप से त्याग कर "मैं" के स्थान पर 'परम ब्रह्म परमात्मा' को अधिष्ठित करना ही (Perfect manifestation of the Infinite in place of the individual self or ego) सर्वश्रेष्ठ संन्यास-योग है क्योंकि अहंकार को (जीवभाव को) सम्पूर्णरूप से बलिदान न करने से यह योग प्राप्त नहीं किया जा सकता है। जिसने इस प्रकार योग को प्राप्त किया है उसे युक्ततम योगी कहा जाता है (६।४७, १२।२)। गौण संन्यास तथा गौण योग को उपक्रम रूप से बताकर मुख्य संन्यासपूर्वक ध्यानयोग के विषय में अध्याय के अन्त तक विस्तार से कहा गया है। अन्तिम श्लोक में (४७ श्लोक में) सर्वश्रेष्ठ संन्यासी और योगी (अर्थात् 'युक्ततम' योगी) कौन है वह स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त में (उपक्रम, अभ्यास तथा उपसंहार में)षष्ठाध्याय का विषय एक ही है अर्थात् संन्यासपूर्वक ध्यानयोग या निर्विकल्प समाधि द्वारा परमात्मा में स्थिति-लाभ करना तथा बाहर और भीतर सर्वत्र सर्वज्ञ तथा तपस्या के भोक्ता, सर्वलोक का महेश्वर तथा सर्वप्राणियों का सुहृद् (गीता ५।२९) परमात्मा के पूर्ण प्रकाश का अनुभव करके कृतकृत्य होना ही प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है, यही षष्ठाध्याय का प्रतिपाद्य विषय है (और यही पञ्चमाध्याय के अन्तिम श्लोक के साथ इस अध्याय की संगति है)।

[प्रथमाध्याय के अन्त में षष्ठाध्याय का तात्पर्य दिया गया है। फिर भी यहाँ उस अध्याय का सारांश दिया गया, उसका कारण यह है:—(क) इस अध्याय में आत्मस्थिति या ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने का पूर्ण साधनक्रम निर्देश किया गया है। अतः इसके सम्बन्ध में पुनः पुनः आलोचना दोषणीय नहीं है; (ख) योगारूढ़की अवस्थाप्राप्त यतियों में तीन प्रकार का भेद है—युक्त, युक्तर तथा युक्ततम। तृतीय अवस्था (युक्ततम अवस्था) प्राप्त होने से ही

जीवन्मुक्ति का, पूर्णानन्द भोग का सम्भव होता है, इसे स्पष्ट करने के लिये भी षष्ठाध्याय का तात्पर्य यहाँ पुनः दिया गया। जब योगी इन तीनों अवस्थाओं को पार कर अव्यक्त ब्रह्म के साथ एक हो जाता है, निर्विशेष ब्रह्म ही हो जाता है तब कोई विशेषण (अर्थात् युक्त, युक्ततर या युक्ततम, ऐसा कोई विशेषण) उसमें प्रयुक्त नहीं हो सकता (गीता १२।३-४)। वही योग की चरम अवस्था है।]

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

[इति परमहंस परिव्राजकाचार्य गोविन्द भगवत्पूज्यपादशिष्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्येऽभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥]

lonely der

— The Ramayai

AND DIARY

"*Raghu's* son", thus spake the sages, "helper of each holy rite,
Portion of the royal *Indra* fount of justice and of might,
On thy throne or in the forest, king of nations, lord or men,
Grant us to thy kind protection in this hermit's